चाँद-सूरज के बीरन

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ उपन्यासों, प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं तो हमारे विशेष टेलीग्राम चैनल से जुड़ें और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

हमारे चैनल में आपको मिलेगा :

★ अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)
★ प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)
★ धार्मिक ग्रंथ और किताबें
★ विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य
★ बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)
★ और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खज़ाने

साहित्य और ज्ञान की इस अनोखी दुनिया का हिस्सा बनने के लिए

नीचे दिए गए Link पर Click करें !

HINDI BOOKS CHANNEL

(धार्मिक, आज़ादी, इतिहास...उपन्यास से संबंधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नयी, पुरानी किताबों के लिए)

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

https://t.me/Google_Ebooks

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

https://t.me/Hindilibrary

चाँद-सूरज के बीरन

[एक आत्मकथा]

देवेन्द्र सत्यार्थी

प्रवीण प्रकाशन
महरौली, नई दिल्ली-30

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को
'विशाल भारत' में प्रकाशित
अपनी प्रारम्भिक रचनाओं की
स्मृति में

7/2/89
Rs. 75/-
U.P.L.C.

अभी नहीं मैं ले पाया हूँ जन्म !
लेकिन मुझमें भर दो इतनी ताक़त जिससे
मैं विद्रोह कर सकूँ उससे—
जो मेरी मानवता को काले पत्थर में बदल रहा हो,
जो मुझको मशीन का पुर्ज़ा बना रहा हो,
जो मेरा व्यक्तित्व कुचलने को आतुर हो,
जो मेरी पूर्णता धूल में मिला रहा हो,
जो मुझको मुर्दा पत्ते की तरह
वहाँ से यहाँ, यहाँ से वहाँ, उड़ा ले जाना चाहे !
मुझको पूरा मौका दो
अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकूँ,
मैं अपना हक़ अदा कर सकूँ !

—धर्मवीर भारती द्वारा अनूदित लूई मेकनीस की 'अनजनमे शिशु की प्रार्थना' शीर्षक कविता का एक अंश।

प्रेरणा

सन् १९४० की एक साँझ, जब मेरी आयु बत्तीसवें वर्ष की सीमा पार कर चुकी थी। लंका से लौटने के बाद पैर का चक्कर मुझे ट्रेवेंडरम ले गया जहाँ सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर से भेंट हुई। उन्होंने मेरे लोकगीत-सम्बन्धी कार्य से कहीं अधिक इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि मैं पिछले तेरह वर्षों से निरन्तर यात्रा करता आ रहा था और एक खानाबदोश का-सा जीवन मुझे बेहद प्रिय था। उन्हीं के आग्रह से ट्रावनकोर विश्वविद्यालय में मेरे भाषण का प्रबन्ध किया गया; वे स्वयं इस अवसर पर सभापति होंगे, यह निर्णय होते भी देर न लगी।

समय से थोड़ा पहले ही मैं उनके साथ विश्वविद्यालय के अहाते में पहुँचा तो एकाएक श्री अय्यर की मुखमुद्रा पर विषाद के चिह्न दिखाई दिये।

एक वृक्ष पर एक व्यक्ति कुल्हाड़े का प्रहार कर रहा था। श्री अय्यर ने आगे बढ़कर उस व्यक्ति को कुल्हाड़ा चलाने से रोकते हुए कहा, "यह वृक्ष किसकी आज्ञा से काटा जा रहा है?"

उस व्यक्ति ने विश्वविद्यालय के किसी अधिकारी का नाम लिया। श्री अय्यर ने ज़ोर देकर कहा, "यह वृक्ष नहीं कटेगा।"

उस वृक्ष पर कुल्हाड़े का प्रहार रुक गया और यह भी निश्चित हो गया कि उसे कभी नहीं काटा जाएगा। पर श्री अय्यर के मुख पर विषाद की रेखाएँ वैसी-की-वैसी रहीं। मुझे भय था कि कहीं आज भाषण का मज़ा किरकिरा न हो जाए।

निश्चित समय पर हम यूनिवर्सिटी भवन में पहुँचे। भाषण आरम्भ हुआ।

मैंने जी खोलकर अपनी घुमक्कड़ी के चित्रपट पर लोकगीतों को सँवारा-सँजोया। श्री अय्यर ने अपने भाषण में विस्तार से बताया कि किस प्रकार मानव की आवाज़ देश-देश की संस्कृति को एकता के सूत्र में पिरोती रही है। उस समय श्री अय्यर के मुख पर विषाद की कोई रेखा न थी, वे बहुत प्रफुल्लित प्रतीत हो रहे थे। लोकगीतों के सौन्दर्य और कला-तत्त्व की विवेचना उन्होंने बड़ी गम्भीर शैली में प्रस्तुत की।

लौटते समय श्री अय्यर के मुख पर फिर से विषाद की रेखाएँ उभरीं । कुछ क्षणों की खामोशी को चीरते हुए वे बोले, "दो चीज़ें मैं बिलकुल बरदाश्त नहीं कर सकता — एक तो जब किसी वृक्ष को काटा जा रहा हो, दूसरे, जब कोई किसी बालक के व्यक्तित्व पर प्रहार कर रहा हो ।"

मैं उत्तर में कुछ भी तो न बोल सका । श्री अय्यर भी खामोश हो गये । मेरे सम्मुख मेरा अपना बचपन और बचपन की पृष्ठभूमि में मेरा जीवन खुलता चला गया···

सन् १९५२ । नई दिल्ली में आल इण्डिया रेडियो के एक प्रोग्राम एक्ज़ैक्टिव के कमरे में सहसा श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर से भेंट हुई । वे हँसकर बोले, "हम दोनों कमाल के शैलीकार हैं। मैं हूँ कि सब-कुछ उँडेल देता हूँ, कुछ बचाकर नहीं रखता, तुमसे लोगों को यह शिकायत है कि लिखते बहुत हो, कहते कुछ नहीं ?"

इस पर मित्रों ने ज़ोर का क़हक़हा लगाया ।

फिर सहसा प्रभाकर जी ने राय दी, "सब काम छोड़कर अपनी जीवनी लिख डालो, मित्र !"

"मेरी लेखनी के व्यक्तिगत स्पर्श के मारे तो पहले ही मेरे आलोचकों का नाक में दम है !" मैंने हँसकर कहा, "मैं अपनी जीवनी लिखने बैठ गया तो वे और भी चिढ़ जायेंगे ।"

"अजी छोड़ो यह जीवनी-बीवनी का किस्सा !" प्रोग्राम एक्ज़ैक्टिव कह उठा, "चाय ठंडी हो रही है !"

ज़ोर का क़हक़हा ।

"नहीं, नहीं !" प्रभाकर जी बोले, "अपनी जीवनी तो तुम लिख ही डालो ।"

सन् १९५३ की एक साँझ, जब मेरी आयु पैंतालीसवें वर्ष की सीमा पार कर चुकी थी। मेरे मुख से ट्रावनकोर विश्वविद्यालय की उपरोक्त घटना की चर्चा सुनकर सहसा एक मित्र की पत्नी ने राय दी, "अब वक्त है कि आप अपनी जीवनी लिखने बैठ जायें।"

मैं सामने से हँस दिया ।

उस महिला ने कई बार अपना सुझाव दोहराया । मैं सामने से हँस देता । फिर एक दिन मैंने पंजाबी में एक कविता लिखी जिसका शीर्षक था—'मैं अपनी जीवनी लिख रहा हूँ' । उस कविता में मैंने उसी महिला को सम्बोधित किया था।

यह कविता सुनकर भी उस महिला को तसल्ली नहीं हुई। हर बार वह

अपना सुझाव दोहरा देती।

मैंने लाख कहा कि मैं अपनी रचनाओं में ख़्वाह-म-ख़्वाह व्यक्तिगत स्पर्श देने के लिए बहुत बदनाम हूँ। मैंने अपनी कई कहानियों के नाम गिनाये जिनमें मैंने जीवनी का कोई न कोई पन्ना ही खोलकर रख दिया था, कई निबन्धों के नाम लिए जो हू-ब-हू मेरी जीवनी के अध्याय कहलाने की क्षमता रखते थे।

पर वह महिला अपना सुझाव दोहराती रही। विवश होकर मैं अपनी जीवनी के पन्ने लिखने लगा।

१००, बेयर्ड रोड, नई दिल्ली
२५ नवम्बर, १९५३

—देवेन्द्र सत्यार्थी

खोई हुई पहचान

चौंतीस वर्ष पूर्व, सन् १९५३ में, मेरी आत्मकथा 'चाँद-सूरज के बीरन' प्रकाशित हुई थी, जिसमें आरम्भिक उन्नीस वर्षों की गाथा प्रस्तुत की गई थी।

'प्रवीण प्रकाशन' द्वारा उसका दूसरा परिवर्धित संस्करण, इस पुस्तक का दूसरा प्रशस्त पथ है।

सन् १९८४ में मेरी आत्मकथा का दूसरा खण्ड 'नीलयक्षिणी' छपकर पाठकों के रूबरू आया, और अब तीसरा खण्ड 'अमृतयान' छप रहा है। बुनियाद— 'चाँद-सूरज के बीरन'।

आत्मकथा को 'टू इन वन' क्यों न कहा जाए? साहित्य और कला की वस्तु होने के साथ-साथ इसे इतिहास की सौगात अथवा दस्तावेज़ कहना रचना के मूल्यांकन के अनुरूप होगा।

परिवर्द्धन के नाम पर मूल पुस्तक में यह नई प्रस्तावना जोड़ी गई है, या फिर अन्तिका के रूप में गुरुदेव और महात्मा गांधी के आशीर्वाद दिये गये हैं जो मेरे लिए प्रकाश स्तम्भ बने रहे।

अपने अध्ययन-कक्ष में दो खिड़कियों के बीच, आराम कुर्सी पर बैठकर लिखता हूँ। आस-पास किताबों का जंगल मुँह बिचकाता-सा नजर आता है।

रेडियो से आता हुआ संगीत रचना को प्रियंवदा, कल्याणी और स्नेहमयी बनने की प्रेरणा क्यों देता है, यह मैं स्वयं नहीं जानता।

साहिर लुधियानवी कहा करते थे कि दो फरिश्ते हमारा रोज़नामचा लिखते रहते हैं। मुनकिर और नकीर, ये दो फ़रिश्ते आदमी के दाएँ-बाएँ कन्धों पर सवार रहते हैं। एक फरिश्ता शुभ कर्मों की गतिविधि अंकित करता है, दूसरा अशुभ कर्मों की ओर इंगित करता है।

मुनकिर और नकीर के समानान्तर चित्रगुप्त भी तो यही कार्य करता है।

पण्डित हरिचन्द अख़्तर ने अपने चुटीले अन्दाज़ में लिखा था—

रहें दो-दो फ़रिश्ते, तो भला इन्साफ़ क्या होगा
किसी ने कुछ लिखा होगा, किसी ने कुछ लिखा होगा।

"चित्रगुप्त—हमारे मार्ग दर्शक।" आचार्य महाश्वेतम मुस्कराए।

बुलबुल ने कहा बैठ के बुलबुल के बराबर,
मर जाऊँ तो रख देना मुझे गुल के बराबर।

यात्रा ने मुझे अन्वेषक बनाया।

अनेक पात्र मिले। अपने-अपने कथा-सूत्र।

•

अकबर इलाहाबादी अगर सरकारी मुलाज़िम न होते तो उनकी और ही कहानी होती—

अकबर अगर न होता मुदखैला-ए-गवर्मेंट,
उसको भी आप पाते गांधी की गोपियों में।

•

आचार्य महाश्वेतम रचना में संशोधन को 'पंगा' कर डालते, और चेपी-चेपी नई लिखावट वाली पाण्डुलिपि को आत्मविश्वास के अभाव का कलंक कहकर दम लेते। अब मेरा यही निवेदन कि सृष्टि के अनुरूप रचना प्रति पल परिवर्तन-शील साधना की ओर समर्पित रहती है—

ये इश्क नहीं आसाँ, बस इतना समझ लीजे,
इक आग का दरिया है और डूब के जाना है।

•

शब्द भेड़ों के रेवड़ की तरह नहीं होते कि हम जिधर चाहें हाँकें, और वे हँकते चले जाएँ।

अनुभूति : मार्गदर्शक ता ता थैया।

•

शरत् बाबू से किसी ने कहा—

"आपकी रचना तो समझ में आती है, गुरुदेव की नहीं।"

"मैं आपके लिए लिखता हूँ, गुरुदेव मेरे लिए !" शरत बाबू ने चुटकी ली।

•

आस्कर वाइल्ड ने कहा था—

'ए मैन नोज़ दि प्राइस आफ एव्रीथिंग एण्ड वैल्यू आफ नथिंग।'[1]

इक्यानवे के होकर अल्लाह को प्यारे हो गए पक्षी-विशेसज्ञ पद्मश्री सालिमअली।

पिछले साल उनकी आत्मकथा छपी थी—'लेमैंट आफ दि स्पैरो'।

चिड़िया की फ़रियाद।

आत्मकथा के क्षेत्र में अनुपम योगदान।

---

१. आदमी हर चीज की कीमत जानता है, असलियत एक भी चीज की नहीं जानता।

जिन्दगी ने अपना हक जताया कहाँ-कहाँ, और फल पाया कहाँ-कहाँ।
सिमटे तो दिले-आशिक, फैले तो ज़माना है।

•

बाइबिल में कहा गया है कि हमारे पास पत्थर जमा करने का वक्त है, और पत्थर फेंकने का वक्त भी। गले मिलने का वक्त है, और गले मिलर बिछुड़ने का वक्त भी।

"लिखते हैं कम, और काटते हैं ज्यादा!" सुभाष मदान ने मुझे निशाना बनाया।

•

"खुदा हाफिज़!" बेगम के मुंह से निकला, मजलिस बर्खास्त होने पर।

"क्या मर्दों की बोली बोल रही हो, बेगम!" मौलाना कज़लबाश बोले, "अल्लाह बेली कहो—अल्लाह बेली!"

•

शरत बाबू की जीवनी पर विष्णु प्रभाकर की कालजयी रचना 'आवारा मसीहा' कितनी बार पढ़ी।

हर बार याद आई उस महान शिल्पी की, जिसके जीवन के कुछ वर्ष बर्मा में व्यतीत हुए।

कलकत्ता में उनसे मुलाकात होने पर मैं यह कहने का साहस कर सका कि बर्मा का वरदान तो मुझे भी प्राप्त हुआ।

वे बर्मा की अनेक यादों की 'झीनी-झीनी चादर' बुनते रहे।

आज्ञा पाकर मैंने सन् १६३२ में की गई अपनी बर्मा-यात्रा के हमसफर स्वामी सदानन्द का बखान करते हुए शरत् बाबू को बताया कि रंगून से चलकर मांडले तक प्रत्येक छोटे-बड़े रेलवे स्टेशन पर उतरकर स्थानीय अनुभूति प्राप्त की। हर मुलाकात दिलबर, हमदम, बेला और बेनजीर।

मैंने 'इरावती' शीर्षक अपना एक रेखाचित्र पढ़कर सुनाया तो शरत् बाबू देर तक अपने उस पत्र की चर्चा करते रहे जो दिलीपकुमार राय को लिखा गया था, "तुम लिखना तो जानते हो, 'नहीं लिखना' नहीं जानते!"

'इरावती' को विस्तार से मुक्त पाकर शरत बाबू प्रसन्न मुद्रा में बोले, "सुन्दर, अति सुन्दर!"

मुझे यह एक महान साहित्यकार का आशीर्वाद प्रतीत हुआ।

•

'सुपर्णा सयुजा सखाया!' अनुपम दृश्य।

वैदिक ऋषि की अनुभूति।

एक वृक्ष पर विराजमान दो पक्षी।

एक पक्षी फल खा रहा है।
दूसरा पक्षी देख रहा है।

•

उत्तर प्रदेश से प्राप्त एक लोक-कविता, जिसने मुझे विस्तार से बचाया—

एक था राम, एक रावन्ना
वा ने वा की जोरू छीनी
वा ने वा का गावन्ना
और तुलसी लिख गयो पोथन्ना

•

पाँचवाँ साल पार करते हुए देखने में मासूम लेकिन नटखट विराट ने मेरी दाढ़ी की ओर इंगित करते हुए कहा, "यह कौन है ?"

मुझे निरुत्तर देखकर वेद गौतम ने कहा, "हार गए ना ?"

मैंने कहा, "तो कान खोलकर सुनिए दाढ़ी का गुणगान—

इन दाढ़ियों पे न जा दिला
ये दाढ़ियाँ हैं झाड़ियाँ
इन दाढ़ियों की आड़ में
ये शिकार खेलते बरमिला !

•

मुहम्मद अलावी की कविता झकझोरती रही—

इस मौसम से उस मौसम तक—
मुंह जबानी कुरान पढ़ते थे
पहले बच्चे भी कितने बूढ़े थे
इक परिन्दा सुना रहा था ग़ज़ल
चार-छह पेड़ मिलके सुनते थे

•

'चाँद-सूरज के बीरन' की अन्तिका में पढ़िए गुरुदेव और महात्मा गांधी के आशीर्वाद और स्वयं निर्णय कीजिए कि मुझे अपने जीवन-पथ पर चलते-चलते 'भारतमाता ग्रामवासिनी' से कहाँ-कहाँ प्रेरणा मिली।

अन्तिका का दूसरा परिशिष्ट 'मूल्यांकन' तीसरा परिशिष्ट—मूल्यांकन।

चाँद-सूरज के बीरन' पर एक आलोचना का दृष्टिपात (त्रैमासिक 'आलोचना') समीक्षाकार : गंगाप्रसाद मिश्र।

'चाँद-सूरज के बीरन' का दूसरा परिवर्धित संस्करण मेरे लिए खोई पहचान से कम नहीं।

५ सी/४६, न्यू रोहतक रोड, नई दिल्ली
२१ जून, १९८७

—देवेन्द्र सत्यार्थी

चले चलो, चले चलो !
श्रम से जो थका नहीं पथ में जो बढ़ा नहीं,
पा सका न लक्ष्मी लाख हो वह संयमी,
पथ-पुकार है यही पथ का सार है यही,
पथ से हार जाय जो पथ-कलंक है वही,
चले चलो, चले चलो !
पन्थ के चलित चरण खिल रहे नवीन फूल,
पन्थ-श्रम के स्वेद-कण धो रहे हैं पाप-मूल,
सिर उठा रहे चरण सिर झुका रहे हैं शूल,
चल रहे पदाति की प्रवहमान चरण-कूल,
चले चलो, चले चलो !
राह में जो थक गया भाग्य भी तो थक गया,
राह में जो रुक गया भाग्य भी तो रुक गया,
और सो गया है जो भाग्य भी तो सो गया,
पन्थ ही तो धरती में भाव बीज बो गया,
चले चलो, चले चलो !
सो गया जो राह में कलियुगी मनुष्य वह,
ले रहा जँमाइयाँ है द्वापरी मनुष्य वह,
रुक गया जो राह में त्रेता का रूप वह,
चल रहा जो राह पर सतयुगी मनुष्य वह,
चले चलो, चले चलो !
जो बिना रुके चला मधु उसी को मिल गया,
प्राप्त हो गई उसे फल की मधुरिमा सदा,
सूर्य ही को देख लो जो कभी थका नहीं,
जो सदा से चल रहा जो कभी रुका नहीं,
चले चलो, चले चलो !
—'ऐतरेय ब्राह्मण' के आधार पर

आक के फूल, धतूरे के फूल

समय की पिटारी में वे स्मृतियाँ आज भी बन्द पड़ी हैं। पिटारी का ढकना उठाया नहीं कि पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं। शायद इनका कोई क्रम नहीं, शायद इनका कोई अर्थ नहीं; ये स्मृतियाँ पिटारी से सिर निकालकर बाहर की हवा खाना चाहती हैं। बाहर की झलक देखना चाहती हैं।

घर में एक दुलहन आई है। रिश्ते में बालक की चाची है। माँ कहती है, "यह तेरी मौसी है।" चाची—मौसी, मौसी—चाची! बालक की समझ में यह बात नहीं आती। दुलहन तो दुलहन है। शायद बालक इतना भी नहीं समझता। वह दुलहन के पास से हिलता ही नहीं। माँ घूरती है। अब क्यों घूरती है माँ? बालक कुछ नहीं समझ सकता। माँ खिलखिलाकर हँस पड़ती है; वह चाहती है कि बालक उसका अंचल पकड़कर भी उसी तरह चले जिस तरह वह अपनी मौसी का अंचल पकड़कर चलता है। बालक यह नहीं समझ सकता। दुलहन भीतर जाती है जहाँ अन्धकार है। बालक भी साथ-साथ रहता है। दुलहन कपड़े बदल रही है। "तुम भी साथ चले आये?" दुलहन हँसकर पूछती है। अन्धकार के बावजूद वह बालक के गाल पर अपना हाथ रख देती है, उसे भींच लेती है। कपड़े बदलकर, नया लहँगा पहनकर वह बाहर निकलती है। साथ-साथ बालक चलता है; सुनहरी गोट वाले मलगज़ी लहँगे से उसका हाथ नहीं हटता। दुलहन अपनी सखियों के साथ नहर पर जायगी। वह सोचती है कि बालक उसके साथ इतना कैसे घुल-मिल गया। माँ अपनी जगह है, दुलहन अपनी जगह। दुलहन बालक को छेड़ती है, "तेरे लिए भी ला दूँगी एक नन्हीं-मुन्नी-सी दुलहन!" बालक हँसता नहीं। वह यह सब नहीं समझ सकता। उसकी तो एक ही ज़िद है कि दुलहन के साथ ही बाहर जायगा, जहाँ वह आक के फूलों को हाथ से मसल सकेगा, जहाँ वह धतूरे के फूलों को तोड़ सकेगा। दुलहन की सखियाँ उसे मना करेंगी। दुलहन कहेगी—बच्चा ही तो है, ले लेने दो एक फूल!

घर की बैठक। दरवाज़े अन्दर से बन्द। खिड़की भी अन्दर से बन्द। वहाँ एक बीमार पड़ा है। वह कब से बीमार है, बालक यह सब नहीं जानता। वह क्यों बीमार है? कब अच्छा होगा? बालक से कोई यह मत पूछे। बालक बैठक में

चला आता है। अन्धकार में उसका हाथ सरककर बीमार के पास आ जाता है। बीमार सब समझता है। वह उठता है। ऊपर रखी कोई चीज़ तलाश करता है। मिठाई। इसी मिठाई का एक टुकड़ा वह बालक के हाथ में थमा देता है। मिठाई का टुकड़ा लेकर बालक बाहर निकल गया। मिठाई कहाँ से आती है? बालक यह सब नहीं जानता। वह चाहता है कि उसे मिठाई मिलती रहे।

"आक के फूल, धतूरे के फूल : ये फूल तो अच्छे नहीं !" हर कोई यही कहता है। "इतनी मिठाई भी मत खाया करो !" माँ डाँट पिलाती है। बाबाजी हैं कि उसे पिन्नी का टुकड़ा ज़रूर देते हैं—मेथी वाली पिन्नी का कसैला-सा टुकड़ा। बालक पिन्नी का टुकड़ा ज़रूर लेता है। बाबाजी के पास हमेशा पिन्नियाँ रहती हैं। पिन्नी का टुकड़ा मुँह में डालते ही बालक थू करके इसे फेंक देता है। अब बाबाजी छोटा टुकड़ा देने लगे हैं। "पिन्नी अच्छी नहीं लगती तो लेता क्यों है?" माँ समझाती है। बालक नाचता है, गाता है :

अक्क दे फुल्ल
धतूरे दे फुल्ल
की की मुल्ल
दस्स, भैणाँ !
दस्स, बीरा !
ताया जी दी बरफी
बाबा जी दी पिन्नी।[1]

दुलहन कभी-कभी बालक को अपने साथ नहर पर नहाने के लिए भी ले जाती है। वह अपनी सखियों के साथ नहर में उतरती है। बालक कपड़े उतारे जाने के बाद भी सीढ़ियों पर ही खड़ा रहता है, पानी में उतरते उसे डर लगता है। दुलहन उसे अपनी बाँहों में लेना चाहती है; वह भाग जाता है। दुलहन की सखियाँ उसे ज़बरदस्ती उठाकर एक-आध डुबकी देना चाहती हैं; बालक रोता है, चिल्लाता है। दुलहन सोचती है कि बालक नहर पर आया ही क्यों था? बालक यह सब नहीं जानता। उसे नहाती हुई दुलहन को देखने का शौक है। नहर की पटरी से नीचे आक के पौधे हैं। बालक दौड़कर आक और धतूरे के फूल तोड़ लाता है। "मत तोड़ो ये फूल !" सखियाँ उसे मना करती हैं। दुलहन हँसकर कहती है, "अरे, यह बच्चा ही तो है ! इसे तोड़ लेने दो आक के फूल, धतूरे के फूल !"

पिताजी ने चमार को बुलाकर कहा, "हमारे बेटे का नाप ले लो।" चमार बालक के पैरों का नाप लेता है और चला जाता है। बालक भी सबकी नज़र

१. आक के फूल, धतूरे के फूल, इनका क्या-क्या मोल है? बताओ, बहन ! बताओ बीरन ! तायाजी की बरफी, बाबाजी की पिन्नी।

बचाकर चमार के पीछे हो लेता है। चमारों की गली। सन्ता चमार का घर। चमार अपने काम पर आ बैठा। सामने पत्थर की सिल पड़ी है, जिस पर वह अपनी आर को तीखी करता है, अपनी रम्बी को तेज़ करता है। रम्बी से चमड़ा काटता है। आर से चमड़े में सिलाई करता है। बालक यह सब देखता है और सोचता है कि उसे तो अपना जूता खुद ही तैयार करना चाहिए। चमार उसे देखता है। "तुम इधर कैसे चले आये, बेटा?" चमार पुचकारता है। चमारिन हँसकर कहती है, "बच्चा ही तो है!" चमार रम्बी से चमड़ा काटते हुए कहता है, "अरी पगली! लालाजी ने देख लिया तो इसे मारेंगे।" सन्तासिह किसी दूसरे बच्चे के लिए तैयार किये हुए लगभग उसी नाप के जूते उठाकर और बालक को साथ लेकर चल पड़ता है; आकर लालाजी से कहता है, "अपने बेटे को सँभाल कर रखा कीजिए, लालाजी! और ये लीजिए इसके जूते।" लालाजी कहते हैं, "इतनी जल्द तैयार भी कर लाया, सन्तासिह? अच्छा तो ठीक है।" फिर जब लालाजी को पता चलता है कि बालक सन्तासिंह के घर जा पहुँचा था, तो वह उसे घूरते हैं। सन्तासिंह कहता है, "इतना मत घूरो, लालाजी! अभी बच्चा ही तो है!" लालाजी को याद आता है कि इसी तरह एक दिन उनका बेटा बख़्शी ख़ाँ चिट्ठीरसाँ के घर जा पहुँचा था, जो छुट्टी वाले दिन जिल्दसाज़ी का काम करता है; उससे बालक उर्दू के क़ायदे की जिल्द बँधवा लाया था। लाला-जी बालक को घूरते हैं और डाँटकर कहते हैं, "अन्दर जाकर खेलो।"

स्कूल में बालक की पढ़ाई 'कच्ची पहली' में हो रही है। घर में उसकी पढ़ाई होती है 'त्रिंजन' में जहाँ गली की लड़कियाँ, दुलहनें और माताएँ मिलकर चरखा कातती हैं। बालक को किसी का चरखा पसन्द है तो अपनी मौसी का, जो उसे आक और धतूरे के फूल तोड़ने से कभी मना नहीं करती, जो उसे बलपूर्वक नहर में डुबकी नहीं दिलाती।

श्राद्धों के दिनों में गली की लड़कियाँ 'पूरो'[1] बनाती हैं, लड़कों को वे अपनी पूरो नहीं दिखातीं; बालक है कि किसी-न-किसी तरह, और वह भी लड़कियों को दक्षिणा दिये बिना ही, मिट्टी से बनाई गई देवी के दर्शन कर लेता है। भोर के समय जब गली की लड़कियाँ गाती हुई नहर की ओर जाती हैं तो बालक की आँख खुल जाती है और वह उनके साथ जाने के लिए लालायित हो उठता है। जिस दिन लड़कियाँ अपनी-अपनी थाली में घी के दीये जलाकर नहर की ओर चल पड़ती हैं, बालक लड़कियों के साथ रहता है; पूरो का जल में प्रवाह कर दिया जाता है और ये दीये भी फूस के पूले पर रखकर पानी में बहा दिये जाते हैं। बालक की कल्पना में नये-नये चित्र उभरते हैं—आक के फूल, धतूरे के फूल, पानी में बहते हुए

१. 'पूरो' (अन्नपूर्णा), जिसे हिन्दी में 'साँझी' कहते हैं।

चला आता है। अन्धकार में उसका हाथ सरककर बीमार के पास आ जाता है। बीमार सब समझता है। वह उठता है। ऊपर रखी कोई चीज़ तलाश करता है। मिठाई। इसी मिठाई का एक टुकड़ा वह बालक के हाथ में थमा देता है। मिठाई का टुकड़ा लेकर बालक बाहर निकल गया। मिठाई कहाँ से आती है? बालक यह सब नहीं जानता। वह चाहता है कि उसे मिठाई मिलती रहे।

"आक के फूल, धतूरे के फूल : ये फूल तो अच्छे नहीं!" हर कोई यही कहता है। "इतनी मिठाई भी मत खाया करो!" माँ डाँट पिलाती है। बाबाजी हैं कि उसे पिन्नी का टुकड़ा ज़रूर देते हैं—मेथी वाली पिन्नी का कसैला-सा टुकड़ा। बालक पिन्नी का टुकड़ा ज़रूर लेता है। बाबाजी के पास हमेशा पिन्नियाँ रहती हैं। पिन्नी का टुकड़ा मुँह में डालते ही बालक थू करके इसे फेंक देता है। अब बाबाजी छोटा टुकड़ा देने लगे हैं। "पिन्नी अच्छी नहीं लगती तो लेता क्यों है?" माँ समझाती है। बालक नाचता है, गाता है :

अक्क दे फुल्ल
धतूरे दे फुल्ल
की की मुल्ल
दस्स, भैणाँ!
दस्स, वीरा!
ताया जी दी बरफी
बाबा जी दी पिन्नी।[1]

दुलहन कभी-कभी बालक को अपने साथ नहर पर नहाने के लिए भी ले जाती है। वह अपनी सखियों के साथ नहर में उतरती है। बालक कपड़े उतारे जाने के बाद भी सीढ़ियों पर ही खड़ा रहता है, पानी में उतरते उसे डर लगता है। दुलहन उसे अपनी बाँहों में लेना चाहती है; वह भाग जाता है। दुलहन की सखियाँ उसे ज़बरदस्ती उठाकर एक-आध डुबकी देना चाहती हैं; बालक रोता है, चिल्लाता है। दुलहन सोचती है कि बालक नहर पर आया ही क्यों था? बालक यह सब नहीं जानता। उसे नहाती हुई दुलहन को देखने का शौक है। नहर की पटरी से नीचे आक के पौधे हैं। बालक दौड़कर आक और धतूरे के फूल तोड़ लाता है। "मत तोड़ो ये फूल!" सखियाँ उसे मना करती हैं। दुलहन हँसकर कहती है, "अरे, यह बच्चा ही तो है! इसे तोड़ लेने दो आक के फूल, धतूरे के फूल!"

पिताजी ने चमार को बुलाकर कहा, "हमारे बेटे का नाप ले लो।" चमार बालक के पैरों का नाप लेता है और चला जाता है। बालक भी सबकी नज़र

---

१. आक के फूल, धतूरे के फूल, इनका क्या-क्या मोल है? बताओ, बहन! बताओ बीरन! तायाजी की बरफी, बाबाजी की पिन्नी।

बचाकर चमार के पीछे हो लेता है। चमारों की गली। सन्ता चमार का घर। चमार अपने काम पर आ बैठा। सामने पत्थर की सिल पड़ी है, जिस पर वह अपनी आर को तीखी करता है, अपनी रम्बी को तेज़ करता है। रम्बी से चमड़ा काटता है। आर से चमड़े में सिलाई करता है। बालक यह सब देखता है और सोचता है कि उसे तो अपना जूता खुद ही तैयार करना चाहिए। चमार उसे देखता है। "तुम इधर कैसे चले आये, बेटा?" चमार पुचकारता है। चमारिन हँसकर कहती है, "बच्चा ही तो है!" चमार रम्बी से चमड़ा काटते हुए कहता है, "अरी पगली! लालाजी ने देख लिया तो इसे मारेंगे।" सन्तासिंह किसी दूसरे बच्चे के लिए तैयार किये हुए लगभग उसी नाप के जूते उठाकर और बालक को साथ लेकर चल पड़ता है; आकर लालाजी से कहता है, "अपने बेटे को सँभाल कर रखा कीजिए, लालाजी! और ये लीजिए इसके जूते।" लालाजी कहते हैं, "इतनी जल्द तैयार भी कर लाया, सन्तासिंह? अच्छा तो ठीक है।" फिर जब लालाजी को पता चलता है कि बालक सन्तासिंह के घर जा पहुँचा था, तो वह उसे घूरते हैं। सन्तासिंह कहता है, "इतना मत घूरो, लालाजी! अभी बच्चा ही तो है!" लालाजी को याद आता है कि इसी तरह एक दिन उनका बेटा बख़्शी खाँ चिट्ठीरसाँ के घर जा पहुँचा था, जो छुट्टी वाले दिन जिल्दसाज़ी का काम करता है; उससे बालक उर्दू के क़ायदे की जिल्द बँधवा लाया था। लालाजी बालक को घूरते हैं और डाँटकर कहते हैं, "अन्दर जाकर खेलो।"

स्कूल में बालक की पढ़ाई 'कच्ची पहली' में हो रही है। घर में उसकी पढ़ाई होती है 'त्रिंजन' में जहाँ गली की लड़कियाँ, दुलहनें और माताएँ मिलकर चरखा कातती हैं। बालक को किसी का चरखा पसन्द है तो अपनी मौसी का, जो उसे आक और धतूरे के फूल तोड़ने से कभी मना नहीं करती, जो उसे बलपूर्वक नहर में डुबकी नहीं दिलाती।

श्राद्धों के दिनों में गली की लड़कियाँ 'पूरो'[1] बनाती हैं, लड़कों को वे अपनी पूरो नहीं दिखातीं; बालक है कि किसी-न-किसी तरह, और वह भी लड़कियों को दक्षिणा दिये बिना ही, मिट्टी से बनाई गई देवी के दर्शन कर लेता है। भोर के समय जब गली की लड़कियाँ गाती हुई नहर की ओर जाती हैं तो बालक की आँख खुल जाती है और वह उनके साथ जाने के लिए लालायित हो उठता है। जिस दिन लड़कियाँ अपनी-अपनी थाली में घी के दीये जलाकर नहर की ओर चल पड़ती हैं, बालक लड़कियों के साथ रहता है; पूरो का जल में प्रवाह कर दिया जाता है और ये दीये भी फूस के पूले पर रखकर पानी में बहा दिये जाते हैं। बालक की कल्पना में नये-नये चित्र उभरते हैं--आक के फूल, धतूरे के फूल, पानी में बहते हुए

१. 'पूरो' (अन्नपूर्णा), जिसे हिन्दी में 'साँझी' कहते हैं।

दीये…

गाँव के बाहर है 'पत्थराँ वाली', जहाँ शिवालय है और एक श्मशान भी; वहाँ बालक नहीं जाते, क्योंकि उन्हें डराया जाता है कि वहाँ भूत रहते हैं। बालक अपनी मौसी से बार-बार 'पत्थराँ वाली' चलने के लिए ज़िद करता है। एक दिन वह कुछ बालकों के साथ वहाँ जा पहुँचता है, डरकर पीछे भाग आता है। उसके साथ दूसरे बालक भी दौड़ आते हैं। घर आकर बालक अपनी मौसी को बताता है कि किस तरह उसने उधर से एक भूत को आते देखा जिसके मुँह से आग निकल रही थी। मौसी हँसती है और कहती है, "इसीलिए तो मैं तुझे उधर नहीं ले जाना चाहती थी। फिर कभी मत जाना उधर, नहीं तो भूत खा जायगा।"

'सत गुरियानी' सरोवर से सटा हुआ एक दूसरा श्मशान है। वहाँ भी भूत बताये जाते हैं। बालक वहाँ भी नहीं जाते। मौसी के मना करने के बावजूद बालक एक दिन 'सत गुरियानी' तक हो आया। रात को उसने स्वप्न में देखा—बालकों का एक जमघट लगा है; सब बालक उसकी तरफ़ बाँहें फैला रहे हैं, उसे अपने पास बुला रहे हैं!…मौसी ने सुना तो बोली, "फिर मत जाना 'सत गुरियानी'!" लेकिन बालक का मन 'पत्थराँ वाली' और 'सत गुरियानी' जाने से बाज़ नहीं आता, जैसे वहाँ आक और धतूरे के फूल सबसे सुन्दर हों।

मौसी फूलाँ रानी की कहानी सुनाती है; बालक को इस कहानी की फूलाँ रानी पसन्द नहीं, क्योंकि मौसी कई बार कह चुकी है कि फूलाँ रानी तो कभी आक और धतूरे के फूलों को हाथ नहीं लगाती थी।

गाँव के छोटे चौक में सभा लगी है; पक्का गाना गाया जा रहा है। पक्का गाना! बालक को लगता है जैसे गाने वाले का साँस टूट रहा हो। वह उससे कहना चाहता है, "देखो जी, आक और धतूरे के फूल सूँघा करो, फिर गाना गाया करो!"

बामा मीरासी कई बार शिव का रूप धारण करके बाज़ार में आता है; उसे साधारण वेश में देखकर भी बालक समझता है शिव भगवान् आ रहे हैं। वह तायाजी से मिली हुई बरफ़ी या बाबाजी से मिली हुई पिन्नी का टुकड़ा बामा के हाथ पर ला रखता है और हँसकर कहता है, "इसे खा लो, महाराज!"

फिर एक दिन…तायाजी को आँगन में नहलाया जा रहा है। घर वाले रो रहे हैं। बालक यह सब नहीं समझ सकता। ताया जी को नहलाये जाने का दृश्य उसे याद रहता है…अब तायाजी कहीं नज़र नहीं आते। मौसी कहती है कि ताया जी मर गये। बालक यह सब नहीं समझ सकता। वह तो यही जानता है कि अब बैठक में तायाजी की चारपाई नज़र नहीं आती और अब उसका हाथ मिठाई के लिए आगे नहीं बढ़ सकता। बैठक में अब वह अन्धकार नहीं है; दरवाज़े खुले रहते हैं। बालक को इसका बहुत दुःख है।

मौसी अब वह सुनहरी गोट वाला मलगजी लहँगा नहीं पहनती। इसका भी बालक को दुःख है। सपने में वह देखता है—दुलहन ने वही लहँगा पहन लिया; उसने बालक को गोद में उठा लिया; वह उसे आक और धतूरे के फूल दे रही है। सन्ता चमार के यहाँ बैठा बालक अपने हाथ से अपनी जूती सी रहा है! बख़्शी खाँ के यहाँ बैठा बालक अपनी पुस्तक की जिल्द बाँध रहा है! राँझा बैरागी के पास खड़ा बालक कबूतर उड़ा रहा है! नीली घोड़ी पर सवार होकर बालक उसे दौड़ाये लिये जा रहा है; कभी 'पत्थराँ वाली' जा पहुँचता है, कभी 'सत गुरियानी'!·· ज़मीन कहीं-कहीं से ऊँची-नीची होने लगती है, कहीं-कहीं पहाड़ियाँ सिर उठाने लगती हैं! बालक इन पहाड़ियों की तरफ़ अपनी घोड़ी दौड़ाता है···बालक को यह नापसन्द है कि ज़मीन एकदम सपाट हो।

कभी-कभी गाँव में खानाबदोश आ निकलते हैं। गाँव के बाहर ये 'गड्डीयाँ वाले' अपनी गाड़ियाँ रोककर ख़ेमे गाड़ देते हैं। उनके ख़ेमों के पास चक्कर काटना बालक को बहुत पसन्द है। ख़ेमों से अजनबी आँखें बालक को अपने पास बुलाती हैं। नये-नये चेहरे देखकर बालक ख़ुशी से नाच उठता है। मौसी बार-बार मना करती है, "ये तो खानाबदोश हैं, बच्चों को पकड़कर ले जाते हैं; इन पर कौन विश्वास करेगा?" रात को सपने में बालक देखता है—वह भी खानाबदोशों के साथ शामिल हो गया है, घर पीछे रह गया, माँ पीछे रह गई, मौसी पीछे रह गई!···

बालक उर्दू का क़ायदा पढ़ रहा है; उसका मन नहीं लगता। कभी उसके कानों में चिड़िया और काग की कथा का वह बोल गूँज उठता है: "चीं-चीं मेरा पूँझा सड़िया! क्यों पराया खिच्चड़ खादा?"[1] कभी वह क़ायदा बन्द करके गुनगुनाने लगता है: "वा वगी उड़ जाणगे, लक्क टुनूँ-टुनूँ!"[2] कभी उसे लगता है जैसे आज भी पहले की तरह उसकी माँ सवेरे जागने पर उसका मुँह धोते हुए गा रही है: "इच्ची बिच्ची कोको खाये, घियो दी चूरी काका खाय।"[3] कभी क़ायदा पढ़ते-पढ़ते उसे झपकी आ जाती है; वह देखता है—उसकी मौसी भागवन्ती एक छोटी-सी लड़की का रूप धारण करके उसके साथ खेलने चली आई है; उधर से भाभी धनदेवी भी नन्हीं-मुन्नी-सी लड़की बनकर उछलती-कूदती आ रही है; दोनों ने उसे पकड़ लिया और उससे खेलने लगीं और गाने लगीं:

चीचो चीच कचोलियाँ
घुमियाराँ दा घर किथे जे?
ईचकनाँ पर मीचकनाँ

---

१. चीं-चीं मेरी पूँछ जल गई। पराई खिचड़ी क्यों खाई थी?
२. हवा चलेगी तो उड़ जायेंगे, कमर टुनूँ-टुनूँ।
३. इच्ची-बिच्ची (आँख का कीचड़) कोको (भय का प्रतीक) खाये, घी की चूरी बालक खाये।

नीली घोड़ी चढ़ यारो
भण्डा भण्डारिया किन्ना कुभार ?
इक्क मुट्ठी चुक्क लै दूजी नूँ तियार ।
लुक छिप जाना
मकई दा दाना
राजे बेटी आई जे ।[1]

मौसी भागवन्ती जैसे देखते-देखते राजा की बेटी बन गई हो। धनदेवी पूछती हैं, "क्या मैं नहीं हूँ राजा की बेटी ?" बालक उनकी बाँहों से निकलकर कहीं दूर भाग जाना चाहता है – दूर, बहुत दूर, नीली घोड़ी पर चढ़कर, जहाँ कोई यह न पूछे कि कुम्हारों का घर कितनी दूर है···'इक्क मुट्ठी चुक्क लै दूजी नूँ तियार।' जहाँ एक मुट्ठी सिर से उठाते ही झट दूसरी मुट्ठी का भार नहीं आ पड़ेगा ·· मौसी भागवन्ती और भाभी धनदेवी पर बालक रंग डाल रहा है। होली के दिन हैं। उन्होंने भी तो उसे रंग से भिगो दिया···लोहड़ी के दिन हैं। दूसरे बच्चों के साथ मिलकर बालक द्वार-द्वार पर गाकर लकड़ी माँग रहा है, हाथ उठा-उठाकर सिर हिला-हिलाकर, जैसे सबसे अधिक मस्ती का अनुभव उसी को हो रहा हो, जैसे वही सब बच्चों का सरदार हो, सब उसके हुक्म में बँधे हुए गा रहे हों।

पा नी माई पा,
काले कुत्ते नूँ वी पा,
काला कुत्ता दे दुआई,
तेरियाँ जीवण मञ्झियाँ गाईं ।[2]

भीतर से मौसी भागवन्ती निकलकर सबके देखते-देखते बालक को गोद में उठा लेती है और कहती है, "वाह ! अपने ही घर से दान लेने चले आये ?" दूसरी ओर से भाभी धनदेवी आकर उसके सिर पर हाथ मारकर कहती है :

दो दड़िक्का पिया पड़िक्का,
माँ रानी घर होएया निक्का ![3]

फिर माँ का चेहरा उभरता है। वह कहती है, "मैं सब समझ गई; तुम्हें तो मौसी और भाभी ही अच्छी लगती हैं !"···और जब बालक की झपकी टूटती है, वह

---

१. चीचो चीच कचोलियाँ। कुम्हारों का घर कहाँ है ? ईचकने के ऊपर है मीचकना। यारो, नीली घोड़ी पर चढ़ो। हे भण्डार के भण्डारी, कितना बोझ है ? एक मुट्ठी के उठते ही दूसरी मुट्ठी तैयार है। लुक-छिप जाना, मकई का दाना। राजा की बेटी आई है।

२. दान दो, माई दान दो, काले कुत्ते के लिए भी दान दो। काला कुत्ता दुआएँ दे रहा है— तुम्हारी भैंसें और गायें जीती रहें।

३. दो दड़िक्का, पड़िक्का की आवाज आई; माँ रानी के बेटा हुआ।

देखता है कि वह स्कूल के अहाते में पीपल के नीचे बैठा है जहाँ मास्टरजी उसे घूरते हुए कह रहे हैं, "तो यहाँ सोने के लिए चले आते हो? सोने के लिए घर होता है, पढ़ने के लिए स्कूल!"

बालक की कल्पना के द्वार बन्द नहीं हो सकते। जैसे धनदेवी और भागवन्ती उसकी तरफ़ मकई का दाना फेंककर कह रही हों: 'लुक छिप जाना, मकई दा दाना!' जैसे मौसी गा रही हो:

हेरनी ओ हेरनी
हेरनी छड्डियाँ लम्मियाँ
मींह वरह्या ते कणकाँ जम्मियाँ
कणकाँ विच्च बटेरे
दो साधू दे दो मेरे।[1]

जैसे बालक गेहूँ के खेतों में बटेरे पकड़ रहा हो। खरगोश हाथ आ गया। बालक इस खरगोश को में गाँव ले आया। गली के सिरे पर ही भागवन्ती और धनदेवी मिल गईं; यह खरगोश वे छीनने लगीं। बालक इस खरगोश को छोड़ना नहीं चाहता···उसकी झपकी टूटी तो क्या देखा कि मास्टरजी भी कुरसी पर बैठे ऊँघ रहे हैं। पीपल के पत्ते डोल रहे हैं। बड़ी उमस है। लड़के सब पसीना-पसीना, वह स्वयं भी पसीना-पसीना, मास्टरजी भी पसीना-पसीना। पीपल के पत्ते डोल रहे हैं। बालक सोचता है कि उससे तो पीपल के पत्ते ही अच्छे हैं।

बालक को स्कूल अच्छा नहीं लगता; वह यहाँ से भाग जाना चाहता है। उसे लगता है कि गेहूँ के खेतों में बटेरे भी उस से कहीं ज़्यादा खुश होंगे, भाई वसन्तकौर की खण्डहर ड्योढ़ी के सुराखों में रहने वाले जंगली कबूतर उससे कहीं ज़्यादा खुश होंगे, और कहीं ज़्यादा खुश होगा धीवरों का नौकर नूना, जिसने विवाह नहीं कराया, जिसका पोपला-सा मुँह किसी बुढ़िया का-सा है, जो प्रत्येक पक्षी की बोली की नकल उतार सकता है। बालक चाहता है कि मास्टरजी वाली कुरसी पर नूना आ बैठे, या भागवन्ती और धनदेवी में से ही किसी को यह स्थान मिल जाय, फिर देखो उसकी पढ़ाई कितने मजे से चलती है!···

पीपल के पत्ते डोल रहे हैं। मास्टरजी कड़ककर बालक से कहते हैं, "तो तुम फिर सो रहे हो?" एकाएक बालक की झपकी टूटती है: भय से उसका अंग-अंग काँप उठता है। यह कैसा भय है? एक दैत्य के समान मास्टरजी हाथ में बेंत लिये बैठे हैं। 'चिड़ी बिचारी की करे? ठण्डा पानी पी मरे।'[2] बालक सोचता है कि वह भी एक दिन मर जायगा, चिड़िया के समान तड़प-तड़पकर; उसे तो

१. हेरनी, ओ हेरनी! हेरनी ने लम्बी कोंपलें छोड़ीं। मेंह बरसा तो गेहूँ उगा। गेहूँ के खेतों में हैं बटेरे, दो साधु के दो मेरे।

२. चिड़िया बेचारी क्या करे? वह ठण्डा पानी पीकर मर जाय।

ठण्डा पानी भी पीने को नहीं मिलेगा। किसी गीत का बोल उसकी कल्पना को छू जाता है :

> तिन्न तीर, खेडन वीर,
> हत्थ कमान मोढे तीर ![1]

बालक सोचता है कि उसके हाथ में तीर-कमान कहाँ है ? होता तो पहला तीर मास्टरजी पर ही छोड़ता। बालक सोचता है कि एक दिन मास्टरजी बालक बन जायँगे और वह मास्टरजी बन जायगा। उस समय वह मास्टरजी से गिन-गिनकर बदला लेगा।

उर्दू का क़ायदा। उसे हर शब्द कीड़ा-मकोड़ा प्रतीत हो रहा है। वह चाहता है कि क़ायदे को फाड़ डाले और उठकर काग़ज़ के पुरज़े मास्टरजी के मुँह पर दे मारे।

भय ही भय ! हँसी-खेल में भी भय के कीड़े-मकोड़े रींग रहे हैं। 'चिड़ी बिचारी की करे ? ठण्डा पानी पी मरे।' जीवन को निगल जायगा यह भय एक दिन। भय ही भय ! लेकिन भय भी क्या बिगाड़ सकता है ? फूल तो खिलेंगे, खिलते रहेंगे : आक के फूल, धतूरे के फूल ! मिठाई तो मिलेगी, मिलती रहेगी। तायाजी की बरफ़ी, बाबाजी की पिन्नी···यह बालक मैं स्वयं था और आस-पास की दुनिया अपनी आँखों से देख रहा था, इसमें न जाने कैसे-कैसे रंग भर रहा था।

आक के फूल खिल रहे थे—नन्हें-मुन्ने से फूल ! धतूरे के फूल खिल रहे थे—बड़े-बड़े फूल !

---

१. तीन तीर, बीरन खेल रहे हैं : हाथों में कमान है, कन्धों पर तीर।

ओ सूरज-मूरज !

जाड़े का सूरज हमारा मित्र था। जाड़े के गीत में सूरज का बखान हमें प्रिय था जिसे गाते हम कभी न अघाते। हम उछल-उछलकर गाते, किलकारियाँ मारते, एक-दूसरे को छेड़ते। हमें यही आशा रहती कि जाड़े का सूरज कुरता, टोपी और लँगोटी के लालच में आकर तेज़ धूप निकाल देगा :

सूरजा-मूरजा !
झग्गा देऊँ,
टोपी देऊँ,
तेड़ नूँ लँगोटी देऊँ,
करारी धुप्प कड्ढ दे।[1]

तेज़ धूप निकल आती तो हम भाग जाते; सूरज को दिया हुआ वचन पूरा करने की चिन्ता हमें कभी न सताती। गरमियों में यह गीत हम कभी न गाते; गरमियों का सूरज तो आग बरसाने वाला सूरज था, वह हमें नापसन्द था।

एक गीत मेरी माँ गाती थी; सूरज-मूरज का नहीं, चाँद और तारे का था वह गीत; उसमें सास-बहू के झगड़े और बहू के बाबुल के रोने का प्रसंग भी उठाया गया था। उसकी धुन चरखे की घूँ-घूँ पर उभरती थी। उसके शुरू के बोल मुझे भी याद हो गये थे :

चन्ना वे तेरी मेरी चानणी तारया वे तेरी मेरी लोवे हो
चन्न पकावे रोटियाँ, तारा करे रसो वे हो
चन्न दियाँ पक्कियाँ मैं खादियाँ, तारे दियाँ रह गइयाँ दो वे हो
सस्स जो मैंनू आखया, घ्ओ विच्च मैदा गो वे हो
घ्ओ विच्च मैदा थोड़ा पया, सस्स मैनूं गालियाँ दे वे हो
ना दे सस्से गालियाँ, एथे मेरा कौन सुने वे हो
महलाँ दे हेठ मेरा बाप खड़ा, सुन-सुन नैन भरे वे हो
ना रो बाबुल मेरेया, धिआँ दे दुःख बुरे वे हो

---

१. ओ सूरज-मूरज ! मैं तुम्हें कुरता दूँगा, टोपी दूँगा, कमर के लिए लँगोटी दूँगा, तेज धूप निकाल दो।

चाचे दा पुत्त भरा लगदा, कोलों दी लंघ गया वे हो
जे वीर हुन्दा आपणा, नदियाँ चीर मिले वे हो ![1]

यह गीत मुझे उतना पसन्द नहीं था जितना सूरज-मूरज वाला गीत, जिसमें किसी की गालियों और किसी के रोने का कोई प्रसंग नहीं था।

कई बार हमारा चरवाहा फत्तू मुझे सूरज-मूरज कहकर छेड़ता। मैं अपनी कल्पना में सचमुच का सूरज-मूरज वन जाता। वह मेरे पीछे भागता। मैं सोचता कि एक सूरज-मूरज दूसरे सूरज-मूरज का पीछा कर रहा है। मैं मुड़कर देखता; उसके माथे पर जैसे सूरज की किरनें मुझे बुला रही हों। फिर देखते-देखते फत्तू पशुओं वाले मकान की तरफ़ भाग जाता।

पशुओं वाले घर के दो-तीन कोठों में गाय-भैंसें बँधी रहतीं, दालान में घोड़ी बँधी रहती। घोड़ी की पीठ पर ख़रहरा करते हुए फत्तू सूरज-मूरज वाला गीत गाने लगता। कभी वह कहता, "ऐसा गीत तो तुम्हारी पहली की किताव में भी नहीं होगा, देव।"

फत्तू को सूरज-मूरज वाला गीत गाते देखकर माँ कहती, "फत्तू, तुम्हें क्या मिलता है इस गीत में ?"

"मुझे इसमें दूध मिलता है, माँ जी !" फत्तू हँसकर कहता।

पास से मैं कहता, "मुझे भी इस गीत में दूध मिलता है, माँ !"

मेरी बात को अनसुनी करते हुए माँ कहती, "लालचन्द तो हमेशा तुम्हें बाहर का आदमी समझता है, फत्तू ! लेकिन हमारे लिए तो तुम घर के आदमी हो। फिर तुम तनख़्वाह भी तो नहीं लेते।"

"अपने ही घर के काम की भी कोई तनख्वाह ले सकता है, माँ जी ?" फत्तू कहता, "मुझे भी बस सूरज-मूरज समझो। सूरज-मूरज भी तो धूप निकालने की तनख्वाह नहीं लेता।"

जब सवेरा होने पर फत्तू पीतल के दोहने में दूध दुहकर लाता, तो मैं सोचता कि फत्तू नहीं, सूरज-मूरज दूध दुहकर लाया है। फत्तू के हाथ से दोहना लेकर माँ चूल्हे के समीप ले आती। दूध काढ़नी में डाल दिया जाता। आँगन के

१. ओ चाँद, तेरी चाँदनी; ओ तारे, तेरी चमक, ओ री ओ ! चाँद रोटियाँ पका रहा है, तारा रसोई कर रहा है, ओ री ओ ! चाँद की पकाई रोटियाँ मैंने खा लीं, तारे की रोटियों में से भी दो ही बची रह गईं, ओ री ओ ! सास ने मुझसे कहा, 'घी में मैदा गूँधो !' ओ री ओ ! घी में मैदा कम पड़ा, सास मुझे गालियाँ दे रही है, ओ री ओ ! ओ सास, मुझे गालियाँ मत दे, यहाँ मेरी कौन सुनेगा, ओ री ओ ! महलों के नीचे खड़ा है मेरा बाप, तुम्हारी गालियाँ सुन-सुनकर उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं, ओ री ओ ! न रो बावुल, न रो, बेटियों के दुःख बहुत बुरे होते हैं, ओ री ओ ! चाचे का बेटा भाई लगता है, वह मेरे पास से गुज़र गया। अगर सगा वीरन होता तो नदियों को चीरता हुआ मुझे आ मिलता। ओ री ओ !

कोने में खड़े-खड़े फत्तू यह सब देखता । पीतल के दोहने में माँ जलते हुए अंगार डाल रही होती तो फत्तू हँसकर पूछता, "माँ जी, एक दिन दोहने में अंगार न भी डालो तो क्या धर्म बिगड़ जायगा ?"

"धर्म तो क्या बिगड़ जायगा, फत्तू ?" माँ कहती, "अपने मन का भ्रम है, उसे पूरा कर रही हूँ ।"

घर का कोई आदमी फत्तू को नौकर नहीं समझता था । पिताजी के लाख ज़ोर देने पर भी उसने तनख्वाह लेना स्वीकार नहीं किया था । इसलिए घर में उसकी बात कभी टाली नहीं जाती थी । मुझे तो फत्तू इसलिए अच्छा लगता था क्योंकि हमारे साथ खेलने में उसे मज़ा आता था ।

"बड़ों के बीच में बैठना मुझे पसन्द नहीं," फत्तू कहता, "मुझे तो बच्चे ही अच्छे लगते हैं, मेरी दाल तो बच्चों में ही गलती है । बच्चों का दिल पाक होता है । बच्चों को अल्लाह पाक से डरने की ज़रूरत नहीं होती । बड़ा होकर तो इन्सान कमीना बनता जाता है, ख़ुदगर्ज़ और झूठा ।"

फत्तू की बातें मैं पूरी तरह नहीं समझ सकता था । लेकिन माँ हमेशा उसकी बातों की प्रशंसा करती । माँ हमेशा यह ध्यान रखती कि फत्तू का दिल न दुखने पाये । हमारे घर में कभी ज़मीकन्द नहीं पकता था, क्योंकि फत्तू को यह नापसन्द था । फत्तू भी माँ को ख़ुश करने के लिए कहता, "गोश्त को तो फत्तू कभी मुँह नहीं लगा सकता, माँ जी ! फत्तू को तो दाल रोटी ही देता रहे उसका अल्लाह !"

मैं कई बार हैरान होकर माँ से पूछता कि फत्तू रसोई में क्यों नहीं आता । माँ आँखों-ही-आँखों में मेरा समाधान कर देती । वह कभी मुँह से कहना पसन्द न करती कि फत्तू मुसलमान है । वह तो हमेशा यही कहती, "फत्तू दिल का सच्चा है । उसे अपने अल्लाह का उतना ही डर है जितना हमें अपने भगवान् का !"

मैं कई बार सोचता—क्या फत्तू का अल्लाह और हमारे भगवान् अलग-अलग हैं । माँ से यह बात पूछने का मुझे साहस न होता । भगवान् के बारे में मेरा ज्ञान अधिक नहीं था; अल्लाह के बारे में भी मैं इतना ही समझ सका कि वह इतना अच्छा ज़रूर है कि उसने फत्तू को इतना सच्चा इन्सान बनाया ।

हमारी घोड़ी ने बछेरी को जन्म दिया तो फत्तू ने अपना वादा याद करते हुए कहा, "यह बछेरी तुम्हारी रही, सूरज-मूरज !"

जब भी फत्तू मुझे सूरज-मूरज कहकर बुलाता, मैं ख़ुशी से नाच उठता । मुझे लगता कि फत्तू ही नहीं, उसका अल्लाह भी मुझे सूरज-मूरज कहकर बुलाना पसन्द करेगा ।

फत्तू की उम्र कुछ कम न थी । मुझे लगता कि वह तो पिताजी से भी बड़ा है । फिर भी वह माँ को 'माँ जी' कहकर बुलाता । माँ को भी इतने बड़े बेटे पर कुछ कम गर्व नहीं था ।

कई बार मैं सोचता कि अब तक फत्तू का ब्याह क्यों नहीं हुआ। भाभी धनदेवी फत्तू के ब्याह की बात ले बैठती तो फत्तू कहता, "मैं भी तो सूरज-मूरज हूँ, भाभी ! ऐसी दुलहन कहाँ मिलेगी जो मेरी गुस्सैल तबीयत को बर्दाश्त कर सकेगी ?"

भाभी गम्भीर होकर कहती, "अपने मायके से मैं तुम्हारे लिए दुलहन ला सकती हूँ।"

फत्तू मुझे छेड़ते हुए कहता, "भाभी, पहले हमारे इस छोटे सूरज-मूरज के लिए ला दो एक दुलहन !"

भाभी मेरे गाल पर हाथ रखकर पूछती, "तुम ब्याह कराओगे ?"

मैं कहता, "भाभी; मैं तो सूरजी-मूरजी से ब्याह कराऊँगा !"

भाभी हँसकर कहती, "ओ हो ! सूरजी-मूरजी से ब्याह कराओगे ? पहले घोड़ी पर चढ़ना तो सीख लो !"

एक दिन फत्तू घोड़ी को बाहर नहर पर नहलाने के लिए ले जा रहा था। मुझे भी उसने अपने साथ बिठा लिया। पीछे-पीछे नीली बछेरी आ रही थी। फत्तू बोला, "यह हमारी नीली बछेरी तो कोई सूरजी-मूरजी मालूम होती है !"

रास्ते में घोड़ी भाग निकली तो मैं गिर गया; नीली बछेरी मेरे पास रुक-कर मुझे सूँघने लगी।

घोड़ी फत्तू के काबू में न थी। फिर किसी तरह घोड़ी को पास वाले पेड़ से बाँधकर फत्तू मेरे पास आकर बोला, "अरे सूरज-मूरज, तुम इस तरह गिरते रहोगे तो सूरजी-मूरजी से तुम्हारा ब्याह कभी नहीं होगा !"

कपड़ों से धूल झाड़ते हुए मैं फत्तू के साथ हो लिया और हम नहर पर जा पहुँचे। यह वही नहर थी जिसमें एक बार कुछ शराबी मित्रों ने अपने एक मित्र को डुबोकर मार डाला था।

बाबाजी कई बार बता चुके थे कि हमारी नहर में सतलज का पानी बहता है। मैंने तो कभी सतलज नहीं देखा था। एक दिन बाबाजी ने बतलाया कि किसी ज़माने में बुड्ढा दरिया हमारे गाँव के पास से बहता था। उसकी लीक अब तक बाकी थी। बाबाजी ज़ोर देकर कहते, "अफ़सोस तो यही है कि बुड्ढे दरिया ने रास्ता बदल लिया !"

एक दिन फत्तू मुझे दरिया की लीक दिखाने ले गया। वहाँ पहुँचकर फत्तू ने कहा, "सभी दरिया अल्लाह पाक की मरज़ी से बहते हैं और अल्लाह पाक की मरज़ी से ही अपना रास्ता बदलते हैं।"

मैंने हँसकर पूछ लिया, "हम किसकी मरज़ी से बहते हैं ?"

"हम भी उसी की मरज़ी से बहते हैं !" फत्तू ने ज़ोर देकर कहा, "लेकिन दरिया और इन्सान में एक फ़र्क है। वह फ़र्क है अक्ल का फ़र्क। अल्लाह पाक ने

इन्सान को अक्ल से काम लेने की आज़ादी दी है।"

फत्तू की बातें हमेशा मेरी समझ में नहीं आती थीं, लेकिन मैं यह ज़रूर महसूस करता था कि हमारा फत्तू बहुत मज़ेदार आदमी है।

नीली बछेरी मेरे साथ बड़ी हो रही थी। जाड़े के दिनों में एक बार पशुओं वाले घर के आँगन में बछेरी की पीठ पर हाथ फेरते हुए मैं सूरज-मूरज वाला गीत गाने लगा। मैंने सोचा कि बछेरी को भी ठण्ड लग रही होगी।

फत्तू ने हँसकर कहा, "देखो सूरज-मूरज, हमारा गाँव ऐसी जगह आबाद है जहाँ चारों तरफ़ बारह-बारह कोस तक गाँव ही गाँव बसे हुए हैं। इस घेरे में कोई सड़क नहीं है। लोग या तो पैदल चलते हैं या बैलगाड़ी अथवा रथ की सवारी करते हैं। ऊँट और घोड़े की सवारी भी बहुत काम देती है। तुम्हारे पिताजी को घोड़ी की सवारी पसन्द है।"

"मैं भी अपनी नीली बछेरी पर चढ़ूँगा, फत्तू।" मैंने ज़ोर देकर कहा।

फत्तू बोला, "नीली बछेरी पर नहीं चढ़ोगे तो सूरजी-मूरजी को कैसे ब्याहकर लाओगे?"

मैं हँस दिया। फत्तू घोड़े की पीठ पर खरहरा करता रहा; मैं सूरजा-मूरजा वाला गीत गाने लगा।

घर पहुँचते ही मैं भाभी धनदेवी के पास चला गया; वहीं मौसी भागवन्ती भी मिल गईं।

"तुम कहाँ थे, सूरज-मूरज?" भाभी ने पूछ लिया।

"सूरज-मूरज कहीं अपना रथ चलाता रहा होगा।" मौसी ने चुटकी ली।

सूरज-मूरज के रथ की बात मेरे लिए नई थी। मौसी बोली, "सूरज के रथ में तो सात घोड़े जुते रहते हैं।"

"और सूरज का रथ कहीं भी रुकता नहीं।" भाभी ने ज़ोर देकर कहा, "सूरज के रथ के घोड़े तो बड़े तेज़ हैं, उसके घोड़े कभी थकते नहीं, कभी सोते नहीं। इन घोड़ों का रास्ता रोकने की हिम्मत भला किसमें होगी?"

सूरजी जैसा सूरज

किसी के घर के द्वार पर शिरीष के पत्ते बँधे होते, तो हम समझ जाते कि इस घर में लड़के का जन्म हुआ है। लड़की के जन्म पर खुशी का यह निशान कभी नज़र न आता।

हमारे घर के सामने ताई गंगी का घर था। उनके द्वार पर एक दिन शिरीष के पत्ते बाँधे गये। भाभी धनदेवी ने हँसकर माँ से कहा, "गाय-भैंसें तो रोज़ ही ब्याती रहती हैं, घोड़ियाँ भी बछेरों या बछेरियों को जन्म देती रहती हैं। कभी इस खुशी में घर के द्वार पर शिरीष के पत्ते नहीं बाँधे जाते, न इस खुशी में हीजड़े नाच-नाचकर वधाई देते हैं!"

"तो तुम्हारा यह मतलब है धनदेवी, कि लड़कियों की जून भी गाय-भैंसों और घोड़ियों की जून है?" माँ ने चुटकी ली।

धनदेवी और माँ का मज़ाक मैं अधिक न समझ सका। धनदेवी ने मुझे पुचकारते हुए कहा, "गंगी ने एक और सूरज-मूरज को जन्म दिया है, आज तुम देख आओ न जाकर।"

मैं चुप रहा।

"देव तो किसी सूरजी-मूरजी को देखने ही जा सकता था, धनदेवी!" मौसी भागवन्ती ने हँसकर कहा।

माँ बोली, "यह तो मैं भी जानती हूँ कि हमारे इस सूरज-मूरज को लड़कों के साथ खेलने से कहीं अधिक लड़कियों के साथ खेलने में मज़ा आता है। इसीलिए मैं कहती हूँ कि हमारा यह सूरज-मूरज तो 'कुड़ियाँ वरगा मुण्डा'[१] है।"

मौसी बोली, "धनदेवी, कहीं दूर-नज़दीक से कोई सूरजी-मूरजी ला दो न हमारे इस सूरज-मूरज के लिए!"

धनदेवी ने हँसकर कहा, "हमारा यह सूरज-मूरज क्या किसी सूरजी-मूरजी से कम है?"

मैं झेंपकर परे हट गया।

जहाँ भी मैं पाँच-छः लड़कियों को इकट्ठी बैठे देखता, मैं भी उनके पास

१. लड़कियों-जैसा लड़का।

जाकर बैठ जाता। उस समय मुझे अपना गाँव बहुत अच्छा लगता, अपनी गली अच्छी लगती, अपना घर अच्छा लगता।

कभी-कभी मैं सोचता कि मेरा जन्म लड़की के रूप में क्यों न हुआ। यह बात मैं भाभी से भी पूछ चुका था। यह सुनते ही वह हँसी की फुलझड़ी बन जाती।

एक दिन मैंने बाबाजी से पूछा, "मैं लड़का क्यों हूँ, लड़की क्यों नहीं हूँ, बाबाजी ?"

वे हँसकर बोले, "इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि तुम लड़कियों के साथ मत खेला करो। लड़कों को तो लड़कों के साथ खेलना चाहिए।"

माँ का संकेत पाकर अब तो लड़कियाँ स्वयं भी मुझे अपने साथ खेलने से मना कर देतीं। मैंने आखिर लड़कियों का क्या बिगाड़ा है, यह बात मैं नहीं समझ सकता था।

मैं केवल लड़कों के साथ ही खेलूँ, इसका मुझे बहुत दुःख था। कई बार मैंने फत्तू से प्रार्थना की कि वह माँ से कहकर मुझे फिर से लड़कियों के साथ खेलने की आज्ञा दिला दे। मेरा विश्वास था कि फत्तू यह काम कर सकता है। लेकिन वह हमेशा यही कहता, "पागल मत बनो, सूरज-मूरज ! तुम लड़के हो, सूरजी-मूरजी नहीं हो !"

मुझे वे दिन रह-रहकर याद आते हैं जब मैं लड़कियों के साथ गेंद से खेलते-खेलते लड़कियों की ही तरह गेंद को प्रति पल गिरने से बचाते हुए गेंद के गिरने-उभरने के ताल पर थाल[1] गाया करता था। थाल के अनेक बोल मुझे याद हो गये थे। थाल मुझे अच्छे लगते थे।

उन दिनों अभी 'कच्ची पहली' की पढ़ाई खत्म नहीं हुई थी। स्कूल में पढ़ते-पढ़ते कई बार झपकी में उचककर कोई थाल मेरे सामने आ जाता और कहता, "मुझे पहचानते हो ?" स्कूल की पुस्तक की एक भी कविता मुझे थाल से अधिक दिलचस्प प्रतीत न होती। स्कूल की कविताओं पर तो बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती। फिर भी लगता जैसे वह कविता हाथ न आ रही हो, कबूतर की तरह फुर्र से उड़ जाना चाहती हो। थाल के बोल थे कि स्वयं उड़कर मेरे हाथ पर आ बैठते। मुझे थाल की पूरी पहचान थी, इसका अर्थ किसी मास्टरजी से पूछने की कोई जरूरत न थी। थाल के ताल पर मेरा दिल नाच उठता; मेरी रगों में बहने वाला खून तेज़ी से बहने लगता।

आग जलाकर मरने वाली लड़की का थाल मुझे सबसे अधिक सुन्दर लगता था :

---

१. पंजाबी लड़कियों का एक विशेष प्रकार का गीत।

आओ कुड़ियो आओ
मेरे लई अग्ग मचाओ
कोठे ते काँ
मैं सड़ जाँ
सज्जे बैठड़ी ओ सलाम
खब्बे बैठड़ी ओ सलाम
माँ रानी नूँ सलाम
पियो राजे नूँ सलाम
खूह दियाँ पिण्डाँ नूँ सलाम
वीर दियाँ पिण्डा नूँ सलाम
तुरदी कीड़ी नूँ सलाम
भाबो दी पीढ़ी नूँ सलाम
वीर दी पग्ग नूँ सलाम
बलदी अग्ग नूँ सलाम
कुड़िए थाल ई ![1]

स्कूल के शोर-भरे वातावरण में भी थाल के बोल सदा मेरे कानों में गूँजते रहते। रिसेस के पीरियड में मैं कभी-कभी आग जलाकर मरने वाली लड़की का थाल ज़ोर-ज़ोर से गाने की ग़लती कर बैठता; लड़के मास्टरजी से शिकायत कर देते कि मैं न ख़ुद अपना सबक याद करता हूँ न उन्हें सबक याद करने देता हूँ। इस पर मास्टरजी बुरी तरह मेरी खबर लेते, कान एंठते, तमाचे लगाते। मैं था कि मार खाकर भी मुँह में 'माँ रानी कसीदा कड्ढे' वाला थाल गुनगुनाने लगता :

माँ रानी कसीदा कड्ढे
वीरे दा व्याह
वीरा हौली हौली आ
तेरियाँ घोड़ियाँ नूँ घा[2]

कभी मैं बिसूरते-बिसूरते मुँह-ही-मुँह में गुनगुनाता :

---

१. आओ, लड़कियो, आओ, मेरे लिए आग मचाओ। कोठे पर काग। मैं मर जाऊँ। बायें बैठी लड़कियो, तुम्हें मेरा सलाम। दायें बैठी लड़कियो, तुम्हें मेरा सलाम। माँ रानी को सलाम, बाप राजा को सलाम। रहट की मटकियों को सलाम।'भाई के गाँवों को सलाम ! चली जा रही चिउँटी को सलाम। भावज के मचिये को सलाम। भाई की पगड़ी को सलाम। जलती आग को सलाम। ओ लड़की, पूरा हुआ थाल।

२. माँ रानी कसीदा काढ़ रही है। भाई का व्याह है। भैया, हौले-हौले आओ, मैं तुम्हारी घोड़ियों के लिए घास दूँगी।

रावी हिल्ले जुल्ले
झनाँ हिल्ले जुल्ले[1]

एक दिन क्लास में योगराज ने मास्टरजी से शिकायत कर दी, "मास्टर जी देखिए अब रावी और चनाब हिल रहे हैं !"

मास्टरजी ने मुझे पास बुलाकर ज़ोर से मेरी पीठ में घूँसा दे मारा और पूछा, "रावी और चनाब हिल रहे हैं तो तू क्यों नहीं हिल रहा ?"

पास से बुद्धराम बोला, "तब तो सतलज को पहले हिलना चाहिए, मास्टर जी !"

"तुम लोगों के लक्षण पढ़ने के मालूम नहीं होते !" मास्टरजी ने बिगड़कर कहा, और फिर मेरे कानों को दोनों हाथों से पकड़कर पहले तो मास्टरजी ने खूब मसला, फिर चार-पाँच बैठकें निकलवाईं, इतने में घंटी बज गई और मेरा पीछा छूटा।

मैं कानों में सोने की बालियाँ पहनता था। एक दिन मास्टरजी ने मेरे कानों को इतना मसला कि इन्हीं बालियों के कारण मेरे कानों में घाव हो गये और पीप पड़ गई।

मैंने घर आकर कहा, "सोने की बालियाँ उतार लो, माँ !"

सात रत्ती सोना माँ के सन्दूक में जा पहुँचा, माँ अलग खुश थी, मैं अलग खुश था कि अब मास्टरजी लाख कान मसलें, उतनी जल्द घाव नहीं हुआ करेंगे।

स्कूल से घर लौटकर मैं एक दिन 'कालड़िए कलबूतरिए' वाला थाल ज़ोर-ज़ोर से गाने लगा :

कालड़ीएँ कलबूतरीए
डेरा किथ्थे लाया ई
न तेरा न मेरा
फिरंगी वाला डेरा
कुड़िए थाल ई ![2]

बाबा जी ने मुझे बुलाकर कहा, "इधर आओ, देव ! मुझे भी सुनाओ यह गीत।"

मैं उनके पास चला गया तो वे बोले, "फिरंगी का डेरा कहाँ है ? यह तो अपना ही डेरा है।"

"पर गीत में तो फिरंगी का ही डेरा है, बाबा जी !" मैंने कहा।

---

१. रावी हिलती-डोलती है, चनाब हिलता-डोलता है।

२. ओ काली कबूतरी, डेरा कहाँ लगाया है ? न तुम्हारा न मेरा, यह तो फिरंगी वाला डेरा है। ओ, लड़की पूरा हुआ थाल।

मैं बाबाजी के सामने खड़ा रहा। उन्होंने फिर पूछा, "तुमने काली कबूतरी देखी है?"

"देखी क्यों नहीं, बाबाजी?" मैंने जवाब दिया, "एक दिन फत्तू ने पकड़कर मेरे हाथ में दे दी थी काली कबूतरी और वह फुर्र-से उड़ गई। मैं देखता ही रह गया।"

"कैसे उड़ गई?" बाबाजी ने पूछा।

चुटकी बजाकर मैंने कहा, "ऐसे ही उड़ गई, बाबाजी!"

कभी मैं लड़कियों को 'तोतकड़ा'[1] खेलते देखता तो मेरा दिल उनके साथ खेलने के लिए मचल उठता। दो लड़कियाँ आमने-सामने खड़ी हो जातीं। अपने-अपने हाथ निरन्तर एक-दूसरी के हाथों पर मारते हुए इस ताल पर तोतकड़ा का बोल भी गाती जातीं। तोतकड़ा का ताल मुझे प्रिय था। इस खेल का वह बोल तो कई बार मेरे ओठों पर आ जाता जिसमें सिकन्दर का नाम लिया जाता और साथ ही घोड़े की चर्चा भी की जाती। मैं सोचता कि मैं सूरज-मूरज हूँ और इसलिए घोड़ा भी मेरा ही है। 'तोतकड़ा' का वह बोल अलापते हुए मैं खुशी से नाचने लगता :

तोतकड़ा सिकन्दर दा
पानी पीवे मन्दर दा
कम्म करे भरजाई दा
नीला घोड़ा भाई दा[2]

मैं छः वर्ष का था[3]। पहली में पढ़ते काफ़ी दिन हो गये थे। योगराज मेरा घनिष्ठ मित्र था, उसके सामने न बुद्धराम ठहरता था, न ब्रजलाल, न मथुरादास। घर में हम पंजाबी में बोलते थे, स्कूल में उर्दू पढ़ते थे। मास्टरजी नाराज़ होते तो पंजाबी में ही गाली देते।

कई बार मैं ज़िद कर बैठता कि स्कूल नहीं जाऊँगा। एक बार चाचा लालचन्द ज़ोर लगाकर हार गये, मैंने उनके हाथ पर दाँत गाड़ दिया।

फत्तू को यह काम सौंपा गया कि वह मुझे स्कूल में पहुँचा आया करे। कभी वह मुझे सूरजा-मूरजा वाला गीत गाकर पुचकारता, कभी स्कूल के रास्ते में मुझसे 'तोतकड़ा सिकन्दर दा' वाला गीत सुनाने की फ़रमाइश करता। कई बार वह कहता, "अरे सूरज-मूरज, तुम पढ़ोगे नहीं तो बाबाजी को अखबार कैसे

१. पंजाबी लड़कियों का एक विशेष प्रकार का खेल।
२. सिकन्दर का तोतकड़ा मन्दिर का पानी पीता है। भावज का काम करता है। भाई का नीला घोड़ा है।
३. पिताजी के कथनानुसार मेरा जन्म १५ ज्येष्ठ संवत् १९६५ (२८ मई, १९०८) को हुआ था।

सुनाया करोगे ?"

"अखबार चाचाजी सुना देंगे !" मैं कहता, "और हमारी भैंसें तुम चराओगे।"

"और तुम ?"

"मैं खेलूँगा !"

स्कूल में सबसे अधिक पिटाई बुद्धराम की होती। जब कभी स्कूल में मेरी पिटाई की घड़ी समीप आती, छुट्टी की घंटी बज जाती और मास्टरजी झुँझलाकर कहते, "तुम्हारी किस्मत अच्छी है, देव ! जाओ तुम्हें छोड़ा। अब कल सबक याद करके आना।"

एक बुद्धराम था कि स्कूल की पिटाई के बाद उसकी पिटाई खत्म हो जाती थी, एक मैं था कि स्कूल में तो भले ही बच जाता लेकिन घर में बुरी तरह पिटता। वैसे पिताजी का ठेकेदारी का काम इस तरह का था कि उन्हें दिन-भर बाहर रहना पड़ता था और उन्हें इतनी फ़ुरसत न थी कि मेरी पढ़ाई में कोई दिलचस्पी ले सकें। लेकिन जब भी उन्हें गुस्सा आता, एक-आध चपत मारकर तो वह कभी न रुकते।

एक दिन पिताजी काम पर न गये। चाचा लालचन्द ने शिकायत कर दी, "हमारा यह देव मेरी बात तो सुनता ही नहीं। स्कूल की पढ़ाई में उसका मन नहीं लगता। इसे तो सूरज-मूरज वाले गीत ने पागल बना रखा है !"

पिताजी बुरी तरह बिगड़ उठे। मुझ पर एक साथ घूँसों और चपतों की बौछार होने लगी। मैं हैरान था कि यह देखना वह कैसे भूल गये कि गरमियों में तो कोई सूरज-मूरज वाला गीत नहीं गाता।

ताई शारदा देवी ने मुझे पिताजी के हाथों से बचाया। मैं उन्हें 'माँ जी' कहकर बुलाता था; वह मुझे माँ से भी कहीं अधिक चाहती थीं।

माँ तो पिताजी के भय से परे खड़ी रही। पिताजी ने झुँझलाकर कहा, "शारदा देवी, देव को इतना लाड़ लड़ाओगी तो एक दिन यह लड़का हमारे हाथ से निकल जायगा।"

माँ जी ने मुझे अपनी बाँहों में लेते हुए कहा, "अभी बच्चा ही तो है हमारा सूरज-मूरज !"

अन्दर से ताईजी ने झाँकते हुए कहा, "देव तो मुझे जयचन्द से भी प्यारा लगता है !"

माँ ने झट पास आकर कहा, "यह तो हमारा लड़कियों जैसा लड़का है, यह तो हमारा सूरजी जैसा सूरज है !"

कब्रें इन्तज़ार करती हैं

ताया रुलियाराम की मृत्यु के बाद ताई भानी बीमार रहने लगी थीं; उन्हें इस बात का ग़म सता रहा था कि उनका इकलौता बेटा जयचन्द अधिक न पढ़ सका और किसी अच्छे काम पर न लग सका। जयचन्द पहले भी एक-दो बार घर से भाग गया था। अब के वह फिर भाग गया तो ताईजी को बहुत सदमा पहुँचा।

मैं कहता, "ताईजी, कहानी सुनाओ!"

ताईजी कहतीं, "पहले यह बताओ कि जयचन्द कब लौटकर आयगा।"

"कल को ही आ जायगा जयचन्द, ताईजी।" मैं झट जवाब देता।

ताईजी यह सुनकर ख़ुशी से फूली न समातीं; वे बीमारी भी भूल जातीं। जयचन्द का कहीं पता न चलता। हर रोज़ ताईजी को जयचन्द की प्रतीक्षा रहती। फिर भी कहानियाँ सुनाने में उन्हें मज़ा आता।

ये कहानियाँ राजकुमारों और राजकुमारियों के बारे में होतीं। किसी कहानी में सौदागर का बेटा भी किसी राजकुमारी से ब्याह कराने के लिए चल पड़ता; उसे बड़ी कठिन परीक्षाओं में से गुज़रना पड़ता। फूलाँ रानी की कहानी मुझे पूरन भगत की कहानी से भी अधिक पसन्द थी। इन कहानियों में न जाने कैसे-कैसे चेहरे उभरते। मैं सोचता कि फूलाँ रानी को ब्याह लाना मेरे बायें हाथ का खेल है। कभी मैं पूरन भगत बन जाता और सोचता कि मुझे तो गुरु की तलाश में निकलना है। ताईजी की कहानियों में सब से मज़ेदार उस लड़की की कहानी थी जो अपनी सौतेली माँ के हाथों मारी गई थी। जिस जगह उसे दबाया गया था वहाँ एक पौधा उग आया था। उस पौधे पर फूल खिलते, और जब भी किसी का हाथ इन फूलों को तोड़ने के लिए उनकी ओर बढ़ता, फूलों से आवाज़ आती, "हमें कोई न छुए, हमें कोई न तोड़े!" ये फूल सारी कहानी सुना देते कि किस तरह वह लड़की सौतेली माँ के हाथों मारी गई थी। वैसे तो यह कहानी नूरा चरवाहा भी सुना चुका था, लेकिन ताई भानी के मुँह से तो यह कहानी बार-बार सुनने के लिए मन ललचा उठता। कहानी सुनाने के बाद वह कहती, "किसी को मारना इतना आसान नहीं है, बेटा! आदमी कभी नहीं मरता। उस लड़की की तरह मरकर फिर पैदा हो जाता है, फूल बनकर खिल उठता है।"

ताईजी से सुनी हुई मरकर फूल बनने वाली लड़की की कहानी मैंने एक दिन बाबा जी को सुनाई तो वे बोले, "अपने काम में इन्सान ज़िन्दा रहता है, बेटा ! अपने अधूरे छोड़े हुए काम को पूरा करने के लिए इंसान फिर जन्म लेता है इस संसार में !"

ताई भानी को कई बार लगता कि वह शीघ्र ही मर जायगी। वह कहतीं, "मेरी एक इच्छा ज़रूर है कि मरने से पहले जयचन्द को देखती जाऊँ।" मुझे लगता कि यदि ताईजी जयचन्द के लौटने से पहले ही चल बसीं, तो वह मरने के बाद फिर आयेंगी इस संसार में—अपने अधूरे काम को पूरा करने के लिए।

मौसी भागवन्ती कहती, "बेबे ! तुम हर वक्त मौत को आवाज़ें न दिया करो।"

ताईजी कहतीं, "मैं जयचन्द के आने से पहले ही चल बसी तो उससे कहना कि मेरा श्राद्ध प्रेम से करे !"

मैं चुपके-से ताईजी के कान में कह देता, "ताईजी, जयचन्द ने आपका श्राद्ध न किया तो मैं तो हूँ।"

ताईजी की आँखों में एक नई ही चमक आ जाती; बड़े प्यार से मुझे अपने पास बिठातीं। ताई जी का प्यार तो माँ और 'माँ जी' के प्यार से भी कहीं गहरा था। वह बड़ी गम्भीर मुद्रा में बैठी रहतीं, जैसे वह कुछ सोच रही हों।

एक दिन ताईजी ने सावित्री और सत्यवान की कथा सुनाने के बाद कहा, "सत्यवान तो चला गया, सावित्री भी चली जायगी।"

माँ जी की बड़ी बहन की लड़की सावित्री ने ताईजी के मुँह से ये शब्द सुने तो वह चौंक पड़ी।

मैंने कहा, "सावित्री तो हमारे घर में है, ताईजी ! सत्यवान कहाँ रहता है ?"

सावित्री झेंप-सी गई। लेकिन ताईजी ने कहा, "बेटा, मैं तो अपनी ही तुलना कर रही थी सावित्री से।"

कई बार ताईजी धीरे-धीरे गुनगुनाने लगतीं :

> जिन्द वहुटी जम लाड़ा
> व्याह के लै जाऊँगा ![1]

ताईजी कहानी सुनाते-सुनाते रुककर कहतीं, "दमा तो मेरे दम के साथ ही जायगा। यम अब आता ही होगा। मेरा व्याह होने वाला है। मैं दुलहन बनूँगी।"

माँ जी, सावित्री और मौसी भागवन्ती को एक बार कहीं जाना पड़ा; पिता जी भी कई दिन से बाहर थे। घर में माँ, ताईजी और बाबाजी थे, या फिर मैं

---

१. जिन्दगी दुलहन है, यम दूल्हा है; वह उसे ब्याह कर ले जायगा।

और छोटा भाई विद्यासागर। ताईजी की तबीअत पहले से ज़्यादा खराब रहने लगी।

मैं तीसरी में पढ़ता था। सरदियों के दिन थे। ताईजी की कहानियों में मुझे बहुत रस आता था। मुझे पास बिठाकर एक दिन ताईजी ने वह कहानी सुनाई जिसमें राजा के मरने के बाद ढोल बजाकर यह मुनादी की गई थी कि अगले दिन नगर के मुख्य द्वार पर बाहर से आने वाले पहले आदमी को राजा चुन लिया जायगा। और मैं सोच रहा था कि मुझे तो अभी कोई ऐसा राज नहीं चाहिए। ताईजी ख़ामोश हो गईं; कहानी बीच में ही छूट गई। उनकी तबीअत बहुत ख़राब थी।

आधी रात के बाद माँ ने मुझे जगाया। माँ बहुत घबराई हुई थी। ताईजी का मुँह खुला था, आँखें खुली थीं; उनका साँस ज़ोर-ज़ोर से चलने लगा।

फिर माँ ने मुझे कुछ इशारा किया। मैं समझ न सका। माँ के चेहरे पर कुछ रौनक आ गई। उसने मेरे कान में कहा, "अब तो तुम्हारी ताईजी का साँस ठीक चल रहा है।"

ताईजी की आँख लगने लगी। माँ ने कहा, "दौड़कर धनदेवी को तो बुला लाओ, देव! विद्यासागर को जगा लो। दोनों भाई मिलकर धनदेवी को बुलाने चले जाओ।"

हम धनदेवी को लेकर आये तो माँ और भी घबराई हुई नज़र आई। धन-देवी ताईजी के सिर की तरफ़ लपकी, माँ ने उनके पैरों को सहारा दिया। ताई जी को ज़मीन पर लिटा दिया गया।

विद्यासागर मुझसे दो-ढाई साल छोटा था। वह डर गया; उसकी चीख निकल गई।

बाबाजी पास ही सो रहे थे; उनकी आँख खुल गई। वे आकर ताईजी के पास बैठ गये; मुँह से कुछ न बोले। दीये के प्रकाश में बाबाजी बड़े गम्भीर नज़र आ रहे थे। धनदेवी सहमी हुई थी। माँ तो जैसे छटपटा रही हो। बाबाजी ज़रा न घबराये।

बाबाजी ने कहा, "तुम जाकर सो जाओ, विद्यासागर!"

विद्यासागर अपने बिस्तर में चला गया और उसने रज़ाई में मुँह छिपा लिया।

बाहर अन्धकार था। कोठे के अन्दर भी टिमटिमाते दीये का प्रकाश अधिक न था। ताईजी की हालत खराब होती गई। उनकी आँखें पथरा गईं, घिग्घी-सी बँध गई। उनका साँस कभी बन्द होने लगता, कभी फिर चलने लगता। माँ और धनदेवी की बातें कभी इशारों में होने लगतीं, कभी साफ़-साफ़।

धनदेवी ने कहा, "बेबे का साँस आसानी से नहीं निकलेगा।"

"तो क्या उपाय किया जाय ?" माँ ने पूछा।

"इसके लिए तो बेबे की इच्छा पूरी करनी होगी, गोदान कराना चाहिए।"

बाबाजी ने धनदेवी की बात सुन ली। "गोदान ?" उन्होंने पूछा, "क्या यह सब ज़रूरी है, बेटा ?"

कुछ क्षणों के लिए बाबाजी खामोश हो गये। उनकी निगाह कमज़ोर थी। ताईजी की पथराई हुई आँखें उन्हें नज़र नहीं आ रही थीं। वे कुछ सोच रहे थे।

माँ गंगाजल की बोतल निकाल लाई, धनदेवी ने ताईजी के मुँह में गंगाजल की कुछ बूँदें टपकाईं।

धनदेवी बोली, "गोदान तो अवश्य कराना चाहिए।"

अब बाबाजी से भी न रहा गया। बोले, "देव, धनदेवी से कहो कि दौड़कर पुरोहितजी को बुला लाये और आती हुई 'पाधा' (उपाध्याय) भगतराम को भी लेती आये।"

धनदेवी झट चली गई।

बाबाजी ने कहा, "देव, जाकर फत्तू से कहो कि गोरी गाय ले आये।"

गली में अँधेरा था। मेरे जी में आया कि विद्यासागर को जगाकर साथ लेता जाऊँ। पर मैं अकेला ही चल पड़ा। फत्तू खर्राटे भर रहा था। मैंने उसे जगाया और बताया कि ताईजी की हालत बहुत खराब हो रही है और बाबाजी ने कहा है कि गोरी गाय लेकर फ़ौरन आ जाओ।

जब हम गाय लेकर पहुँचे तो पाधाजी कुछ मन्त्र पढ़ रहे थे। फिर गाय का रस्सा पुरोहितजी के हाथ में थमा दिया गया और वे असीस देते हुए गाय लेकर चले गये।

पाधाजी बोले, "लालाजी, कहो तो गीता का पाठ किया जाय।"

गीता का पाठ आरम्भ किया गया, पर यह भी ताईजी को न बचा सका। ताईजी ने अन्तिम हिचकी ली; पंछी उड़ गया।

बाबाजी ने फत्तू को पास बुलाकर कहा, "तुम देव को अपने साथ ले जाओ, फत्तू !"

पशुओं वाले घर में पहुँचकर फत्तू देर तक चुप साधे बैठा रहा। फिर उसने कहा, "जयचन्द का कुछ पता नहीं, उसकी माँ इस दुनिया से चल बसी। अल्लाह किसी से उसकी माँ न छीने !"

"तो अल्लाह ऐसा क्यों करता है, फत्तू ?" मैंने ज़ोर देकर कहा।

"वैसे देखें तो इसमें अल्लाह का कोई कसूर नहीं है।"

"तो किसका कसूर है ?"

"इन्सान अपनी उम्र लिखाकर लाता है। जब वह पूरी हो जाती है तो इन्सान इस दुनिया से कूच बोल देता है।"

फत्तू की बात मैं न समझ सका। मैं देर तक सोचता रहा। मैंने कहा, "तो गाय, भैंसें और घोड़ियाँ भी अपनी उम्र लिखाकर लाती हैं, फत्तू ?"

"ज़रूर।"

मैं अपनी नीली बछेरी के बारे में सोचने लगा। मैंने सोचा कि यह बछेरी तो बहुत लम्बी उम्र लिखाकर लाई होगी।

फत्तू बोला, "हिन्दू इन्सान के जिस्म को जला देते हैं, मुसलमान इसे कब्र में दबा देते हैं।"

"दोनों में क्या फ़र्क है, फत्तू ?"

"ज़्यादा फ़र्क तो नहीं है।"

"तम दोनों में किसे पसन्द करते हो, फत्तू ?"

"मैं कहता हूँ इन्सान का जिस्म मिट्टी का बना हुआ है। इसलिए मरने के बाद इन्सान को कब्र में दबाना ही अच्छा है। हाँ, अगर इन्सान का जिस्म लकड़ी जैसा होता तो मैं भी यही कहता कि उसे मरने के बाद जलाना ज़्यादा अच्छा है।"

मैं फिर सोच में डूब गया। फत्तू गुनगुनाने लगा :

कब्रां उड़ीकदियाँ
ज्यों पुत्राँ नूँ मावाँ।[1]

यह गीत मैं पहले भी सुन चुका था। नूरा चरवाहा तो जब देखो इसी में अपने दिल का दर्द समो देता था। नूरा ने कभी मुझे यह नहीं बताया था कि उसे क्या तकलीफ़ है और वह यह क्यों सोचता है कि कब्र उसका इन्तज़ार कर रही है। अब अवसर पाकर मैंने फत्तू से कहा, "नूरा बहुत जल्द मर जायगा, फत्तू !"

"यह मत कहो, देव !" फत्तू बोला, "नूरा सुनेगा तो क्या कहेगा।"

"तो क्या वह कहेगा कि वह मरना नहीं चाहता ?"

"और नहीं तो ?"

"तो वह यह कब्रों वाला गीत हर वक्त क्यों गाता रहता है ?"

फत्तू खामोश हो गया। ताईजी की मृत्यु का उसे कुछ कम ग़म न था। मैंने सोचा कि ज्यादा बातें अच्छी नहीं। मुझे सो जाना चाहिए।

फत्तू आग जलाकर हाथ तापने लगा। पास ही घोड़ी और बछेरी जमीन पर पड़ी सो रही थीं। आग की रोशनी में घोड़ी और बछेरी के चेहरे मुझे बड़े गम्भीर मालूम हुए। फत्तू बोला, "तुम सो क्यों नहीं जाते, देव ?"

चारपाई से उसने अपना बिस्तर इकट्ठा करके मेरे लिए जगह बनाते हुए कहा, "अपने क़म्बल में लिपटकर सो जाओ। मैं आग जलाकर दालान को गरम करता हूँ।"

---

१. कब्रें इन्तज़ार करती हैं, जैसे माताएँ पुत्रों का इन्तज़ार करती हैं।

मैं कम्बल में लिपटकर लेट गया। मुझे नींद नहीं आ रही थी। मेरे मन पर ताई जी की मृत्यु का बोझ था; इस बोझ के साथ उनकी कहानियों का बोझ भी तो था। मैंने सोचा अब हमें ऐसी कहानियाँ कौन सुनाया करेगा, जयचन्द को मालूम होगा तो वह कितना रोयेगा। मुझे भी तो रोना आ रहा था। मैंने कहा, "क्या ही अच्छा होता कि सभी लोग मुरदे को कब्र में दबाना पसन्द करते, फत्तू !"

"तुम सो क्यों नहीं जाते, देव ?" फत्तू ने डाँटकर कहा।

"नींद भी तो नहीं आ रही, फत्तू !" मैंने जैसे किसी दर्द के नीचे दबे हुए सिर उठाकर कहा।

"आँखें बन्द कर लो, नींद तो अपने-आप आ जायगी।"

मैंने आँखें बन्द कर लीं। लेकिन मैं अधमुँदी पलकों से फत्तू को देखता रहा।

फत्तू आग पर हाथ ताप रहा था। उपलों की आग से हलकी-हलकी लपटें निकल रही थीं। फत्तू ने जैसे आग से बातें करते हुए कहा, "सारी बात तो आग की है। जब इन्सान के अन्दर की आग बुझ जाती है तो इन्सान मर जाता है। मर-कर इन्सान मिट्टी बन जाता है। मिट्टी मिट्टी का इन्तज़ार करती है। मिट्टी ही इन्सान की माँ है। कब्र में इन्सान क़यामत तक सोया रहता है···"

"क़यामत क्या होती है, फत्तू ?" मैंने झट पूछ लिया।

"तो तुम सोये नहीं अभी तक ?" फत्तू ने मुझे डाँटने के अन्दाज़ में कहा, "तुम्हें क्या लेना है क़यामत से ? लेकिन तुम पूछे बिना भी तो नहीं मानोगे। क़यामत और हश्र एक ही बात है। क़यामत या हश्र वह दिन है जब मुरदे कब्रों से उठकर खड़े हो जायँगे और अल्लाह उनका इन्साफ़ करेगा।"

यह बात मेरी समझ में न आई। मैं पूछना चाहता था कि मुरदे कब्रों से उठकर कैसे खड़े हो जायँगे। मैंने कहा, "तुम तो कह रहे थे फत्तू, कि मिट्टी मिट्टी का इन्तज़ार करती है और मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है।"

"तुमने क्या लेना है इन बातों से ? इन्साफ़ करना तो अल्लाह का काम है। अल्लाह पाक इन्सान का इन्साफ़ ज़रूर करते हैं।"

मैं सोचने लगा कि अगर अल्लाह इन्सान का इन्साफ़ करता है तो भगवान् क्या करता है। यह सोचते-सोचते मेरी आँख लग गई।

मेरी आँख खुली तो दिन चढ़ चुका था। घोड़ी और बछेरी को आँगन में बाँध दिया गया था। फत्तू कहीं नज़र न आया।

मैं उठकर नीली बछेरी के पास चला गया। वह मुझे देखकर हिनहिनाई। मैंने उसके कान के पास मुँह ले जाकर कहा, "हमारी ताईजी चल बसीं और जयचन्द मालूम नहीं कहाँ है।"

फत्तू की बात मैं न समझ सका। मैं देर तक सोचता रहा। मैंने कहा, "तो गाय, भैंसें और घोड़ियाँ भी अपनी उम्र लिखाकर लाती हैं, फत्तू ?"

"ज़रूर।"

मैं अपनी नीली बछेरी के बारे में सोचने लगा। मैंने सोचा कि यह बछेरी तो बहुत लम्बी उम्र लिखाकर लाई होगी।

फत्तू बोला, "हिन्दू इन्सान के जिस्म को जला देते हैं, मुसलमान इसे कब्र में दबा देते हैं।"

"दोनों में क्या फ़र्क है, फत्तू ?"

"ज़्यादा फ़र्क तो नहीं है।"

"तुम दोनों में किसे पसन्द करते हो, फत्तू ?"

"मैं कहता हूँ इन्सान का जिस्म मिट्टी का बना हुआ है। इसलिए मरने के बाद इन्सान को कब्र में दबाना ही अच्छा है। हाँ, अगर इन्सान का जिस्म लकड़ी जैसा होता तो मैं भी यही कहता कि उसे मरने के बाद जलाना ज़्यादा अच्छा है।"

मैं फिर सोच में डूब गया। फत्तू गुनगुनाने लगा :

कब्रां उड़ीकदियाँ
ज्यों पुत्ताँ नूँ मावाँ।[1]

यह गीत मैं पहले भी सुन चुका था। नूरा चरवाहा तो जब देखो इसी में अपने दिल का दर्द समो देता था। नूरा ने कभी मुझे यह नहीं बताया था कि उसे क्या तकलीफ़ है और वह यह क्यों सोचता है कि कब्र उसका इन्तज़ार कर रही है। अब अवसर पाकर मैंने फत्तू से कहा, "नूरा बहुत जल्द मर जायगा, फत्तू !"

"यह मत कहो, देव !" फत्तू बोला, "नूरा सुनेगा तो क्या कहेगा।"

"तो क्या वह कहेगा कि वह मरना नहीं चाहता ?"

"और नहीं तो ?"

"तो वह यह कब्रों वाला गीत हर वक्त क्यों गाता रहता है ?"

फत्तू खामोश हो गया। ताईजी की मृत्यु का उसे कुछ कम ग़म न था। मैंने सोचा कि ज़्यादा बातें अच्छी नहीं। मुझे सो जाना चाहिए।

फत्तू आग जलाकर हाथ तापने लगा। पास ही घोड़ी और बछेरी ज़मीन पर पड़ी सो रही थीं। आग की रोशनी में घोड़ी और बछेरी के चेहरे मुझे बड़े गम्भीर मालूम हुए। फत्तू बोला, "तुम सो क्यों नहीं जाते, देव ?"

चारपाई से उसने अपना बिस्तर इकट्ठा करके मेरे लिए जगह बनाते हुए कहा, "अपने क़म्बल में लिपटकर सो जाओ। मैं आग जलाकर दालान को गरम करता हूँ।"

---

१. कब्रें इन्तज़ार करती हैं, जैसे माताएँ पुत्रों का इन्तज़ार करती हैं।

मैं कम्बल में लिपटकर लेट गया। मुझे नींद नहीं आ रही थी। मेरे मन पर ताई जी की मृत्यु का बोझ था; इस बोझ के साथ उनकी कहानियों का बोझ भी तो था। मैंने सोचा अब हमें ऐसी कहानियाँ कौन सुनाया करेगा, जयचन्द को मालूम होगा तो वह कितना रोयेगा। मुझे भी तो रोना आ रहा था। मैंने कहा, "क्या ही अच्छा होता कि सभी लोग मुरदे को क़ब्र में दबाना पसन्द करते, फत्तू!"

"तुम सो क्यों नहीं जाते, देव?" फत्तू ने डाँटकर कहा।

"नींद भी तो नहीं आ रही, फत्तू!" मैंने जैसे किसी दर्द के नीचे दबे हुए सिर उठाकर कहा।

"आँखें बन्द कर लो, नींद तो अपने-आप आ जायगी।"

मैंने आँखें बन्द कर लीं। लेकिन मैं अधमुँदी पलकों से फत्तू को देखता रहा।

फत्तू आग पर हाथ ताप रहा था। उपलों की आग से हलकी-हलकी लपटें निकल रही थीं। फत्तू ने जैसे आग से बातें करते हुए कहा, "सारी बात तो आग की है। जब इन्सान के अन्दर की आग बुझ जाती है तो इन्सान मर जाता है। मर-कर इन्सान मिट्टी बन जाता है। मिट्टी मिट्टी का इन्तज़ार करती है। मिट्टी ही इन्सान की माँ है। क़ब्र में इन्सान क़यामत तक सोया रहता है..."

"क़यामत क्या होती है, फत्तू?" मैंने झट पूछ लिया।

"तो तुम सोये नहीं अभी तक?" फत्तू ने मुझे डाँटने के अन्दाज़ में कहा, "तुम्हें क्या लेना है क़यामत से? लेकिन तुम पूछे बिना भी तो नहीं मानोगे। क़यामत और हश्र एक ही बात है। क़यामत या हश्र वह दिन है जब मुरदे क़ब्रों से उठकर खड़े हो जायँगे और अल्लाह उनका इन्साफ़ करेगा।"

यह बात मेरी समझ में न आई। मैं पूछना चाहता था कि मुरदे क़ब्रों से उठकर कैसे खड़े हो जायँगे। मैंने कहा, "तुम तो कह रहे थे फत्तू, कि मिट्टी मिट्टी का इन्तज़ार करती है और मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है।"

"तुमने क्या लेना है इन बातों से? इन्साफ़ करना तो अल्लाह का काम है। अल्लाह पाक इन्सान का इन्साफ़ ज़रूर करते हैं।"

मैं सोचने लगा कि अगर अल्लाह इन्सान का इन्साफ़ करता है तो भगवान् क्या करता है। यह सोचते-सोचते मेरी आँख लग गई।

मेरी आँख खुली तो दिन चढ़ चुका था। घोड़ी और बछेरी को आँगन में बाँध दिया गया था। फत्तू कहीं नज़र न आया।

मैं उठकर नीली बछेरी के पास चला गया। वह मुझे देखकर हिनहिनाई। मैंने उसके कान के पास मुँह ले जाकर कहा, "हमारी ताईजी चल बसीं और जयचन्द मालूम नहीं कहाँ है।"

बछेरी हिनहिनाई, जैसे कह रही हो—तुम्हारी ताईजी के मरने का मुझे भी ग़म है !

इतने में फत्तू विद्यासागर को लिये हुए आ निकला। वह बराबर गुनगुनाता रहा था :

कब्राँ उड़ीकदियाँ
ज्यों पुत्ताँ नूँ मावाँ ![1]

"तुम कब जागे, विद्यासागर !" मैंने पूछा।

विद्यासागर ने मुँह फेर लिया। उसने कुछ जवाब न दिया। फत्तू बोला, "विद्यासागर तुमसे नाराज़ है, देव !"

"किसलिए नाराज़ है ?"

"इसलिए कि तुमने उसे क्यों न जगा दिया जब ताईजी इस दुनिया से कूच कर गईं।"

"कूच कहाँ कर गईं ताईजी ?" मैंने कहा, "अभी तो वह वहीं पड़ी होंगी। चलो विद्यासागर, हम चलकर ताईजी को देख आयें।"

"तुम लोग वहाँ नहीं जा सकते।" फत्तू ने डाँटकर कहा।

मैंने कहा, "क्यों नहीं जा सकते ?"

"बाबाजी का यही हुक्म है।" फत्तू ने फिर डाँटकर कहा, "तुम्हें आज यहीं रहना होगा।"

इतने में विद्यासागर घर की तरफ़ भाग गया। फत्तू उसे पकड़ने के लिए भागा।

मुझे लगा कि अल्लाह और भगवान् इसी तरह इन्सान का पीछा करते होंगे। मुझे याद आया कि एक बार नूरा चरवाहा कह रहा था, "फत्तू तो अल्लाह पाक के हुक्म से तुम लोगों के घर में काम करता है और इसीलिए वह तनख़्वाह नहीं लेता।"

फत्तू लौटकर न आया तो मेरे जी में आया—मैं भी घर भाग जाऊँ। फत्तू मेरा भी क्या बिगाड़ लेगा ? बाबाजी ने यह कभी नहीं कहा होगा कि हम ताईजी का मुँह नहीं देख सकते।

मैं बाहर निकला तो देखा कि फत्तू विद्यासागर को लिये हुए आ रहा है।

मैं भी उनके साथ शराफ़त से आँगन में आ गया। फत्तू घोड़ी के जिस्म पर खरहरा करता रहा। मुझे लगा कि हमारा घर तो भगवान् का घर है और फत्तू के रूप में अल्लाह बिना कोई तनख़्वाह लिए भगवान् के घर में काम कर रहा है। मैंने सोचा कि इसी तरह भगवान् को भी बिना तनख्वाह लिए अल्लाह के घर में

---

१ कब्रें राह तकती हैं, जैसे माँ अपने बेटों की।

काम करना होगा ।

फत्तू के दुबले-पतले चेहरे पर झुर्रियाँ बहुत गहरी मालूम हो रही थीं। सूरज की किरणों में फत्तू की झुर्रियाँ चमकने लगीं। जैसे उसका चेहरा सोने में ढाला गया हो ।

फत्तू घोड़ी के खरहरा करते-करते गुनगुनाता रहा :

कब्राँ उड़ीकदियाँ
ज्यों पुत्राँ नूँ मावाँ !

मुझे लगा कि फत्तू नहीं बोल रहा, मिट्टी बोल रही है, मिट्टी का इन्तज़ार करने वाली मिट्टी बोल रही है। अगले ही क्षण मुझे महसूस हुआ कि सूरज की धूप में अभी हमारी मिट्टी तो बहुत गरम है, हमारी आग तो अभी नहीं बुझी, हमारा इन्तजार करने की तो मिट्टी को अभी कोई ज़रूरत नहीं है !

दही का कटोरा

ताई भानी की याद सबसे ज़्यादा ताई गंगी को ही आती; बात-बात में वह ताई भानी का ज़िक्र ले बैठती। किस तरह ताईजी की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद जयचन्द कहीं से आ निकला और किस तरह ताई गंगी ने ही उसे उसकी माँ के जीवन के अन्तिम क्षणों की कहानी सुनाई, किस तरह जयचन्द की आँखों में आँसू भर आये थे—ताई गंगी यह प्रसंग हर किसी को सुनाने बैठ जाती।

ताई गंगी का घर हमारे घर के सामने न होता तो शायद मुझे उसकी आवाज़ इतनी बार सुनने को न मिलती। बात करते समय वह खूब नमक-मिर्च लगाती, यही उसकी कला थी। ताई भानी की मृत्यु के बारे में वह यों बात करती जैसे यह उसकी आँखों-देखी घटना हो। कई बार मेरे जी में आता कि मैं ताई गंगी को टोककर कहूँ—इतना झूठ क्यों बोल रही हो, ताई! भाभी धनदेवी ने तो ज़रूर ताईजी को मरते देखा था, तुम तो उस वक्त सो रही होगी अपनी रज़ाई में। लेकिन मुझे यह बात कहने का कभी साहस न होता।

फत्तू को रोककर ताई गंगी कई बार कह उठती, "गोरी गाय का दान करने पर भी भानी चल बसी, फत्तू!"

"अल्लाह को रिश्वत नहीं दी जा सकती, ताई!" फत्तू चुटकी लेता।

ताई गंगी की आँखों में एक नई चमक आ जाती, जैसे उसे फत्तू की बात पर विश्वास आ रहा हो।

"पर तुमने कभी अपने अल्लाह से यह भी पूछा है फत्तू, कि वह हम लोगों को आराम से जीने क्यों नहीं देता?" यह कहते हुए ताई गंगी हँस पड़ती।

"इसमें आधा कुसूर अल्लाह का है आधा भगवान् का!" फत्तू चुटकी लेता।

"अच्छा तो तुम यह मानते रहो, फत्तू!" गंगी फत्तू को झट हराने के अन्दाज में कहती, "मेरी नज़र में तो अल्लाह और भगवान् एक हैं, दो नहीं हैं!"

"दो भी नहीं हैं और एक भी नहीं हैं!" पास से धनदेवी कह उठती।

"मैं तो अल्लाह और भगवान् को एक ही मानती हूँ!" गंगी अपनी ही बात पर कायम रहती।

फत्तू दिल से ताई गंगी की बहुत इज़्ज़त करता था। उसकी समझ में यह बात न आती कि ताई गंगी अपने बच्चों को हमेशा गालियाँ क्यों देती रहती है। कई बार ताई गंगी फत्तू से कहती, "देव तो फूल जैसा लड़का है। फूल को मार पड़ेगी तो फूल मुरझा जायगा!"

गंगी की यह बात एक बार पिताजी ने सुनी तो कसम खा ली कि मुझ पर हाथ नहीं उठायेंगे। फत्तू ने पास आकर कहा, "ताई, अपने बच्चों पर तो तुम कभी नरमी नहीं दिखातीं, हमेशा उन पर हुक्म चलाती हो, फिर देव में ही ऐसी क्या बात है कि तुम हमेशा उसकी तारीफ़ों के पुल बाँध देती हो? अपने बच्चों को तो तुम यों समझती हो जैसे जंगली पौधों की तरह उग आये हों और तुम उन्हें जितना काटती-छाँटती रहोगी उतने ही बढ़ेंगे।"

"देव तो गमले का पौधा है," गंगी ने हँसकर कहा, "उससे उतरकर मेरा प्यार जयचन्द के लिए है, लेकिन वह तो घर में टिककर नहीं बैठता।"

फत्तू बोला, "जयचन्द तो अनाथ हो गया, ताई! बाप पहले ही मर चुका था, अब उसकी माँ भी मर गई। बेचारा जयचन्द पता नहीं कहाँ भटक रहा होगा। मैं पूछता हूँ क्या जयचन्द को घर अच्छा नहीं लगता? वह तो हमेशा कहीं-न-कहीं भटकता रहता है। अब उसे ज़िन्दगी-भर माँ तो मिलने से रही। माँ तो बाज़ार में नहीं बिकती। माँ कोई दही की कटोरी नहीं है कि जब चाहो ले लो पैसे देकर। माँ तो एक ही बार मिलती है!"

मैं कई बार सोचता कि ताई गंगी जैसी माँ तो हमारी गली में दूसरी न होगी। क्या हुआ अगर गंगी अपने बच्चों को गालियाँ देते कभी थकती नहीं, लेकिन माँ की गालियाँ तो घी की धाराएँ हैं। मैं सोचता माँ मारती भी है और चोट भी नहीं आने देती। ताई गंगी के लिए मेरे मन में सम्मान की भावना बढ़ती ही जा रही थी। कई बार ताई गंगी मुझे यों बुलाती जैसे हमारी नीली बछेरी हिनहिनाकर प्यार जताती। कई बार वह मुझे यों बुलाती जैसे पड़ोस में बैरागियों के मन्दिर में शंख बज उठता।

अकसर ताई गंगी मुझसे स्कूल की बातें पूछने लगती। मुझे उसका स्कूल के बारे में कुछ पूछना बिलकुल अच्छा न लगता। मैं कहता, "तो क्या तुम्हारा इरादा अमरनाथ और झण्डूराम को स्कूल में दाखिल कराने का है, ताई?"

"मेरे लड़के अब क्या पढ़ेंगे स्कूल में?" ताई गंगी घड़ाघड़ाया-सा जवाब देती, "हमारे लड़कों ने कौन-सा तहसीलदार या वकील बनना है? हमारे लड़के तो उमर-भर हल ही चलायेंगे, देव!"

एक दिन मैंने कहा, "ताई, तुम चाहो तो अमरनाथ भी तहसीलदार बन सकता है।"

"वह तो पटवारी भी नहीं बन सकता," ताई गंगी बोली, "वैसे हम भी

खत्री हैं तुम्हारी तरह, पर हमारे बच्चों की पढ़ाई तो ज़मीन पर ही होती है।"

कई बार ताई गंगी जयचन्द की बात ले बैठती, जो फौज में कम्पाउंडर भरती होकर लड़ाई पर बसरे चला गया था। एक दिन मैं स्कूल से आया तो ताई गंगी हमारे आँगन में खड़ी माँ से कह रही थी, "आज जयचन्द की माँ ज़िन्दा होती तो कितनी खुश होती। मैं कहती हूँ जयचन्द ही सबसे खुशकिस्मत निकला जिसे इतनी अच्छी नौकरी मिल गई। पर मैं तो हैरान हूँ कि कम्पाउंडरी पास किये बिना ही वह कम्पाउंडर कैसे बन गया।"

मैंने कहा, "ताई, मैं तो डाक्टर बनूँगा।"

"ज़रूर डाक्टर बनना!" ताई गंगी ने चुटकी ली, "पर पहले यह बता दो कि तुम हमारा इलाज ठीक-ठीक किया करोगे या नहीं?"

उसी समय फत्तू आ गया। उसने ताई गंगी को सम्बोधित करते हुए कहा, "ताई, तुम दूसरों के साथ इतनी मिठास से बोलती हो, लेकिन तुम अमरनाथ और झण्डूराम को तो हमेशा गाली देकर बुलाती हो। अल्लाह पाक को तुम्हारी यह आदत कभी पसन्द नहीं आ सकती।"

"अल्लाह को पसन्द नहीं फत्तू, तो भगवान को तो पसन्द आ सकती है!" पास से मौसी भागवन्ती ने कहा, "गंगी के द्वार पर अल्लाह आये चाहे भगवान्, वह तो उन्हें भैंस के दूध का ताज़ा जमा हुआ दही खिलाकर ही खुश कर लेगी!"

"अल्लाह दही नहीं खाता!" भाभी धनदेवी ने चुटकी ली, "अल्लाह तो गोश्त खाता है!"

"हमारा फत्तू तो गोश्त को मुँह नहीं लगाता," माँ जी ने कहा, "मैं कहती हूँ फत्तू का अल्लाह भी दाल-सब्ज़ी और दही-दूध खा-पीकर ही खुश रहता होगा!"

ताई गंगी ने न जाने क्या सोचकर कहा, "दही तो सबको पसन्द है—गोश्त खाने वालों को भी, गोश्त न खाने वालों को भी। अब मेरे द्वार पर अल्लाह आये चाहे भगवान्, मैं तो वही चीज़ दे सकती हूँ जो मेरे पास होगी!"

मौसी भागवन्ती बोली, "दूध-दही तो अल्लाह और भगवान् की देन है, बेबे! उन्हीं की देन उन्हें देकर कैसे खुश करोगी? उन्हें तो स्वभाव की मिठास ही खुश कर सकती है। फत्तू की बात पर थोड़ा ध्यान ज़रूर दो, बेबे! अपने बच्चों को गालियाँ न दिया करो।"

"मैं तो उन्हें गालियाँ देकर ही अपना प्यार जताती हूँ!" ताई गंगी अपनी ही बात पर अटल रही।

"गालियाँ तो अच्छी नहीं होतीं, ताई!" फत्तू ने दृढ़ता से कहा।

"मैं तो तुम्हें भी गाली दे सकती हूँ, फत्तू!" ताई गंगी ने हँसकर कहा, "मैं

माँ हूँ। माँ की गालियाँ तो किसी को खुशकिस्मती से ही मिलती हैं !"

ताई गंगी की बहुत-सी गालियाँ मुझे याद हो गई थीं। कई बार मैं सपने में देखता कि वह अपने बड़े लड़के अमरनाथ को गालियाँ दे रही है। मुझे लगता कि वह यों गालियाँ देती है जैसे हलवाई कड़ाही में जलेबियाँ तलता है—गोल-गोल, चक्करदार, जिनका न कोई सिरा होता है न अन्त। कभी अमरनाथ को 'वैढ़का' (जवान बैल) कहकर आड़े हाथों लेती तो कभी उसे 'बोक' (जवान बकरा) कहकर बुलाती। अमरनाथ को बछेरा या साँड़ कहकर गाली देना भी ताई गंगी को उतना ही प्रिय था। कभी वह कहती, "वे तैनूं काला नाग डस जावे, वे मेरेया वैरीआ !"[1] कभी कहती, "वे तैनूँ कोई मंगियाँ खैर वी न पावे वे मरासिया !"[2] कभी कहती, "किसे दी आई तैनूँ आ जावे, वे नाइयाँ दिया जुआइयाँ !"[3] सामने से अमरनाथ भी अपनी माँ को खरी-खोटी सुनाता। उस पर बिगड़कर ताई गंगी कहती, 'तेरे आन्ने कड्ढ लवाँ बाहर, पठाणा !'[4] 'दीवाली दिया दीविया, तूँ हुणे ई बुझ जावें वे !'[5] अमरनाथ की आवाज़ में गंगी को हमेशा बछेरे के हिन-हिनाने का आभास होता, इसीलिए वह बार-बार कहती, 'इंज हिणक न बछेरिया !'[6] कभी वह कहती, 'धियोराँ दे घर विच्च होणाँ चाहिदा सी तेरा जनम !'[7] कभी-कभी तो वह किसी थानेदार के लहजे में उसे 'दसनम्बरिया'[8] कहने से भी संकोच न करती।

एक दिन अमरनाथ ने मुझसे कहा, "तुम मेरी माँ के बेटे बन जाओ, देव ! मैं बन जाता हूँ तुम्हारी माँ का बेटा।"

मैंने कहा, "बहुत अच्छा, अमरनाथ ! पर तुम्हें यह भी मंजूर करना पड़ेगा कि तुम पढ़ने जाया करो और मैं हल चलाया करूँ।"

"मंजूर है !" अमरनाथ ने चुटकी ली, "मास्टरजी मुझे मारेंगे तो मैं वहीं स्कूल में उनकी ख़बर ले डालूँगा।"

मैंने कहा, "मेरे कुरते पर तो कभी मिट्टी का दाग नहीं लगता, तुम्हें भी स्कूल में मेरे जैसा कुरता पहनकर जाना पड़ा करेगा !"

"और तुम्हें मेरे जैसा मैला कुरता पहनकर हल चलाना पड़ेगा !" अमरनाथ

---

१. अरे तुझे काला नाग डस जाये, ओ मेरे वैरी !
२. अरे तुझे कोई माँगने पर भीख भी न दे, ओ मीरासी !
३. किसी की मौत तुझे आ जाये, ओ नाइयों के दामाद !
४. आँखें तेरी निकाल लूँगी, पठान !
५. दिवाली के दीये, तुम अभी बुझ जाओ।
६. इस तरह हिनहिना मत, बछेरे !
७. धींवरों के घर में होना चाहिए था तुम्हारा जन्म।
८. दस नम्बर का बदमाश।

ने फिर चुटकी ली ।

फत्तू कहीं पास खड़ा हमारी बातें सुन रहा था । वह सामने आकर बोला, "अल्लाह पाक को यह बिल्कुल पसन्द नहीं होगा कि दो आदमी अपनी-अपनी ज़िन्दगी बदल लें ! माँ भी अपनी-अपनी ही अच्छी होती है !"

"तब तो ठीक है !" कहता हुआ अमरनाथ खेत की तरफ चला गया और मैं स्कूल जाने की तैयारी करने लगा ।

एक दिन ताई गंगी सवेरे-सवेरे हमारे घर के दरवाजे पर आकर बड़े प्यार से मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोली, "एक बात पूछूँ, देव ? अगर तुम बड़े होकर थानेदार बन गये तो वही बात तो नहीं होगी ? वह किसी ने अपनी माँ से कहा था न कि माँ अगर मैं थानेदार बन जाऊँ तो पहले तुम्हारी ही पीठ पर हण्टर लगाऊँगा !"

मैंने कहा, "यह कैसे हो सकता है, ताई ? मैं तो कभी ऐसा नहीं कर सकता ।"

उसी समय फत्तू दूध दुहकर ला रहा था । हमें बातें करते देखकर उसने कहा, "ताई, देव के सिर पर खाली हाथ ही फेरती रहोगी या कभी उसे कुछ खिलाओगी भी ? हमारे यहाँ दही नहीं जमा । देव के लिए थोड़ा दही ही ला दो !"

ताई गंगी हँसते-हँसते अपने घर जाकर दही का कटोरा लेती आई और मेरे हाथ में थमा दिया ।

मैंने यह कटोरा ले लिया और उसे घर ले आया ।

"ताई गंगी का दही खाने का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता !" मैंने झट माँ जी को यह कहते सुन लिया, "ताई गंगी के घर में स्वच्छता और शुचिता का अधिक ध्यान नहीं रखा जाता ।"

पास से मौसी भागवन्ती यह कहकर हँस पड़ी, "मैं तो कई बार कुतिया के पिल्लों को गंगी के मटके में छाछ पीते देख चुकी हूँ !"

"गंगी के दही को भी तो मुँह लगा देते हैं कुत्ते-बिल्लियाँ !" धनदेवी ने नाक सिकोड़कर कहा, "हमारे चौके में गंगी की रसोई की कोई चीज़ नहीं आ सकती !"

मैं मन-ही-मन डर गया, क्योंकि मैं यह नहीं चाहता था कि यह बात ताई गंगी के कानों में पड़ जाय ।

उस दही को रसोई से उठाकर मैंने सीढ़ी के नीचे ढककर रख दिया और अचार के साथ रोटी खाकर ही स्कूल चला गया ।

उस दिन स्कूल में पढ़ते-पढ़ते कई बार ताई गंगी का चेहरा मेरी कल्पना में घूम गया । जैसे ताई गंगी पूछ रही हो—तुमने मेरे दही का अपमान क्यों किया ? खाना नहीं था तो लिया क्यों था मेरा दही ?

पुस्तक के शब्द मुझे कीड़े-मकौड़े-से लगने लगे । ये कीड़े-मकौड़े रेंग रहे थे ।

मैं सोचने लगा— क्या स्वच्छता और पवित्रता इतनी ही प्यारी चीज़ें हैं ? क्या प्रेम इन सब चीज़ों से बड़ी चीज नहीं है ? प्रेम से मिली हुई चीज़ को लेकर उसका अपमान करना भी क्या कुछ कम अपवित्रता है ? मेरी कल्पना में दही का कटोरा तैर रहा था। जैसे घर में सीढ़ी के नीचे ढककर रखा हुआ काँसे का कटोरा उड़-कर स्कूल में आ पहुँचा हो और अब हवा में तैरता हुआ मेरे सामने आकर रुक गया हो और पूछ रहा हो—मेरे पीछे तो ताई गंगी का प्यार उड़ा आ रहा है। तुम उस प्यार को कैसे ठुकरा सकते हो ? ताई गंगी तो तुम्हें अपने बेटों से भी ज्यादा चाहती है। उसने तुम्हें कभी गाली नहीं दी। वह तो चाहती है कि तुम डाक्टर बन जाओ, तहसीलदार बन जाओ, वकील बन जाओ···

मैंने मानो इस काँसे के कटोरे की ओर से आँखें फेरकर अपनी पुस्तक पर आँखें जमा दीं। लेकिन दही का कटोरा तो कोई जादू का कटोरा बन गया था। उसने आवाज़ लगाई—मेरी बात का जवाब दो। तुमने ताई गंगी का अपमान क्यों किया ? ताई गंगी ने सब देख लिया था। वह मुझे तुम्हारे हाथ में थमाते हुए ही समझ गई थी कि तुम्हारे हाथ काँप रहे हैं। वह तो तुम्हारे दिल की बात भाँप गई थी। जो बात तुम्हारे दिल में रहती है वह ताई गंगी के हाथ के नाखूनों में रहती है···

मैंने मन-ही-मन दही के कटोरे को प्रणाम किया, ताई गंगी के प्यार को प्रणाम किया।

पुराने पत्ते, नये पत्ते

सोने की मटकी हो, चाँदी की मधानी और काले नाग का नेत्रा[1], तभी दही बिलोकर मक्खन निकाला जा सकता है— यह थी हमारी कुल-परम्परा, अर्थात् हमारे यहाँ दही बिलोने का निषेध था। एक दन्तकथा के अनुसार हमारे कुल की किसी दुलहन के हाथ दही बिलोते समय झड़ गये थे; इसके परिणामस्वरूप ही इस परम्परा का श्रीगणेश हुआ था। इस परम्परा के विरुद्ध सर्वप्रथम मेरे बाबाजी ने विद्रोह किया।

बाबा जी की उम्र थी सत्तासी साल। मैं कोई दस साल का था। कई बार मुझे खयाल आता कि बाबाजी का दिमाग मेरे दिमाग से आठ गुना से भी सात साल बड़ा है। जब भी वे कोई पुरानी बात सुनाते, मैं बड़े ध्यान से सुनता।

कई बार मैं सोचता कि जब मैं इतना बुड्ढा हो जाऊँगा तो मेरी अक्ल में बाबा जी की अक्ल भी मिली हुई होगी। सिर पर कसकर बाँधी हुई मलमल की छोटी पगड़ी, माथे पर झुर्रियों की गहरी रेखाएँ, आँखों पर ऐनक, चेहरे पर खस-खसी दाढ़ी। मैं उन्हें देखता तो सोचता कि खसखसी दाढ़ी का तो कोई मजा नहीं, दाढ़ी हो तो लम्बी हो, नहीं तो न हो।

एक दिन ऐनक उतारकर आँखों पर हाथ फेरते हुए बाबाजी बोले, "उस समय मेरी उम्र सत्तर वर्ष की थी, बेटा! आज से सत्रह साल पहले। कहीं से एक स्वामी जी हमारे गाँव में पधारे। हमने छोटे चौक में कई दिन तक उनके व्याख्यान कराये। एक दिन मैंने भरी सभा में हुक्का छोड़ने का प्रण किया। उस समय पण्डित भगतराम के पिता ने मुझे चुनौती देते हुए कहा, 'लाला जयगोपाल, हुक्का छोड़ना आसान है, अपने घर में दही बिलोकर दिखायें तो हम समझें कि आप वीर हैं।' मैंने भरी सभा में उठकर कहा कि जयगोपाल बत्ता यह काम भी कर दिखायेगा। स्वामीजी की बात मैं सुन ही चुका था, 'ज्ञान का सूर्य उदय होता है, तो भ्रम रूपी अन्धकार एक क्षण के लिए भी नहीं ठहर सकता।' फिर भी सभा से घर आकर मेरे मन में एक विचार आता था, एक विचार जाता था। घर में सबने विरोध किया। सबकी राय यही थी कि पुरानी प्रथा को न तोड़ा जाय।

---

१. वह रस्सी जिसके द्वारा मथानी मटकी के मुँह से बँधी रहती है।

पर अब तो मेरी प्रतिष्ठा का प्रश्न था। घर का कोई आदमी यह काम करने के लिए तैयार न हुआ तो मैंने डरते-डरते कहीं से मथानी मँगवाई और मक्खन निकाल लिया। घर वाले हैरान थे, गली के लोग हैरान थे, बाजार के लोग हैरान थे।"

मैंने कहा, "पहले दिन कितना मक्खन निकला था, बाबाजी ?"

"एक सेर तो जरूर निकला होगा मक्खन।" बाबा जी ने खाँसते हुए कहा, "उसी शाम हमारी दुकान पर नूरदीन तेली आया और उसने छूटते ही कहा, 'लाला जयगोपाल, आपने तो वह काम कर डाला जो हमने तेली होकर भी नहीं किया था। अब कल से हम भी मक्खन निकालना शुरू करेंगे अपने घर में।' इससे हमें पता चल गया कि पहले वह तेली भी वत्ता खत्री रहा होगा। उस दिन के बाद नूरदीन तेली हमारे और भी करीब आ गया।"

"आप तो उसे अपना छोटा भाई समझने लगे होंगे, बाबा जी !" मैंने खुशी से उछलकर कहा।

"यह तो तुमने मेरे मन की बात बूझ ली, बेटा ! खैर, और सुनो। वह स्वामी जी हमारे गाँव में आर्य समाज के बीज बो गये थे। उस घटना के चार साल बाद हमारे गाँव में आर्य समाज की स्थापना हुई और मुझे यहाँ की आर्य समाज का प्रधान चुना गया। खैर ये बातें तो खत्म न होंगी। तुम अखबार सुनाओ।"

उस दिन मुझे अखबार से जल्दी छुट्टी न मिल सकी। मैं मोटी-मोटी सुर्खियाँ सुनाकर ही न भाग सका। वत्ता शब्द बिल्कुल अच्छा नहीं है, यह बात मैं बाबा जी से कहना चाहता था। लेकिन बाबाजी थे कि बात-बात में वत्ता खत्री की रट लगाते रहे। इससे उतरकर था हमारे गाँव का नाम—भदौड़। मुझे तो यह नाम भी बहुत भद्दा लगता था।

उस दिन बाबा जी अखबार सुनने के बाद बोले, "आज से ढाई सौ साल पहले हमारा परिवार भदौड़ में आया था, बेटा ! उससे पहले हम कोटला के समीप मालेर में रहते थे। बाबा बेदी ने कई बार मालेर लूट ली। हमारे पुरखा बाबा रामकरण भदौड़ चले आये। यहाँ वे जैदका खत्रियों के परिवार में ब्याहे हुए थे। भदौड़ में आकर हमारे पुरखा तीसरी पीढ़ी में ऊँटों पर माल लादकर पेशावर, काबुल, चमन, कोयटा और सिबी जाने का कारोबार करने लगे।"

मैंने कहा, "फिर हमने इतना अच्छा काम कैसे छोड़ दिया, बाबाजी ?"

बाबा जी बोले, "मेरे चाचे भी यही काम करते थे, पर मेरे पिताजी ने कभी इस काम को हाथ नहीं लगाया था। काबुल जाना तो दूर रहा, वे तो कभी भदौड़ से तीन कोस की दूरी पर शहना भी नहीं गये थे। पंजाब में सतलज के इस पार अंग्रेजों का दखल हो जाने पर मैं पटवारी बन गया, फिर तो हमारा परिवार पटवारियों का परिवार कहलाने लगा।"

"पिताजी ने पटवारी बनना क्यों स्वीकार न किया, बाबा जी ?" मैंने उसके

होकर कहा।

बाबा जी बोले, "देखो बेटा, जैसे मैं पहली बार पटवारी बना, तुम्हारे पिता जी पहली बार ठेकेदार बने। पहले वे सुनाम से बसी जाने वाली रेलवे-लाइन निकलने पर रेल के ठेकेदार बने, फिर नहर के ठेकेदार बन गये और अब तक वही काम कर रहे हैं।"

बाबा जी को बाज़ू का सहारा देकर मैं उन्हें चौके में ला बिठाता। मैं उनके हाथ धुलाने लगता तो वे अपनी मेघ-गम्भीर आवाज़ में कहते, "अन्न का दाता सदा सुखी!" दिन हो चाहे रात, अन्नदाता के लिए बाबा जी यही आशीर्वाद देते।

घर में हर कोई यही कहता, "बाबा जी तो हमारे लिए तीर्थ हैं।" उनका आशीर्वाद सबके लिए था। वे सबको यही उपदेश देते थे, "बेटा, सुख हो चाहे दुःख, इन्सान वही है जो खिले हुए माथे के साथ ज़िन्दगी गुजारे; जो हाथ में है उसे कभी न छोड़े, जो हाथ में नहीं है उसके लिए यत्न करे। इन्सान वही है जो नीचे गिरने की बजाय ऊँचा उठे, पीछे हटने की बजाय आगे बढ़े।" उनकी आवाज में सबसे पहले मैं अपने लिए आशीर्वाद अनुभव करता।

"जानते हो पहले-पहल भदौड़ किसने बसाया था?" एक दिन बाबाजी ने खाँसते हुए कहा।

"मैं तो नहीं जानता, बाबा जी!"

"राजा भद्रसेन ने भद्रपुर बसाया था, बेटा! भदौड़ के पश्चिम में कोई पौने कोस की दूरी पर, जहाँ अब खेत ही खेत हैं, किसी समय राजा भद्रसेन ने भद्रपुर बसाया था। यह बहुत पहले की बात है जब बुड्ढा दरिया इधर से बहता था। एक बार कोई साधु दरिया पर नहा रहा था। राजा की बेटी ने साधु की लँगोटी किनारे से उठाकर कहीं छिपा दी।"

"तो साधु बहुत नाराज़ हुआ होगा, बाबा जी!"

"बेटा, साधु ने नाराज़ होकर शाप दिया कि राजा की नगरी का नाश हो जाय और राजा की बेटी साँपिन बन जाय।"

"तो राजा की नगरी का नाश हो गया और राजा की बेटी साँपिन बन गई थी, बाबा जी?"

"बेटा, साधु के शाप से राजा की नगरी तो नष्ट हो गई। हाँ, साधु ने यह अवश्य कहा कि एक दिन एक महापुरुष इधर आयेंगे और वही राजा की बेटी को शापमुक्त करेंगे।"

"मल्लू गिल्ल की कहानी भी तो सुनाइए, बाबाजी!"

"वह भी सुन लो, बेटा! भद्रपुर की बरबादी के बाद वर्तमान गाँव से आधे कोस की दूरी पर मल्लू गिल्ल आबाद हुआ। वहाँ के लोग एक बार किसी पुश्तैनी

झगड़े में बलती-तपती दोपहरी में आपस में कट मरे । आज भी दोपहर के सन्नाटे में वहाँ से गुजरने वालों को चीखें सुनाई दे जाती हैं । कान लगाकर सुनने से इन चीखों में से 'मर गये, मर गये, मर गये !' और 'पानी, पानी, पानी !' की आवाज़ उभरती है । मल्लू गिल्ल की दुर्घटना के बाद यह गाँव उजड़कर वर्तमान स्थान पर आबाद हुआ । अबके इसका नाम भदौड़ रखा गया ।"

एक दिन फत्तू मुझे कोई पौने कोस की दूरी पर बामियाना में मल्लू गिल्ल के वीर बामा की समाधि दिखा लाया । उसने मुझे वह कहानी सुनाई कि धड़ से सिर जुदा होने के बाद भी बामा लड़ता रहा था । फत्तू बोला, "देव, बामियाना वह जगह है, जहाँ बामा आख़िरी साँस लेते हुए शहीद हो गया था । जब भी किसी का ब्याह होता है, दूल्हा अपनी दुलहन के साथ बामा की समाधि पर दुआ माँगने आता है । गेहूँ की फसल कट चुकती है तो हर साल बामियाना में मेला लगता है ।"

हमारे गाँव के गुरुद्वारे में साँपिन की समाधि स्थित थी । एक दिन बाबाजी ने साँपिन की समाधि का उल्लेख करते हुए कहा, "इस गुरुद्वारे में किसी समय बाबा चरणदास रहते थे । उनसे मिलने के लिए गुरु गोबिन्दसिंह हमारे गाँव में पधारे और एक तालाब के किनारे ख़ेमा डालकर ठहरे । गुरु जी ने देखा कि एक साँपिन उनकी ओर चली आ रही है । उन्होंने अपने भक्तों को आज्ञा दी कि साँपिन को कोई कुछ न कहे । साँपिन ने पास आकर गुरुजी के चरणों पर सिर रख दिया और वहीं प्राण त्याग दिये । गुरुजी ने कहा, 'आज यह बेचारी मुक्त हो गई ।' "

"तो क्या वही राजा भद्रसेन की बेटी थी ?"

"हाँ बेटा, उस साधु की बात सच निकली और एक महापुरुष ने उसे शाप-मुक्त किया । फिर गुरु जी की आज्ञा से गुरुद्वारे के भीतर ही एक जगह उस साँपिन की समाधि बनाई गई ।"

एक दिन मैं कुछ मित्रों के साथ अपने गाँव के गुरुद्वारे में जाकर साँपिन की समाधि देख आया । सपने में मुझे कई बार साँप-ही-साँप दिखाई देते और उनमें मैं उस साँपिन को भी देख लेता । सहसा सब साँप गायब हो जाते, साँपिन रह जाती । फिर मैं देखता कि कोई महापुरुष तालाब के किनारे आ निकले, उनके साथ उनके कुछ सेवक हैं । मैं देखता कि एक ख़ेमा लगाया जा रहा है । साँपिन आकर महापुरुष के चरणों पर प्राण त्याग देती तो मैं समझ जाता कि यही महा-पुरुष गुरु गोबिन्दसिंह हैं ।

हमारे गाँव का एक तालाब सत गुर्यानी कहलाता था; उसके साथ गुरु गोबिन्दसिंह की स्मृति जुड़ी हुई थी । सपने में एक बार मैं भी गुरुजी के चरणों पर झुक गया, जैसे मेरा विश्वास हो कि गुरुजी मुझे भी मुक्त कर सकते हैं । बाबा

जी को मैंने अपना यह सपना सुनाया तो वे बोले, "मुक्ति तो इन्सान के अपने काम के साथ बँधी रहती है, बेटा ! कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि मैंने अपनी आयु के सत्तासी वर्षों में क्या किया ?"

बाबा जी का चेहरा उस समय बड़ा गम्भीर नज़र आ रहा था। मैंने कहा, "बाबाजी, हमारे घर में दही विलोकर मक्खन निकालने की प्रथा शुरू करके आपने बहुत उपकार किया, नहीं तो मुझे ताई गंगी से ही मक्खन माँगना पड़ता।"

बाबा जी पुराने ज़माने के आदमी थे। उनकी हर बात पुरानी थी। पगड़ी बाँधने का ढंग, बात करने का ढंग, आशीर्वाद देने का ढंग—सब कुछ पुराना था। फिर भी मुझे लगता कि बाबाजी अभी तक नये हैं और नये ज़माने की हर नई बात में उनकी दिलचस्पी है। "मैं तो आगे जाने का हामी हूँ !" वे कई बार हँस-कर कहते, "मैं पीछे हटते रहने वालों की फौज का सिपाही बिलकुल नहीं हूँ।"

ऊँटों पर माल लादकर हमारे पुरखाओं के काबुल जाने की कहानियाँ सुनते हुए मेरी कल्पना में हमेशा ऊँटों की घण्टियों की आवाज़ गूँजने लगती; मेरा जी ऊँट पर बैठकर कारवाँ के साथ काबुल जाने के लिए उत्सुक हो उठता।

एक दिन बाबा जी बोले, "ग़दर के दिनों में मेरी उम्र छब्बीस वर्ष की रही होगी। महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु हुई तो मैं दस वर्ष का था। ग़दर से चार साल पहले बन्दोबस्त हुआ था और बन्दोबस्त से तीन साल पहले भदौड़ ज़िला लुधियाना में था। ग़दर के दिनों में फूलकियाँ रियासतों के राजाओं की तरह सर-दारों और बिसवेदारों ने भी अंग्रेजों को मदद दी थी। ग़दर के बाद अंग्रेजों ने भदौड़ के सरदारों और ज़िला लुधियाना के बिसवेदारों से पूछा कि आप लोग किसके मातहत रहना चाहते हैं।"

"तो भदौड़ के सरदार साहबान ने क्या कहा, बाबा जी ?"

"उन्होंने साफ-साफ कह दिया—हम अपने ही भाइयों के मातहत रहना चाहते हैं; हमें रियासत पटियाला के मातहत कर दिया जाय।"

अखबार की ताज़ा खबरें सुनते-सुनते बाबा जी पीछे की ओर मुड़ जाते और मुझे भी उनके साथ पीछे की दौड़ लगानी पड़ती। रियासत पटियाला के संस्थापक बाबा आला का उल्लेख करते हुए बाबा जी बता चुके थे, "बाबा आला पहले भदौड़ में रहते थे। बाबा आला और उनके भाई गुरुद्वारे में सन्त चरणदास से मिलने आया करते थे। एक बार वे सन्त जी का उपदेश सुनने आये तो सन्त जी ने कहा, 'सुनो बाबा लोगो, आपमें से एक आदमी राजा बनेगा।' बाबा आला ने खड़े होकर पूछा, 'यह भी बता दीजिए सन्तजी, कि हममें कौन राजा बनेगा।' सन्त जी बोले, 'ओ भाई, जो पहले खड़ा हो गया, वही राजा बनेगा।' बाबा आला के मन में यह बात बैठ गई। एक दिन वे अपने भाइयों को भदौड़ में ही छोड़कर बरनाला में जाकर आबाद हो गये। बरनाला अर्थात् बाबा आला का 'बरना'

(चूल्हा) । बाबा आला बरनाला में बहुत दिन तक रहे। उनसे मिलने के लिए एक बार सन्त चरणदास एक ब्राह्मणी और उसकी व्याहने योग्य कन्या को लेकर बरनाला पहुँचे। उन्होंने बाबा आला के पास आकर ब्राह्मणी की कन्या के विवाह की समस्या रखी। बाबा आला उठकर भीतर गये और रुपयों की बाँसली लाकर सन्त जी के चरणों पर रख दी। सन्तजी ने कहा, 'कितने रुपये हैं ?' बाबा आला बोले, 'सन्त जी, मुझे तो बस यह बाँसली थमा दी गई। मैंने पूछा भी था कि कितने रुपये हैं। अब रुपयों की गिनती तो हमारी घर वाली को भी मालूम नहीं थी।' यह सुनकर सन्तजी बोले, 'अच्छा बाबाजी, आप अनगिनत गाँवों के मालिक बनेंगे।' इस घटना के थोड़े दिन बाद ही बाबा आला ने तलवार उठा ली और घोड़े पर सवार होकर बरनाला से चल पड़े और शिमले तक विजय करते चले गये। पटियाला में उन्होंने अपनी राजधानी बनाई। पटियाला अर्थात् बाबा आला की पट्टी।"

बाबा जी की कहानियों से बचने का कोई उपाय न था। कई बार मैं अपने दिमाग़ पर इनका बोझ महसूस करता। कई-कई दिन तक मैं बाबा जी के पास बैठना छोड़ देता। बाबा जी बुलाते और मैं अपने मित्रों के साथ नहर की ओर भाग जाता जिसमें प्रति पल नया पानी बहता नज़र आता।

सरदार अतरसिंह का नाम बाबाजी की ज़बान पर बार-बार आता जिनका देहान्त मेरे जन्म से दस साल पहले ही हो चुका था। बाबा जी बताते कि सरदार अतरसिंह बहुत बड़े विद्या-प्रेमी थे और इसीलिए उन्हें पंजाब सरकार ने महा-महोपाध्याय की पदवी दी थी, कभी वह उनके पुस्तकालय की बात ले बैठते। अपने पुस्तकालय की बहुत-सी पुस्तकें सरदार अतरसिंह ने लाहौर की पंजाब पब्लिक लायब्रेरी में भिजवा दी थीं और रही-सही पुस्तकें अमृतसर के खालसा कालेज की भेंट कर दीं। मैं सोचता कि सरदार अतरसिंह तो अब इस संसार में नहीं रहे, बाबा जी उन्हें भूल क्यों नहीं जाते। वह इस बोझ को क्यों ढोते जा रहे हैं ? इस बोझ-तले तो उनका दिमाग़ किसी भी समय फट सकता है। मैं कहना चाहता था कि पुराने खिलौनों से तो बच्चों को भी नफरत हो जाती है, वे भी नये खिलौने माँगते हैं। ये पुराने किस्से कब तक हमारा मन बहला सकते हैं ? लेकिन बाबा जी की ज़बान पर सरदार अतरसिंह का नाम न आये, यह असम्भव था।

"जैसे आज तुम मुझे अख़बार सुना रहे हो, देव !" एक दिन बाबा जी बोले, "वैसे ही मैं सरदार अतरसिंह को कोई-न-कोई पुस्तक पढ़कर सुनाया करता था। उनके सतसंग के कारण ही मैं भी विद्या-प्रेमी बन गया। अब तो मेरी निगाह मुझे धोखा दे गई; मैं सिर्फ सुनकर ही पढ़ने की कमी पूरी कर सकता हूँ।"

फिर एक दिन बाबा जी बोले, "हमारे सरदार साहबान में आज भी ले-देकर सरदार गुरुदयालसिंह ही विद्या- प्रेमी हैं और इसका एक प्रमाण यह है बेटा, कि

उन्होंने पण्डित घुल्लूराम जी को अपने पास रख छोड़ा है जो संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान हैं।"

"कौन से घुल्लूराम, बाबा जी ?" मैंने उत्सुकता से पूछा।

"तुम्हें भी मिलायेंगे घुल्लूराम जी से, देव !" बाबा जी ने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा।

घुल्लूराम जी की उम्र उस समय पचास वर्ष थी, मुझसे पाँच गुनी। एक दिन बाबाजी ने उनसे मेरा परिचय कराया। गोल चेहरा, चमकती हुई आँखें, दाढ़ी सन-सी सफेद, छरहरा शरीर, कद न लम्बा न ठिगना। मैं उनकी तरफ देखता रह गया।

उन्होंने संस्कृत विद्या की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। मैं डर गया कि अब मुझे संस्कृत पढ़ने को कहा जायगा। कालिदास का नाम तो उनकी जबान पर बार-बार आता। संस्कृत के कई श्लोक पढ़कर उन्होंने बाबाजी को उनके अर्थ समझाये। बाबा जी ने मेरा ध्यान खींचते हुए कहा, "देखो देव, संस्कृत कितनी मधुर भाषा है !"

"मैंने तो सन्ध्या के मन्त्र ही बड़ी मुश्किल से याद किये थे, बाबाजी !" मैंने हँसकर कहा, "अब ये ढेर-के-ढेर श्लोक याद करने के लिए तो पहाड़-जैसा दिमाग़ चाहिए !"

"तुमने पहाड़ देखा है, बेटा ?" पण्डित घुल्लूराम ने पूछ लिया।

"पहाड़ देखा तो नहीं, पण्डितजी !" मैंने कहा, "किताब में उसका हाल ज़रूर पढ़ा है।"

"पहाड़ कितना बड़ा होता है, बेटा ?"

"बहुत बड़ा !"

"जो वस्तु देखी नहीं, उसके सम्बन्ध में तुम्हें कैसे ज्ञान हो सकता है ?"

"देखी नहीं तो उसका हाल तो पढ़ा है ? पढ़कर तो सब पता चल जाता है, पण्डितजी !"

"इसी प्रकार तुम संस्कृत भी तो पढ़ सकते हो, बेटा ! हम तुम्हें संस्कृत पढ़ायेंगे और तुम्हें यह प्रतीत नहीं होगा कि संस्कृत कोई कठिन भाषा है।"

अब मैं हमेशा बाबाजी और घुल्लूराम जी से बचकर रहने की कोशिश करने लगा। न मैं सत्तासी वर्षों के नीचे दबना चाहता था, न पचास वर्षों के नीचे। मैं तो दस वर्ष का था; मैं तो बीस वर्षों के नीचे दबने के लिए भी तैयार नहीं हो सकता था।

फत्तू की उम्र भी कम नहीं थी। वह चालीस साल का था, मुझसे चार गुना। कभी मुझे लगता कि हमारा यह अधेड़ चरवाहा चालीस की बजाय तीस साल का हो गया है, कभी लगता है कि उसने अपनी उम्र के बीस साल परे फेंक दिये; कभी

ऐसा भी लगता कि वह अपनी उम्र के तीस साल परे फेंककर दस ही साल का रह गया है। उस समय वह मेरे साथ मिलकर पशुओं वाले घर में कभी बकरी की आवाज़ निकालता, कभी बचपन की किलकारियों के सरगम पर सूरजा-मूरजा वाला या 'कालड़ीए कलबूतरीए !' वाला गीत गाने लगता, कभी वह मेरे साथ मिलकर हमारे स्कूल में हर रोज़ मिलकर गाई जाने वाली 'तारीफ़ उस ख़ुदा की' गाने लगता।

फत्तू से कहीं अधिक मुझे नूरा चरवाहा अच्छा लगता था। वह मुझसे अधिक बड़ा नहीं था; उसे अपनी उम्र का एक भी साल उतार फेंकने की ज़रूरत नहीं थी। वह हमेशा उछल-उछलकर चलता, घुँघरू की-सी थी उसकी आवाज़। कई बार मैं सोचता – मुझे फत्तू नहीं चाहिए, मेरे लिए तो नूरा ही काफी है।

नूरे का रंग साँवला नहीं, काला-कलूटा था, फत्तू से भी काला। उसके चेहरे पर चेचक के मोटे-मोटे दाग़ थे। वह हमेशा अपने हाथ में एक लाठी थामे रहता। कई बार वह कहता, "हाथ में लाठी तो रहनी ही चाहिए, अपनी हिफ़ाज़त के लिए कुछ तो होना चाहिए हाथ में।"

नूरे के दिमाग पर न भद्रसेन और भद्रपुर की पुरानी कहानी का बोझ था, न मल्लू गिल्ल की कहानी उसका ध्यान खींचती थी। उसे न बाबा आला से कुछ लेना था, न स्वर्गीय सरदार अतरसिंह को कुछ देना था। न उसे हमारे गाँव के स्कूल में पढ़ने की चिन्ता थी, न उसके मन पर हमारे बाबाजी के परम मित्र पण्डित घुल्लूराम से संस्कृत पढ़ने का आतंक था।

"मेरा दिमाग़ मेरा अपना है !" नूरा बड़े गर्व से कहता, "इसे बड़ा बनाने के लिए मुझे अपने बाप की भी मदद नहीं चाहिए, मेरे बाबा जी तो ख़ैर पहले ही मर चुके हैं।"

'मेरे बाबा जी तो जिन्दा हैं," मैं कहता, "और मेरे बाबा जी मुझे ऐसी-ऐसी कहानियाँ सुनाते हैं कि मैं दंग रह जाता हूँ।"

"तुम उनकी कहानियाँ ज्यादा न सुना करो, देव !" नूरा कहता, "तुम बुड्ढों के पास कम ही बैठा करो, नहीं तो तुम बहुत जल्द बुड्ढे हो जाओगे !"

"यह हमारा फत्तू तो बुड्ढों की तरह बातें नहीं करता।"

"पर है तो वह भी बुड्ढा !"

एक दिन तो नूरे ने यहाँ तक कह दिया, कि बुड्ढों के पास बैठने से हमेशा यह डर लगा रहता है कि माई बसन्तकौर के किले की खण्डहर ड्योढ़ी हमारे ऊपर न आ गिरे। यह बात मुझे बहुत मजेदार लगी। माई बसन्तकौर की खण्डहर ड्योढ़ी का दरवाज़ा उसके घर के ठीक सामने ही तो था, जैसे ताई गंगी के घर का दरवाज़ा हमारे घर के दरवाज़े के सामने था। नूरा को हमेशा यह डर लगा रहता था कि किसी दिन माई बसन्तकौर के किले की ऊँची ड्योढ़ी ढह पड़ी तो

उनका घर नीचे आ जाएगा।

नूरे की यह बात मैंने फत्तू को सुनाई तो वह बोला, "बात तो नूरा ठीक कहता है, देव ! इसलिए तो मैं भी बुड्ढों के पास नहीं बैठता। कभी तुमने मुझे अपने बाबाजी के पास बैठे देखा है ?"

माई बसन्तकौर के किले से सटा हुआ था वैरागियों का डेरा, जहाँ कुएँ के पास पीपल का पेड़ खड़ा था। यह पीपल हमारे स्कूल के पीपल के पेड़ों से कहीं बड़ा था। जब भी मैं गली से गुज़रकर पशुओं वाले घर की तरफ़ जाने लगता, पीपल के पत्ते डोल रहे होते। मुझे लगता कि पीपल के पत्तों के साथ मेरा मन भी डोलने लगा है। मैं खुशी से झूम उठता। बाबा जी की पुरानी कहानियाँ सुनते हुए तो मुझे कभी इतनी खुशी नहीं होती थी।

पशुओं वाले घर की तरफ़ जाते हुए नूरे के घर के सामने से गुज़रना पड़ता था। सुबह-शाम नूरा अपने घर के चबूतरे पर बैठा मिल जाता। वह हमेशा किसी गीत का यह बोल गुनगुना रहा होता :

पिप्पल दिया पत्तिया वे
केही खड़खड़ लाई आ ?
पत्त झड़ पये पुराने वे
रुत्त नवियाँ दी आई आ।[1]

कभी-कभी तो नूरा चरवाहा इतनी मस्ती से यह गीत गा रहा होता कि उसे मेरे आने का पता ही न चलता; उसके कुरते में से हाथ डालकर मैं उसके शरीर पर चिऊँटी काट लेता तो वह चौंककर कहता, "तुम कब आये, देव ?"

कभी-कभी नूरा मुझे छेड़ने के लिए कहता, "क्या हाल है तुम्हारा, नये पत्ते ?"

मैं कहता, "तुम भी तो नये पत्ते हो, नूरे !"

वह मुस्कराकर मेरी तरफ़ देखता। पीपल के नये पत्ते हमारी आँखों में डोलने लगते। कभी-कभी तो हम नूरा के घर से थोड़ा वैरागियों के डेरे की तरफ़ आकर बड़े ध्यान से देखने लगते कि किस तरह सूरज की धूप में पीपल के पत्ते डोल रहे हैं, पुराने पत्तों के बीचों-बीच नये पत्ते नज़ाकत से सिर उठा-उठाकर हमारा हाल पूछ रहे होते और नूरा ताली बजाकर कहता, "हमारा सलाम लो, नये पत्तो !"

मैं हँसकर कहता, "नये पत्ते नये पत्तों का सलाम ले रहे हैं।"

"और क्या पुराने पत्तों का सलाम लेंगे नये पत्ते ?" नूरा चुटकी लेता।

पीपल का यह पेड़ मेरे जन्म से बहुत पहले का था। उसने बार-बार पुराने पत्तों को झड़ते देखा था, नई कोंपलों को फूटते देखा था। पीपल की नई कोंपल

---

१. ओ पीपल के पत्ते, कैसे खड़खड़ लगा रखी है ? अरे पुराने पत्ते तो झड़ गये, नये पत्तों की ऋतु आ गई।

की सीटी बजाते हमारे जैसे अनेक बच्चों का बचपन बीता था।

हमारी गली में नये बच्चे पंघूड़ों से निकलकर वैरागियों के डेरे की तरफ चल पड़ते—पीपल के नये पत्ते की 'पीपनी'[1] बना कर बजाने के लिए। अब तो ताई गंगी का छोटा लड़का भी, जिसके जन्म की ख़ुशी में ताई गंगी के दरवाजे पर शिरीष के पत्तों की वन्दनवार बाँधी गई थी, पीपनी के लिए ज़िद करने लगा था।

१. एक तरह की सीटी।

खरगोश के बच्चे

नूरे ने अपनी बकरियों के नाम चुनते समय दुनिया-भर की सुन्दरता समेटने का यत्न किया था; कोई बकरी हीर[1] थी तो कोई सोहनी;[2] कोई गुलाब थी तो कोई रेशमा, कोई चमेली थी तो कोई चाँदनी। इन्हीं दिनों एक बकरी को उसने शबनम कहना शुरू कर दिया था।

बकरियों की आदतों के बारे में वह मुझे अपने अनुभव की बातें सुनाता कभी न थकता; कभी-कभी तो मुझे लगता कि उसका यह अनुभव भी काफ़ी बोझिल होता जा रहा है। और एक दिन वह इसके नीचे दब जायगा।

एक दिन फत्तू बोला, "देव, नूरा कहीं से ख़रगोश का जोड़ा पकड़ लाया है।"

10254

मैंने कहा, "तो एक जोड़ा ख़रगोश तुम भी पकड़ लाओ, फत्तू!"

"लाने को तो मैं भी लेता आऊँ ख़रगोश का जोड़ा!" फत्तू ने जवाब दिया, "लेकिन उन्हें रखने की बड़ी मुसीबत है।"

"तो नूरा कैसे रखेगा ख़रगोश के जोड़े को?"

"उसने तो लकड़ी की पेटी लेकर, उसमें ऊपर की तरफ़ जाली वाला दरवाज़ा लगवाकर एक पिंजरा बनवा लिया है।"

"तो ऐसा पिंजरा हम भी बनवा लेंगे।"

कई दिन तक फत्तू मेरी बात टालता रहा। मैं भी अपनी ज़िद पर कायम था। मैं चाहता था कि घर वालों को उसी समय पता चले जब ख़रगोश का जोड़ा पशुओं वाले घर में आ जाय।

हर रोज़ नूरे के घर जाकर मैं उसके ख़रगोश देख आता। ख़रगोश की पीठ पर हाथ फेरना मुझे बहुत पसन्द था। नूरा कई बार कहता, "तुम्हें ख़रगोश इतने ही अच्छे लगते हैं तो अपने बाड़े में तुम भी क्यों नहीं पाल लेते ख़रगोश?"

आखिर मैं ठठेरों के लड़के से कहकर ख़रगोश के लिए टीन का चौखूँटा पिंजरा बनवाने में सफल हो गया। मेरे इस बचपन के मित्र ने ऊपर की तरफ इस

---

१. पंजाब की प्रसिद्ध प्रेम-गाथा 'हीर-रांझा' की नायिका।

२. पंजाब की एक और प्रेम-गाथा 'सोहनी-माहीवाल' की नायिका।

पिंजरे का जालीदार दरवाज़ा पीतल का लगाया, पिंजरे के किनारों पर भी पिंजरे की मजबूती के लिए पीतल की पत्तियाँ लगाई गईं। घर वालों की नज़र बचाकर मैंने यह पिंजरा पशुओं वाले घर में ला रखा।

फत्तू मेरे मन का भाव समझता था। उसने मुझे चेतावनी दी कि वह पिता जी को बता देगा और मुझ पर खूब मार पड़ेगी। मैं कब डरने वाला था। एक दिन शाम को मैंने नूरे से कहकर खरगोश का एक जोड़ा इस पिंजरे में ला रखा। नूरे ने अपने पिंजरे की तरह इस पिंजरे में भी घास और सब्जी के टुकड़े डाल दिये।

ख़रगोश का जोड़ा घास और सब्जी पर मुँह मारने लगा तो मेरा दिल खुशी से नाच उठा। यह हमारी नई दुनिया के साथी थे। उन्हें देखकर मुझे लगा कि हमारी दुनिया उतनी ही मुलायम है जितनी खरगोश की पीठ, उतनी ही सफेद है जितने ख़रगोश के बाल, उतनी ही मासूम है जितना यह ख़रगोश का जोड़ा।

फत्तू ने ख़रगोश का जोड़ा देखा तो वह भी खुशी से नाच उठा। उसने अपनी उम्र के तीस साल पुराने कुरते की तरह उतार फेंके। वह भी खरगोशों की हरकतें देखने लगा।

नूरा फत्तू के डर से अपने घर चला गया था। फत्तू मेरे पास बैठा रहा, मज़े से ख़रगोशों की आँखों में झाँकता रहा। फिर वह बोला, "ख़रगोश भी क्या जानवर बनाया है अल्लाह पाक ने! कितना मासूम है! आँखें बन्द किये पड़ा रहता है और उसी वक्त आँखें खोलता है जब इसे खेलना मंजूर हो या जब इसे बिल्ली नज़र आ जाय।"

मैंने कहा, 'फत्तू तो कह रहा था कि नेवला भी खरगोश का दुश्मन है।"

"नूरा ठीक कहता है।"

खरगोश का जोड़ा हमारे साथ खूब खेलता! बिल्ली और नेवले से उन्हें हमेशा बचाकर रखा जाता। फत्तू चाय बनाता तो सबसे पहले ख़रगोशों को ही चाय मिलती, कभी-कभी वह प्यालों में चाय भरकर पिंजरे में रख देता।

जाड़े के दिन थे। अगले महीने हमारे खरगोश दो से सात हो गये। एक-साथ पाँच बच्चे, एकदम लाल-लाल, उनके शरीर पर एक भी बाल नहीं था। लेकिन हफ्ते-डेढ़ हफ्ते में ही उनके शरीर पर सफेद बाल नज़र आने लगे; उनकी आँखें खुल गईं और वे खूब ऊधम मचाने लगे। बच्चों को खेलते देखकर खरगोश का जोड़ा कीं-कीं की आवाज़ से अपनी खुशी प्रकट करता; उन्हें अपने और अपने बच्चों के लिए कोई खतरा महसूस होता तो 'कीं-कीं' की आवाज़ और भी तीखी हो जाती।

मुझे यह पता चलते देर न लगी कि ख़रगोश के दाँत बहुत तीखे होते हैं।

पिंजरे से बाहर निकलते ही खरगोश माँ-बाप और उनके बच्चे झट लकड़ी की तरफ़ लपकते। लकड़ी पर अपने दाँत आज़माने के बाद कपड़ा तलाश करते। कपड़ा काटने से छुट्टी मिलती तो वे जूतों की तरफ़ लपकते। कुछ-न-कुछ ज़रूर चाहिए जिस पर उनके दाँत चल सकें।

सबसे मज़े की बात यह थी कि खरगोश के बच्चे शुरू से ही सफ़ाईपसन्द नज़र आये। भाई-बहन एक-दूसरे के जिस्म पर धब्बा देखते तो चूमा-चाटी में ही इन धब्बों को साफ़ कर देते। पति-पत्नी एक-दूसरे की सफ़ाई का ख्याल रखते; साथ-साथ वे बच्चों की सफ़ाई की तरफ से भी कभी आँख बन्द न करते। जब भी माँ खरगोश देखती कि बच्चे व्याने के दिन नज़दीक आ रहे हैं, वह इधर-उधर से चीथड़ों के टुकड़े लाकर पिंजरे में कोमल सेज बना लेती। एक दिन फत्तू ने खुशी से उछलकर कहा, "अब समझो पाँच-सात ख़रगोश और आ रहे हैं। माँ खरगोश बच्चों के इन्तज़ार में अपनी सेज पर बिछाने के लिए अपने खाविन्द के बाल नोचने से भी बाज़ नहीं आती। देखो, देखो, ज़रा इनका यह चुहल तो देखो, इनकी अठखेलियाँ तो देखो।"

मैंने झुककर देखा। वाकई पिंजरे में खरगोश के जोड़े में अच्छी-खासी मुठ-भेड़ हो रही थी।

आये महीने पाँच-पाँच, सात-सात बच्चे आ जाते; दूर-दूर के गली-मुहल्लों तक हमारे यहाँ के ख़रगोश के बच्चे पहुँचने लगे। वैसे तो खरगोश के बच्चों की कीमत भी मिल सकती थी, लेकिन फत्तू हमेशा यही कहता, "यह तो अल्लाह पाक की अमानत हैं, इनकी कीमत वसूल करके हम कौन-सी सोने की दीवारें खड़ी कर लेंगे।"

हमें यह देखते भी देर न लगी कि कोई तीन महीने का ख़रगोश जोड़े के योग्य हो जाता है। गरमी शुरू हुई तो ख़रगोश की हिफ़ाज़त और भी मुश्किल हो गई। फत्तू गीली रेत लाकर पिंजरे में बिछा देता, पिंजरे के नीचे भी रेत रखता और उस पर खूब छिड़काव करता रहता। खरगोशों को गरमी से बचाने के लिए दूध की लस्सी या छाछ पिलाने पर ज़ोर देता। बार-बार वह कहता, 'इस मौसम में बेचारे खरगोशों को चाय नहीं देनी चाहिए!"

गरमी के दिनों में भी माँ ख़रगोश ने व्याने से तोबा न की। वही एक साथ पाँच-पाँच, सात-सात बच्चों की माँ बनना ही पसन्द था माँ ख़रगोश को। गरमी में नवजात शिशुओं पर हमेशा आफ़त टूटने का डर लगा रहता। नवजात शिशु गरमी में मुश्किल से ही बचते। माँ खरगोश को बच्चों के मरने का ग़म भी कुछ कम न सताता। वही कीं-कीं की आवाज़ माँ खरगोश के रुदन को प्रकट करने लगती, उस समय उसकी कीं-कीं में वेदना का स्वर और भी गहरा हो जाता।

खरगोश के बच्चे मर जाते तो फत्तू उस दिन रोटी न खाता। मुझे भी उस

दिन रोटी अच्छी न लगती।

माँ मुझे हमेशा टोककर कहती, "सवेरे-सवेरे पशुओं वाले घर में जाकर खरगोशों को एक दिन न भी देखो तो क्या बिगड़ जायगा?"

मुझे तो स्कूल में पढ़ते-पढ़ते भी ख़रगोशों का ध्यान रहता था। जब सुबह-सुबह हमारे स्कूल के लड़के और अध्यापक मिलकर गाते :

तारीफ़ उस ख़ुदा की जिसने जहाँ बनाया,
कैसी ज़मीं बनाई क्या आसमां बनाया !

तो मेरी कल्पना में ख़रगोश के बच्चे भी अपनी कीं-कीं की मीठी आवाज़ के साथ 'तारीफ उस ख़ुदा की' गाने लगते। उस समय हमेशा ख़रगोश के बच्चे मेरी कल्पना में अलग ही उच्चारण करते सुनाई देते—'तारी फ्यूस ख़ुदा की...' जैसे कि पहली में पढ़ते समय हम ख़ुद गाया करते थे, क्योंकि उन दिनों हमें भी उर्दू कहाँ आती थी, उन दिनों तो हम भी यही समझते थे कि ख़ुदा का कोई विशेषण है 'फ्यूस' अर्थात् ख़ुदा कोई मामूली ख़ुदा नहीं है, वह तो 'फ्यूस' ख़ुदा है। मैं सोचता कि क्यों न मैं माँ को साफ़-साफ़ बता दूँ कि मेरी कल्पना में हमारे ख़रगोश के बच्चे हमारे स्कूल में आ निकलते हैं तो वह भी 'तारी फ्यूस ख़ुदा की' ही कहते हैं—बेचारों को अभी उर्दू कहाँ आती है !

स्कूल से लौटकर मैं एक बार पशुओं वाले घर में ज़रूर जाता। मेरा छोटा भाई विद्यासागर कभी मेरा साथ न देता। उसे खरगोशों से घृणा थी, उनकी कीं-कीं की आवाज़ से घृणा थी।

कभी-कभी मैं सोचता कि मुझे ख़रगोश इतना अच्छा क्यों लगता है। मेरा दिल कहता कि इसमें क्या बुराई है। मुझे बकरी के नन्हे-मुन्ने मेमने भी तो कुछ कम अच्छे न लगते थे। मुझे भेड़ के बच्चों की पीठ पर हाथ फेरने में कितना मज़ा आता था। जब मैं शाम को नहर की ओर जाते समय बाहर से आती हुई भेड़ों का रेवड़ देखता और धूल का बादल बुरी तरह नाक में दम कर देता तो भी मैं चाहता कि भेड़ के किसी बच्चे की पीठ पर एक बार हाथ ज़रूर फेर लूँ, हालाँकि फत्तू मुझे कई बार मना कर चुका था कि भेड़ का बच्चा बड़ा गन्दा जानवर है और उसे हाथ नहीं लगाना चाहिए। बैरागियों के डेरे में कहीं कोई कुतिया पिल्ले देती तो मैं खास तौर पर नन्हे-मुन्ने पिल्लों को देखने जाता; मुझे उनकी आँखें खुलने का इन्तज़ार रहता। राँझा बैरागी के कबूतरों के दड़बों में जब कबूतरी अण्डे देती और फिर एक दिन कबूतर के नन्हे-मुन्ने बच्चे बाहर निकलते तो भी मुझे उतनी ही खुशी होती जितनी ख़रगोश के बच्चे देखकर होती। हमारे घर में छत के किसी हिस्से में चिड़िया बच्चे देती तो मैं सीढ़ी लगाकर चिड़िया के बच्चे देखने की कोशिश से बाज़ न आता। माई बसन्तकौर के किले में मुर्गियों और बत्तखों के नन्हे-मुन्ने चूज़ों को पकड़ने की कोशिश में मेरा अच्छा-खासा

व्यायाम हो जाता । स्कूल में पढ़ते-पढ़ते कई वार मेरी आँखें तो पुस्तक पर झुकी रहतीं, पर मेरा मन खरगोशों के बच्चों के अलावा न जाने किस-किसके बच्चों का पीछा करने लगता । मेरी कल्पना मुक्त थी । मेरी कल्पना पर किसी का बन्धन न था । मुझे लगता कि मैं कुछ तलाश कर रहा हूँ, बकरियों, कुत्तों, मुर्गियों, बत्तखों, खरगोशों और कबूतरों की भाषा समझने की कोशिश कर रहा हूँ । जैसे यह भी एक तरह की पढ़ाई हो, जैसे यह पढ़ाई भी जरूरी हो ।

एक दिन स्कूल में छुट्टी थी और मैं नहर पर भैंसों को चराने के लिए फत्तू के साथ चला गया । उस दिन मैंने भैंसों की आँखों में झाँक-झाँककर देखा, जैसे मैं उनकी आँखों की मूक भाषा समझ सकता था । कोई भैंस तो वड़े प्यार से मुझे चाटने लगती और मैं सोचता कि अगर भैंस का दूध पीने में अच्छा होता है तो भैंस का प्यार भी कौन-सा बुरा है ।

नीली वछेरी हमारे साथ थी । उसने मुझे रेशमा भैंस की कटरी से लाड़ करते देखा तो हिनहिनाकर मेरे पास चली आई, जैसे कह रही हो—तुम्हें तो ख़रगोश के वच्चों से ही फुरसत नहीं और आज तुम इस कटरी के पीछे दीवाने हो रहे हो, तो साफ-साफ कह दो कि तुम मुझे विल्कुल पसन्द नहीं करते ।

मुझे लगा कि पशुओं में भी कुछ कम ईर्ष्या नहीं होती । उस दिन से मैं नीली बछेरी का ज्यादा ध्यान रखने लगा । लेकिन मैंने देखा कि ईर्ष्या के मामले में तो खरगोश के वच्चे भी किसी से पीछे नहीं हैं । सुवह-सुवह फत्तू के हाथों से निकलकर ख़रगोश के वच्चे मेरे पास चले आते । वही कीं-कीं शुरू हो जाती । इस कीं-कीं में न जाने कैसी-कैसी शिकायतें उभरतीं—अब तो तुम्हें हमारी परवाह ही नहीं रही । तुम्हें तो वछेरी ही अच्छी लगती है । हम मासूमों की कौन फिक्र करेगा ? हमें तुम पसन्द नहीं करते तो बाहर छोड़ आओ । हमने अपनी आज़ादी गँवाई, पिंजरे की गुलामी मंजूर की । आखिर किसलिए ? इन्सान की मुहव्वत पाने के लिए । और अब लगता है कि हमें इन्सान की मुहव्वत भी नहीं मिल रही…

अगले ही क्षण मैं खरगोश के वच्चों के साथ खेलने लग जाता, जैसे मेरे लिए उस समय न नीली वछेरी हो, न रेशमा भैंस की कटरी चमेली, न किसी कबूतर का बच्चा, न किसी बत्तख का चूज़ा ?

सोने की लेखनी, शहद की स्याही

तीसरी से चौथी में होने की ख़ुशी में माँ से भी अधिक माँ जी ने ख़ुशी मनाई। माँ तो हैरान थी कि खरगोशों के साथ इतना समय खराब करने के बावजूद मैं तीसरी में कैसे पास हो गया। पिताजी भी कुछ कम हैरान न थे। स्कूल के इम्त-हान से तीन महीने पहले ही खरगोशों को पशुओं वाले घर से निकाल दिया गया था और फत्तू को ताकीद कर दी गई थी कि वह मेरे साथ ज़रा कम गपशप किया करे। माँ जी बार-बार पिताजी को ताना देतीं, "आपने ख़्वाह-म-ख़्वाह खरगोशों को घर से निकाला, मैं कहती न थी कि देव पढ़ाई में सबसे तेज़ रहेगा।" पिता जी बराबर यही कहते रहे, "अब मैं उसे खरगोशों से कैसे खेलने दूँ? चौथी की पढ़ाई तो और भी मुश्किल होती है।"

माँ जी ने हमारी गली में मिठाई बाँटी। मुझे देखकर माँ जी का चेहरा फूल की तरह खिल उठता। उन्हें बच्चों से स्नेह था; गली के बच्चे जैसे उनके ही बच्चे हों। मुझे लगता कि गली का कोई बच्चा उनसे वह स्नेह तो नहीं पा सकता जो मुझे प्राप्त था। जब माँ जी किसी नन्हे-मुन्ने बालक को रोने से चुप कराने के लिए उसकी हथेली पर अपनी अँगुली घुमाते हुए कोई पुराना बोल दोहराती जातीं और अन्त में गुदगुदाते हुए उसे हँसा देतीं, तो मुझे लगता कि वह इसी तरह बचपन में मुझे भी गुदगुदाती रही होंगी। वह पुराना बोल जिसे वे बालक की हथेली पर अँगुली घुमाते हुए बड़े मधुर स्वर से गुनगुनाती जातीं, मुझे बहुत प्रिय था :

इक्क कट्टा सी
इक्क बच्छा सी
दही दी फुट्टी सी
गुड़ दी रोड़ी सी
भाइयाँ जोड़ी सी
हत्थ खूँडी सी
मोढे भूँगी सी
आलीओ, पालीओ

किते साडा दिलीप
वेख्यिा होवे ![1]

फिर माँ जी बालक की बगल में गुदगुदाते हुए कहते जाते : 'थ्या गया, थ्या गया, थ्या गया !'[2] मुझे लगता कि माँ जी ने उस बालक को नहीं, मुझे ही ढूँढ़ लिया है । उस समय मैं माँ जी के चेहरे की ओर देखता रह जाता । मुझे लगता कि माँ ने नहीं, मुझे तो माँ जी ने ही ढूँढ़ लिया है ।

तीसरी से चौथी में होने की ख़ुशी में पिताजी ने मुझे माँ के साथ ननिहाल जाने की आज्ञा दे दी । अपनी समझ-बूझ में ननिहाल जाने का यह मेरा पहला अवसर था । पर मुझे माँ के साथ ननिहाल जाने की जितनी ख़ुशी हुई उससे कहीं ज़्यादा तो इस बात का दुःख हुआ कि इतने दिन माँ जी से अलग होकर कैसे रहूँगा ।

माँ और माँ जी के मायके एक ही गाँव में थे । ननिहाल का गाँव मुझे बहुत अच्छा लगा । वड्डा घर[3]—यह था उस गाँव का नाम । पहले बारह कोस चलकर हम बद्धनी पहुँचे, फिर इक्के पर मोगा, फिर मोगा से रेल पर डक्रू के स्टेशन पर उतरे, डक्रू से वड्डा घर चार-पाँच कोस था ।

वड्डा घर में कच्चे घर ही अधिक थे, पक्की ईंटों के घर तो दो-चार ही होंगे । हमारे नाना जी का घर भी कच्चा कोठा था । उसी गली में माँ जी के पिता रहते थे ।

दोनों परिवारों में खेती होती थी । हल चलते देखकर मुझे बेहद ख़ुशी हुई ।

एक दिन मैंने माँ से कहा, "माँ, मुझे तो वड्डा घर में ही जन्म लेना चाहिए था, भदौड़ में मेरा जन्म क्यों हुआ ?"

माँ बोली, "जब तुम दो साल के थे, मैं तुम्हें खेत में ले गई, जहाँ तुम्हारे नाना जी हल चला रहे थे । मेरी गोद से निकलकर तुम हल के पास जा पहुँचे और हाथ लगा कर देखने लगे कि यह बड़ा-सा खिलौना कैसे उठाया जाय ।"

इस बात को लेकर मामा जी देर तक मेरा मज़ाक उड़ाते रहे ।

माँ बोली, "देव की ताई शारदा देवी तो इसे मुझसे भी ज़्यादा प्यार करती है । जब हम आने लगे तो शारदा देवी बहुत उदास हो गई थी ।"

मामा जी बोले, "तो शारदा देवी भी आ जाती ।"

---

१. एक कटरा था, एक बछड़ा था, दही की फुट्टी थी, गुड़ की डली थी । भाइयों की जोड़ी थी, हाथ में लकुटी थी, कन्धे पर कमली थी । ओ चरवाहो, कहीं तुमने हमारा दिलीप देखा हो ?

२. मिल गया, मिल गया, मिल गया !

३. बड़ा घर ।

मैंने कहा, "मामाजी, माँ को समझाइए। वह माँ जी को ताई जी क्यों कहती हैं ?

इस पर सब हँस पड़े। मैं यह न समझ सका कि इसमें हँसने की क्या बात है।

माँ ठंडी साँस भरकर चुप हो गई, क्योंकि नाना जी की तो मृत्यु हो चुकी थी, और मेरी नानी तो उससे भी पहले चल बसी थी। अब तो ननिहाल में मामा जी और मामी जी ही रह गये थे।

मेरी आँखों में वह घटना घूम गई जब एक बार भदौड़ में माँ ने कहा था, "देव, तुम्हारा मामा आयेगा आज !" माँ की नज़र बचाकर मैं विद्यासागर के साथ नहर के पुल पर जा पहुँचा था। वहाँ खड़े-खड़े हम पुल पर से आने-जाने वालों को घूर-घूरकर देखते रहे। साँझ हो रही थी। मामा का कहीं पता न था। विद्यासागर का ख़याल था कि माँ ने हमें चकमा दिया होगा, मामा ने आना होता तो कभी का आ चुका होता। लेकिन मैं माँ की बात को झूठ मानने के लिए तैयार न था। आखिर एक आदमी ने आकर मेरे सिर पर हाथ रखा। मैंने उसकी तरफ देखा, उसे पहचानने का यत्न किया। "मैं तुम्हारा मामा हूँ," उस आदमी ने कहा, "मुझे भी नहीं पहचानते, देव ?" फिर वह विद्यासागर की तरफ बढ़ा, लेकिन विद्यासागर पहले ही गाँव की तरफ़ भाग निकला था। वह आदमी वहीं खड़ा हँसता रहा। मैं भी भागकर विद्यासागर के साथ मिल गया। दौड़ते-दौड़ते हम घर पहुँचे। छूटते ही मैंने माँ से कहा, "माँ, तुमने तो कहा था कि हमारा मामा आयेगा, वह तो कोई आदमी है !" माँ ने मुझे घूरते हुए कहा था, "आदमी नहीं होगा मेरा भाई तो क्या कोई जिन्न-भूत होगा ?" फिर जब मामा जी को इस बात का पता चला तो वह हँस-हँसकर लोट-पोट हो गये थे। मुझे याद आया कि मामा जी के सामने माँ ने मेरी पहली शिकायत यह की थी कि मैं बड़ा होकर भी छोटे भाई से डरता हूँ। कई बार मेरी और विद्यासागर की भिड़न्त हो जाती थी, और मैं किसी तरह विद्यासागर को नीचे गिराकर उस पर चढ़ बैठने में सफल भी हो जाता, तो भी मैं ऊपर बैठा रोने लगता। माँ पूछती कि मैं ऊपर बैठा क्यों रो रहा हूँ, तो मैं रोते-रोते जवाब देता कि विद्यासागर नीचे से निकलकर मुझे मारेगा। यही तो वह मामा जी थे; मैं उनकी तरफ देखता रहा। मैंने मामा जी को बताया कि विद्यासागर पहली से दूसरी में हो गया।

मामा जी ने हँसकर कहा, "तुम यहीं रहो। विद्यासागर को भी यहीं बुला लेंगे। वड्डा घर में कोई स्कूल नहीं है। ज्यादा पढ़कर भी क्या मिलेगा ? हम तुम्हें हल चलाना सिखायेंगे।"

मैंने कहा, "मेरे बिना माँ जी का दिल कैसे लगेगा भदौड़ में, मामा जी ?"

मामाजी यह सुनकर देर तक हँसते रहे।

मेरी आँखों में माँजी का शान्त चित्र घूम गया। वे हमारे गाँव की आय कन्या पाठशाला की मुख्य अध्यापिका थीं। हमारी गली की सब स्त्रियाँ उन्हीं के हाथ से अचार डलवाती थीं, क्योंकि उनके हाथ का अचार कभी खराब नहीं होता था। जब भी किसी के बच्चे की आँखें दुखतीं, वह स्त्री दौड़ी-दौड़ी रात को हमारे यहाँ आती और माँ जी के हाथ से बच्चे की आँखों में जिस्त डलवाकर बकरी के दूध के फाहे बँधवाकर ले जाती। पहले हरएक बच्चा रोता, फिर उसकी आँखों में ठंड पड़ जाती। अपने झगड़ों में गली की स्त्रियाँ माँ जी को ही पंच चुनतीं। हमारे घर में तो उनकी हकूमत थी। 'रामायण' की कथा के लिए भी वे स्त्रियों में प्रसिद्ध थीं; कथा से कहीं अधिक स्त्रियों पर इस बात का प्रभाव पड़ता था कि माँ जी इस कथा के फलस्वरूप इकट्ठा होने वाला रुपया सब-का-सब दान के रूप में कन्या पाठशाला को दे देती थीं। यह बात तो सबको मालूम थी कि आर्य कन्या पाठ-शाला की मुख्य अध्यापिका के रूप में वे वेतन के नाम पर एक भी पैसा स्वीकार नहीं करतीं। सफेद मलमल या किसी दूसरे सफेद कपड़े की कमीज़ और काले सूफ के लहँगे पर वे सफेद मलमल या रेशम का दोपट्टा लेकर पाठशाला जातीं। उनके मुख पर विषाद के चिह्न मुश्किल से ही देखे जा सकते थे। एक हलकी-सी मुस्कान उनकी मुखमुद्रा पर कोमलता की छाप लगाये रहती। एक विधवा और इतनी गम्भीर, यह बात सभी के लिए आश्चर्यजनक थी। माँ जी को जैसे दुःख छू भी न गया हो।

मेरे मामाजी हमेशा इसी बात को लेकर मज़ाक करते कि मैं माँ से ज़्यादा ताई जी को क्यों प्यार करता हूँ और उन्हें माँ जी क्यों कहता हूँ।

मुझे चाचा लालचन्द की बताई हुई बातें याद आ जातीं, "यह कहानी तो तुम्हें मालूम नहीं होगी देव, कि तुम्हारी माँ जी को जालन्धर के कन्या महाविद्या-लय में पढ़ने के लिए कैसे भेजा गया। भाई नाथीराम चल बसे तो भाभी शारदा देवी की आयु अधिक न थी। अब प्रश्न यह था कि समस्या का क्या हल किया जाय। हमारे परिवार पर आर्य समाज का प्रभाव था। वैसे उससे पहले किसी विधवा का पुनर्विवाह भी नहीं हुआ था। बहुत सोच-विचारकर तुम्हारे बाबाजी ने यही फैसला किया कि यदि शारदा देवी की इच्छा हो तो उसे पढ़ने के लिए जालन्धर भेज दिया जाय। पहले तो भाभी शारदा देवी वड्डा घर चली गई थी। फिर जब पिताजी के कहने पर मैं वड्डा घर गया तो तुम्हारे मामा घिट्टाराम ने मेरी मदद की, उसने शारदा देवी को समझा-बुझाकर मेरे साथ भदौड़ भेज दिया, फिर तुम्हारे बाबा जी ने शारदा देवी के पढ़ने की बात चलाई। शारदा देवी की समझ में यह बात नहीं आती थी। वह तो बार-बार यही सोचती कि वह जालन्धर में अकेली कैसे रहेगी। उसने कोई बड़ा शहर कब देखा था, बेटा? वह तो एक गाँव में पैदा हुई, दूसरे गाँव में ब्याही गई और विवाह से थोड़े समय के बाद ही

विधवा हो गई। कभी वह सोचती कि पढ़कर भी उसका क्या बनेगा। कभी सोचती कि इस उम्र में वह कैसे पढ़ेगी। फिर एक दिन तुम्हारे बाबा जी ने उसे पास बुलाकर समझाया, 'देखो बेटा, हम यहाँ आर्य समाज की ओर से एक कन्या पाठशाला खोलने वाले हैं। तुम जालन्धर से पढ़कर लौटोगी तो तुम्हें इस पाठ-शाला में सेवा करने का अच्छा अवसर मिलेगा। तुम्हारा मन बच्चों के साथ बहला रहेगा, जीवन का सब दुःख-दर्द तुम्हें भूल जायगा। इससे बढ़कर तो तुम्हारे सुख की बात मेरी समझ में नहीं आती, बेटा !' तुम्हारे बाबा जी की यह बात शारदा देवी के दिल में घर कर गई और वह जालन्धर जाने के लिए तैयार हो गई।"

माँ जी के मुख से मैं जालन्धर के कन्या महाविद्यालय की प्रशंसा सुन चुका था। कन्या महाविद्यालय के संस्थापक लाला देवराज की चर्चा करते समय उनकी आँखों में एक नई चमक आ जाती।

मैंने माँ जी का उल्लेख करते हुए कहा, "मामा जी, माँ जी खुद कहती हैं जालन्धर के कन्या महाविद्यालय में जाकर उनका दूसरा जन्म हुआ।"

मामा जी इस पर भी हँसते रहे, जैसे उन्हें मेरी बातें एकदम बेतुकी मालूम हो रही हों।

उन्हीं दिनों माँ के साथ मौसी बुद्धाँ की लड़की के विवाह पर शामिल होने के लिए बड्डा घर से तलवण्डी जाना पड़ा। बारात धर्मकोट से आई थी। बारात के साथ 'नकलिये'[1] आये थे और दो नर्तकियाँ भी। आस-पास के कितने ही गाँवों से ठट-के-ठट लोग नकलियों की नकलें और नर्तकियों के नाच देखने आये। तल-वण्डी के स्त्री-पुरुष भी जैसे बारात-घर की तरफ टूट पड़े।

नकलियों ने बड़ी मजेदार नकलें दिखाईं। थानेदार की नकल, पटवारी की नकल, वकील की नकल, चुंगी के मुंशी की नकल। हर नकल में सबसे बड़ा व्यंग्य रिश्वत पर कसा गया। नकलें देखते-देखते मेरे तो पेट में बल पड़ गये। इससे पहले मैं कभी इतना नहीं हँसा था। नकल के बीच-बीच में जब एक भाँड दूसरे भाँड के गाल के सामने अपना हाथ लाकर अपने हाथ पर दूसरे हाथ में थामे हुए चमड़े के मुलायम टुकड़े से चोट करता तो सभा में चारों तरफ हँसी गूँज जाती।

नकलों से भी ज्यादा मज़ा नर्तकियों के नाच में आया। नाचते समय नर्त-कियों के लहँगे हवा में लहराते, उनके हाव-भाव पर दर्शकगण मुग्ध हो उठे। जैसे नर्तकियों के गीत उनके लिए स्वर्ग के सन्देश ला रहे हों। नर्तकियों पर नोटों और रुपयों की जैसे वर्षा हो रही हो। जो भी समीप से नर्तकी की नशीली मदभरी आँखों का रस लेना चाहता, वह उसे दूर से पाँच का नोट दिखाता और नर्तकी

---
१. नक्काल, भाँड।

के लिए यह आवश्यक हो जाता कि वह उसे आदमी के पास जाकर उसके हाथ से नोट ले और उसे आदाब बजा लाये।

रात को फुलझड़ियों का तमाशा हुआ। आतिशबाज़ी देखने का भी मेरे लिए यह पहला अवसर था। हवाइयाँ, अनार, गोले—न जाने किस-किस तरह की आतिशबाजी के खेल दिखाये जा रहे थे।

विवाह के फौरन बाद हम भदौड़ वापस आ गये। मैंने सोच लिया था कि विद्यासागर के सामने इस विवाह का चित्र किस तरह अंकित करूँगा। लेकिन जब माँ जी ने मेरे सिर पर हाथ रखा तो मैं खामोश हो गया, एकदम उदास।

माँ जी ने कहा, "आत्मा देवी, देव इतना उदास क्यों नज़र आ रहा है? मैं पहले ही जानती थी कि तुम विवाह के राग-रंग में इतनी खो जाओगी कि मेरे देव का तो तुम्हें कोई ध्यान ही न रहेगा।"

"देव तो वहाँ बड़ा ख़ुश रहा," माँ ने कहा, "तुम उसी से पूछ लो, शारदा देवी!"

मैं खामोश खड़ा रहा। उदास मुँह बनाये। फिर मैं एकाएक जाकर माँ जी से लिपट गया।

माँ जी देर तक वड्डा घर और तलवण्डी की बातें पूछती रहीं। बीच-बीच में उनका साँस फूलने लगता। मालूम हुआ कि मेरे वियोग में उनकी तबीअत अच्छी नहीं रही थी।

बाबाजी बोले, "तुमने अच्छा किया बेटा कि तुम आ गये, दो दिन से तुम्हारी माँ जी ने कुछ नहीं खाया।"

फत्तू ने आकर मुझे अपनी बाँहों में भींच लिया। मैंने कहा, "क्या तुम भी मेरे बिना उदास हो गये थे, फत्तू?"

"मैं तो किसी के बिना उदास नहीं होता," फत्तू ने चुटकी ली, "वह तुम्हारा नूरा हर रोज पूछता था कि देव कब आयगा।"

मौसी भागवन्ती बोली, "माँ जी जितना प्यार तो देव को सगी माँ भी नहीं कर सकती।"

"सगी माँ ने तो खाली जन्म दिया है देव को," भाभी धनदेवी ने चुटकी ली, "माँजी ने तो एक-एक पल के प्यार से देव को इतना बड़ा किया है।"

माँ खिलखिलाकर हँसती रही, जैसे वह जानती हो कि वह तो माँ है और उसे किसी इम्तहान में तो नहीं बैठना था।

माँ जी ने मुस्कराकर कहा, "देव को मैं कैसे बताऊँ कि किस तरह उसका जन्म होने पर उसकी जिह्वा पर ओ३म् लिखा गया था।"

मैंने उत्सुक होकर पूछा, "यह बात तो आपने आज तक नहीं बताई, माँ जी! चलो आज ही बता दीजिए।"

"जब तुम्हारा जन्म हुआ," माँ जी ने मुझे अपनी बाँहों में लेते हुए कहा, "मैं जालन्धर से अपनी पढ़ाई खत्म करके भदौड़ आई हुई थी। तुम्हें मेरी गोद में डाल दिया गया। मैंने तुम्हारे पिताजी को झट रामचन्द सुनार की दुकान पर जाकर सोने की सलाई बनवा लाने को कहा। उन्होंने सोना माँगा तो मैंने अपनी सोने की बालियाँ देते हुए कहा था, 'ये बालियाँ मेरी बचपन की निशानी हैं। इन बालियों का सोना मेरी आशाओं का सोना है।' हाँ तो जब उस सोने से सलाई बनकर आ गई तो मैंने फत्तू से कहा, 'तुम शहद का ताजा छत्ता ढूँढ़कर ताज़ा शहद निकालकर लाओ।' फत्तू ने ताजा शहद निकाल लाने में एक घण्टे से ज़्यादा देर न लगाई थी। मैंने सोने की उस लेखनी को शहद की उस स्याही में डुबोकर तुम्हारी जिह्वा पर ओ३म् लिखा था, इसीलिए तो तुम पढ़ाई में इतने तेज़ हो, देव !"

विद्यासागर दरवाज़े के पीछे छिपा हुआ हमारी बातें सुन रहा था। दरवाज़े के पीछे से निकलकर उसने कहा, "क्या हुआ माँ जी, अगर आपने मेरी जिह्वा पर सोने की लेखनी को शहद की स्याही में डुबोकर ओ३म् नहीं लिखा था। मैं तो वैसे ही पढ़ाई में तेज़ हूँ। मेरा तो नाम ही विद्यासागर है !"

आँधी और ओले

एक थी लाल आँधी जो धीरे-धीरे शुरू होती। पहले आकाश नीचे से लाल होने लगता, फिर हवा तेज़ हो जाती और आकाश रक्तवर्ण होने लगता। लालिमा ऊपर तक फैल जाती, आकाश का रंग गहरा मटियाला लाल हो जाता। हमारे गाँव के लोग कहते कि लाल आँधी बुरी नहीं होती, यह डराती तो है, पर अधिक नुकसान नहीं करती; रोब तो झाड़ती है, पर बड़े-बड़े पेड़ों को जड़ से उखाड़ फेंके, उसमें इतना दम नहीं है। जड़ से पेड़ उखाड़ने वाली आँधी थी 'काली बोली'। गरमियों में दो-तीन बार तो काली बोली आँधी अवश्य आती, पेड़ तो खैर जड़ से उखड़-उखड़कर गिरते ही, यह आँधी राह चलते लोगों को भी उड़ा ले जाती, खेत में काम करते लोगों को दूर ले जाकर पटक देती, कभी यह आँधी किसी आदमी को उड़ाकर किसी पेड़ के तने पर पटकती और वह आदमी वहीं मर जाता; कभी कोई आदमी काली बोली आँधी का कोप-भाजन बनकर जड़ से उखड़कर गिरते हुए वृक्ष के नीचे आकर अन्तिम साँस लेने पर मजबूर हो जाता। आँधी के कई रूप थे; कई नाम थे। लोगों के मन पर बात-बात में आँधी की छाप नज़र आती।

जब भी आँधी आती, मैं चौबारे के दरवाज़े बन्द कर लेता और हवा की शूँ-शूँ में मुझे लगता कि कोई साज़ बज रहा है। आँधी का यह संगीत मुझे प्रिय था। लाल आँधी का साज़ अलग स्वर भरता, काली बोली का साज़ अलग। कभी-कभी यह संगीत बड़ा भयानक हो उठता। मुझे लगता कि आँधी मुझे चौबारे समेत उड़ा ले जायगी। आँधी का संगीत भारी-भरकम चीत्कार बन जाता। मैं सोचता कि किसी तरह हमारे गाँव को इन आँधियों से छुटकारा मिल जाय, पर आँधियों का रास्ता रोक सके, इतना दम तो किसी में न था, मुझमें भी नहीं था।

हमारे गाँव के लोगों के मज़ाक भी जैसे इन आँधियों के मज़ाक हों, कई बार किसी शरारती को व्यंग्य का निशाना बनाया जाता तो यह पुरानी लोकोक्ति सुनने को मिलती :

> न्हेरी कित्थों उट्ठी ?
> कल्याणाँ दे टिब्बियाँ ताँ।[1]

---

१. आँधी कहाँ से उठी ? कल्याणों के टीलों से।

पंज कल्याण के टीले हमारे गाँव से कोई पन्द्रह-बीस कोस के फ़ासले पर थे। पर पछुआ हवा ज़ोर से चलती तो पंज कल्याण की ओर से आँधी अवश्य आती। ढेरों रेत उड़कर हमारे गाँव की ओर चली आती; जब आँधी का रुख पूर्व से पश्चिम की ओर होता तो पूर्व की ओर से आने वाली रेत के साथ हमारे गाँव की सीमाओं पर जमा हुई रेत उड़कर फिर पंज कल्याण के टीलों पर जा पहुँचती।

कई बार मैं खुले मैदान में भी आँधी के कारनामे देख चुका था और मरते-मरते बचा था। मैं सोचता कि आँधियों के इस देश में मेरा जन्म क्यों हुआ और क्या इन आँधियों पर काबू नहीं पाया जा सकता। आँधी यह कहती प्रतीत होती कि उसका हाथ रोकने वाला आज तक पैदा नहीं हुआ।

बाबा जी ने अपने जीवन की अनेक घटनाएँ सुनाईं थीं कि किस तरह उन्हें अनेक अवसरों पर राह चलते आँधी ने आ घेरा और किस तरह वे बाल-बाल बचे। कई बार वे कहते, "वैसे देखा जाय तो लाल आँधी हो या काली बोली, आँधी भी इन्सान से ज़्यादा ताकतवर नहीं तो हो सकती। इन्सान तो वही है जो लाख आँधी आने पर अपने रास्ते पर चलता रहे।"

मैं कहता, "बाबाजी, आँधी आने पर तो राह चलते आदमी को रुकना ही पड़ता है; अपना बचाव तो करना ही होता है।"

बाबा जी इसका कुछ उत्तर न देते। फिर कुछ क्षणों की खामोशी के बाद कहते, "मेरी बात को तुम एक दिन समझोगे, देव !"

मैं कहता, "जब ओले गिरते हैं तब तो कोई आदमी रास्ते पर नहीं चल सकता, बाबा जी !"

बाबा जी खामोश रहते। उनके माथे पर झुर्रियों ने जाल-सा बुन रखा था। मुझे लगता कि कहीं झुर्रियों के बीच से मेरे प्रश्न का उत्तर सरक रहा है।

"इन्सान का साहस बड़ी चीज़ है, बेटा !" वे कहते।

आँधी में इन्सान किसी-न-किसी तरह चलता चला जाय, यह बात तो खैर मैं समझ सकता था, ओलों में भी इन्सान चलता रह सकता है, यह बात मैं कैसे स्वीकार कर लेता। मेरी कल्पना में ओले पड़ने के दृश्य घूम जाते।

बेरों जितने ओले तो हमारे यहाँ अकसर गिरते देखे जाते थे; कभी-कभी तो आँवलों जितने ओले भी पड़ जाते। ओले पड़ते तो खेत-के-खेत बरबाद हो जाते। राह चलते मुसाफ़िर किसी वृक्ष के नीचे खड़े होकर अपनी जान बचाते।

एक बार गरमी की छुट्टियों में पिताजी मुझे अपने साथ काम पर ले गये। और मैं दिन-भर पुल बनने का मज़ा लेता रहा। कई बार मैं सोचता कि जैसे ईंट के साथ ईंट जोड़कर पुल बनाया जा रहा है ऐसे ही शब्द के साथ शब्द जोड़कर पुस्तक तैयार की जाती है।

शाम को काम खत्म होने पर हम गाँव की तरफ़ लौटे। तीन-चार कोस का

फासला तय करना था। पिताजी अपनी घोड़ी पर थे, और मैं नीली घोड़ी पर। हमारे साथ कुछ मज़दूर पेशा चूहड़े भी थे, ठेकेदारी के काम में पिता जी का मेट नारायण चूहड़ा भी था। रास्ते में पहले हलकी-सी आँधी आई। फिर एकदम काले मेघ उठे। वर्षा होने लगी। हमने रुकना उचित न समझा। रुकने के लिए कोई जगह भी तो नहीं थी। फिर एकदम ओले पड़ने लगे। पहले बेरों जितने, फिर बेरों से भी बड़े-बड़े, फिर अरीठों जितने, फिर अरीठों से भी बड़े-बड़े। मेरी पगड़ी पर ज़ोर-ज़ोर से ओले गिर रहे थे। मैं नीली घोड़ी को एड़ लगाये चला जा रहा था।

पिताजी घबराकर बोले, "अब तो रुकने के सिवा कोई चारा नहीं।"

नारायण चूहड़ा बोला, "वह रहा नीम का पेड़, लालाजी। उसी के नीचे चला जाय।"

मैंने घबराकर कहा, "अब तो चलना मुश्किल है, पिता जी!"

हम किसी तरह बचते हुए नीम के नीचे चले आये। पिताजी अपनी घोड़ी की लगाम थामे नीम के नीचे खड़े थे। नीली घोड़ी की लगाम नारायण ने थाम रखी थी। बड़े-बड़े ओले बराबर पड़ते रहे। सभी मज़दूर सहमे खड़े थे। नारायण और पिताजी के चेहरों पर एक रंग आता था, एक रंग जाता था।

अचानक पिता जी ने नारायण से कहा, "यहाँ भी ख़तरा है।"

"यहाँ क्या खतरा है, लाला जी?" नारायण ने हक्का-बक्का होकर पूछा और उसने मेरी घोड़ी की लगाम मुझे थमा दी।

पिताजी ने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा, "घोड़ी को फौरन एड़ी लगाओ, देव!"

अगले ही क्षण पिताजी घोड़ी पर चढ़ गये और नीम के नीचे से निकलकर नहर की तरफ चल दिये। मैं भी घोड़ी को एड़ लगाकर उनके पीछे-पीछे चल पड़ा। पीछे-पीछे नारायण और दूसरे मज़दूर आ रहे थे।

नारायण के कन्धों पर ख़ाकी खेस था। उसने वह खेस उतारकर मेरे सिर पर डाल दिया। एक और मज़दूर ने लपककर अपनी चादर पिताजी के सिर पर डालते हुए कहा, "हमारा क्या है, लाला जी! आप पर ओलों की चोट नहीं पड़नी चाहिए।"

थोड़े फ़ासले पर एक किसान का कोठा था। हम वहीं पहुँच जाना चाहते थे। लेकिन ओलों में घोड़ियाँ भी चलने से इनकार कर रही थीं। कुछ कदम चलकर ही घोड़ियाँ ऐसी अड़ीं कि एक कदम आगे चलने के लिए भी राजी न हुईं।

पीछे से धड़ाके की आवाज़ आई। हमने पलटकर देखा कि नीम का वह पेड़, जिसके नीचे से हम अभी-अभी निकलकर आये थे, धड़ाम से गिर पड़ा।

पिताजी खुश होकर बोले, "मैंने तुम लोगों को बताया नहीं था। लेकिन

मैं जानता था कि नीम के नीचे खड़ा रहना खतरनाक है।"

"आपको कैसे पता चल गया था, लालाजी?" नारायण ने पूछा।

"नीम के तने से एक हलकी-सी आवाज़ आ रही थी," पिताजी गम्भीर होकर बोले, "मुझे लगा कि नीम जा रही है!"

सब मज़दूर हक्के-बक्के खड़े नीम की तरफ देखते रहे। फिर सब मिलकर घोड़ियों को हाँकने लगे।

ओले बराबर पड़ रहे थे। हम चले जा रहे थे। मौत से बचकर।

इस घटना ने मुझे झकझोर दिया। मौलवी फ़रखन्दा जाफ़र, हमारे उर्दू अध्यापक, अब भी यही कहते थे, "चूहड़ा कहो चाहे भंगी चाहे मेहतर चाहे हलालखोर, एक ही बात है।" मैं सोचता कि नारायण चूहड़ा तो अच्छा आदमी है।

माँ जी अब भी यही कहतीं, "मलमूत्र उठाना ही चूहड़ों का असली काम है। उन्हें हाथ लगाना ठीक नहीं, चाहे वे अपना काम छोड़कर नहर पर मज़दूरी ही क्यों न करते हों।" मैं सोचता कि नारायण चूहड़े ने तो मेरी जान बचाई थी। उसे हाथ लगाने से तो मेरा धर्म नहीं बिगड़ सकता।

कई बार नारायण चूहड़ा मुझे पास से गुज़रते देखकर चुटकी लेता, "हम तो ठहरे चूहड़े, देव! तुम हमें छूने से डरते हो। लेकिन उस दिन मैंने ही अपना खेस तुम्हारे सिर पर डाल दिया था और मेरे भतीजे गज्जन ने अपनी चादर तुम्हारे पिताजी के सिर पर डालकर उन्हें बचाया था!"

मैंने नारायण को छूना चाहा तो वह बोला, "तुम परे ही रहो, देव! लाला जी ने देख लिया तो हम दोनों पर नाराज़ होंगे!"

ओ काली कबूतरी !

ओलों के उस हमले की याद बहुत दिनों तक मेरे लिए आतंक का प्रतीक बनी रही। विद्यासागर को तो सच ही नहीं आता था कि नीम के नीचे खड़े-खड़े पिता जी ने पहले ही भाँप लिया था कि यह नीम गिर जायगा। सावित्री हमेशा मेरी बात का विश्वास कर लेती थी; ओलों वाली बात पर सबसे पहले उसी ने स्वीकृति की मोहर लगाई थी। विद्यासागर बराबर यही कहता रहा, "भदौड़ में उस दिन ओले नहीं पड़े थे तो टल्लेवाला के समीप कैसे ओले पड़े होंगे ?"

सावित्री हमेशा मेरी वकालत करने पर तुली रहती और विद्यासागर को आड़े हाथों लेती हुई कहती, "वाह ! यह कौन-सी मुश्किल बात है ? जब वर्षा होती है तो सभी जगह तो वर्षा नहीं होती, ओले भी सब जगह एक ही समय नहीं गिरते। तुम दूसरी से तीसरी में हो गये, लेकिन समझ का यह हाल है।"

"तुम भी तो तीसरी में ही हो, सावित्री ?" विद्यासागर कहता, "तुम्हें कौन-सी मुझसे ज्यादा अक्ल है। पाठशाला में पढ़ती हो। माँ जी ने तुम्हें रियायती पास कर दिया है !"

सावित्री झुंझलाकर कहती, "तुम झूठे हो !"

विद्यासागर कहता, "तुम झूठी हो !"

मैं उनमें सुलह कराने के विचार से कहता, "देखो भई, लड़ाई मत करो। कैसी अक्ल की लड़ाई! कैसी पाठशाला की पढ़ाई। फिर बात तो आँधी, वर्षा और ओलों की है, लड़ाई की तो नहीं।"

मैं छठी से सातवीं में हो गया था, विद्यासागर को इसी का ग़म सता रहा था। उसे कभी अपने पास होने की इतनी खुशी न होती जितना मेरे पास होने का ग़म।

अक्सर हममें हाथापाई की नौबत आ जाती। मुझे ही उससे हारना पड़ता। सावित्री पर इसी कारण मेरा रौब जम जाता। वह हमेशा यही कहती, "देव, तुम तो बिल्कुल झगड़ा करना पसन्द नहीं करते, इसीलिए तुम विद्यासागर से जान-बूझकर हार मान लेते हो।"

सावित्री कई बार जयचन्द का किस्सा ले बैठती। कभी उसकी चिट्ठी आने

में देर हो जाती तो वह बार-बार कहती, "शायद आज आ जाय जयचन्द की चिट्ठी। देखें वह आने की बात कब लिखता है।"

जयचन्द की चिट्ठी आती, लेकिन उसमें वह आने की बात कभी न लिखता। किसी चिट्ठी में वह लिखता--"सावित्री के गाल पर मेरे प्यार की चपत लगा दीजिए, माँ जी !" माँ जी को जयचन्द भी माँ जी कहता था; विद्यासागर, सावित्री और मैं तो खैर उन्हें माँ जी कहते ही थे।

माँ जी भी बार-बार हमसे कहतीं कि जयचन्द आयेगा तो तुम्हारे लिए यह लायेगा, वह लायेगा और हम खुशी से नाच उठते।

सावित्री को जयचन्द की चिट्ठी का जितना इन्तज़ार रहता उतना तो वह अपनी माँ की चिट्ठी के लिए भी इन्तजार नहीं करती थी जो अफ्रीका से आती थी जहाँ उसके पिताजी ठेकेदार थे।

एक दिन स्कूल में मास्टर जी ने यह खबर सुनाई, "जर्मनी हार गया और अंग्रेज़ जीत गया।"

उसी समय मिठाई मँगवाई गई। सब लड़कों में मिठाई बाँटकर स्कूल की सभा में यही बताया गया, "अंग्रेज़ की विजय हमारी विजय है।"

सावित्री को सबसे ज्यादा इस बात की खुशी थी कि अब जयचन्द भी बसरे से वापस आ जायगा।

बाबा जी खुश थे, पिताजी खुश थे, चाचा लालचन्द खुश थे; माँ, माँ जी, मौसी भागवन्ती और भाभी धनदेवी खुश थीं। हमारी गली में खुशी की लहर दौड़ गई। बात-बात में जयचन्द का नाम आ जाता।

फिर पटियाला के महाराज भदौड़ आये, और एक किले में ठहरे। हैडमास्टर साहब ने अंग्रेज की विजय की खुशी में दोबारा मिठाई मँगवाकर लड़कों में बाँटी और हमें लम्बी कतार में खड़े करके जलूस की शक्ल में महाराज के दर्शन कराने ले गये। स्कूल पर यूनियन जैक फहरा रहा था। हमारे हाथों में काग़ज की झण्डियाँ थीं। हमारी झण्डियाँ यूनियन जैक के रंगों से मिलती-जुलती थीं।

मेरे पीछे विद्यासागर था, तीसरी के लड़कों को पीछे छोड़कर वह पाँचवीं के लड़कों में कैसे आ गया और वह भी मेरे ठीक पीछे, यह देखकर मैं उसकी हिम्मत की प्रशंसा किये बिना न रह सका।

मैं चाहता था कि विद्यासागर से कहूँ कि बाबा जी तो अंग्रेजों के विरुद्ध हैं और झाँसी की रानी के उपासक हैं जिसने अंग्रेजों से होड़ ली थी, हम उनके ही पौत्र होकर अंग्रेजों की विजय का जलूस निकाल रहे हैं। पर मैंने खामोश रहना ही उचित समझा।

विद्यासागर बोला, "कल फिर लड्डू मिलेंगे !"

मैंने कोई उत्तर न दिया। मेरे कानों में तो बाबा जी के शब्द गूँज रहे थे—

ओ काली कबूतरी !

ओलों के उस हमले की याद बहुत दिनों तक मेरे लिए आतंक का प्रतीक बनी रही। विद्यासागर को तो सच ही नहीं आता था कि नीम के नीचे खड़े-खड़े पिता जी ने पहले ही भाँप लिया था कि यह नीम गिर जायगा। सावित्री हमेशा मेरी बात का विश्वास कर लेती थी; ओलों वाली बात पर सबसे पहले उसी ने स्वीकृति की मोहर लगाई थी। विद्यासागर बराबर यही कहता रहा, "भदौड़ में उस दिन ओले नहीं पड़े थे तो टल्लेवाला के समीप कैसे ओले पड़े होंगे ?"

सावित्री हमेशा मेरी वकालत करने पर तुली रहती और विद्यासागर को आड़े हाथों लेती हुई कहती, "वाह ! यह कौन-सी मुश्किल बात है ? जब वर्षा होती है तो सभी जगह तो वर्षा नहीं होती, ओले भी सब जगह एक ही समय नहीं गिरते। तुम दूसरी से तीसरी में हो गये, लेकिन समझ का यह हाल है।"

"तुम भी तो तीसरी में ही हो, सावित्री ?" विद्यासागर कहता, "तुम्हें कौन-सी मुझसे ज्यादा अक्ल है। पाठशाला में पढ़ती हो। माँ जी ने तुम्हें रियायती पास कर दिया है !"

सावित्री झुँझलाकर कहती, "तुम झूठे हो !"

विद्यासागर कहता, "तुम झूठी हो !"

मैं उनमें सुलह कराने के विचार से कहता, "देखो भई, लड़ाई मत करो। जैसी स्कूल की पढ़ाई वैसी पाठशाला की पढ़ाई। फिर बात तो आँधी, वर्षा और ओलों की है, पढ़ाई की तो नहीं।"

मैं चौथी से पाँचवीं में हो गया था, विद्यासागर को इसी का ग़म सता रहा था। उसे कभी अपने पास होने की उतनी खुशी न होती जितना मेरे पास होने का ग़म।

अकसर हममें हाथापाई की नौबत आ जाती। मुझे ही उससे हारना पड़ता। सावित्री पर इसी कारण मेरा रोब जम जाता। वह हमेशा यही कहती, "देव, तुम तो बिल्कुल झगड़ा करना पसन्द नहीं करते, इसीलिए तुम विद्यासागर से जान-बूझकर हार मान लेते हो।"

सावित्री कई बार जयचन्द का किस्सा ले बैठती। कभी उसकी चिट्ठी आने

में देर हो जाती तो वह बार-बार कहती, "शायद आज आ जाय जयचन्द की चिट्ठी। देखें वह आने की बात कब लिखता है।"

जयचन्द की चिट्ठी आती, लेकिन उसमें वह आने की बात कभी न लिखता। किसी चिट्ठी में वह लिखता--"सावित्री के गाल पर मेरे प्यार की चपत लगा दीजिए, माँ जी!" माँ जी को जयचन्द भी माँ जी कहता था; विद्यासागर, सावित्री और मैं तो खैर उन्हें माँ जी कहते ही थे।

माँ जी भी बार-बार हमसे कहतीं कि जयचन्द आयेगा तो तुम्हारे लिए यह लायेगा, वह लायेगा और हम खुशी से नाच उठते।

सावित्री को जयचन्द की चिट्ठी का जितना इन्तज़ार रहता उतना तो वह अपनी माँ की चिट्ठी के लिए भी इन्तज़ार नहीं करती थी जो अफ्रीका से आती थी जहाँ उसके पिताजी ठेकेदार थे।

एक दिन स्कूल में मास्टर जी ने यह खबर सुनाई, "जर्मनी हार गया और अंग्रेज़ जीत गया।"

उसी समय मिठाई मँगवाई गई। सब लड़कों में मिठाई बाँटकर स्कूल की सभा में यही बताया गया, "अंग्रेज़ की विजय हमारी विजय है।"

सावित्री को सबसे ज्यादा इस बात की खुशी थी कि अब जयचन्द भी बसरे से वापस आ जायगा।

बाबा जी खुश थे, पिताजी खुश थे, चाचा लालचन्द खुश थे; माँ, माँ जी, मौसी भागवन्ती और भाभी धनदेवी खुश थीं। हमारी गली में खुशी की लहर दौड़ गई। बात-बात में जयचन्द का नाम आ जाता।

फिर पटियाला के महाराज भदौड़ आये, और एक किले में ठहरे। हैडमास्टर साहब ने अंग्रेज की विजय की खुशी में दोबारा मिठाई मँगवाकर लड़कों में बाँटी और हमें लम्बी कतार में खड़े करके जलूस की शक्ल में महाराज के दर्शन कराने ले गये। स्कूल पर यूनियन जैक फहरा रहा था। हमारे हाथों में काग़ज की झण्डियाँ थीं। हमारी झण्डियाँ यूनियन जैक के रंगों से मिलती-जुलती थीं।

मेरे पीछे विद्यासागर था, तीसरी के लड़कों को पीछे छोड़कर वह पाँचवीं के लड़कों में कैसे आ गया और वह भी मेरे ठीक पीछे, यह देखकर मैं उसकी हिम्मत की प्रशंसा किये बिना न रह सका।

मैं चाहता था कि विद्यासागर से कहूँ कि बाबा जी तो अंग्रेजों के विरुद्ध हैं और झाँसी की रानी के उपासक हैं जिसने अंग्रेजों से होड़ ली थी, हम उनके ही पौत्र होकर अंग्रेजों की विजय का जलूस निकाल रहे हैं। पर मैंने खामोश रहना ही उचित समझा।

विद्यासागर बोला, "कल फिर लड्डू मिलेंगे!"

मैंने कोई उत्तर न दिया। मेरे कानों में तो बाबा जी के शब्द गूँज रहे थे—

"अंग्रेज के रहते हम कभी आज़ाद नहीं हो सकते।"

विद्यासागर ने फिर अपनी बात दोहराई। मैंने धीरे से कहा, "हमें ये गुलामी के लड्डू नहीं चाहिए!"

हमारा जलूस चला जा रहा था और मैं मन-ही-मन पुराने गीत का बोल थोड़ा बदलकर गुनगुनाने लगा:

कालड़िये कलबूतरीये!
डेरा कित्थे लाया ई?
तेरा नाले मेरा,
फ़िरंगी दा नईं डेरा।[1]

घर आकर मैंने बाबाजी को बताया कि मैंने फिरंगी के लड्डू नहीं लिये। यह सुनकर बाबाजी बहुत खुश हुए। बोले, "हम सब मिलकर अंग्रेज को भगा दें तो हम आज़ाद हो जायें।"

फिर उन्होंने विद्यासागर को बुलाकर कहा, "तुमने तो फिरंगी के लड्डू नहीं छोड़े होंगे!"

विद्यासागर बोला, "बाबा जी, कोई रहे चाहे जाये, हमें तो बस लड्डू देता जाये। और फिर बाबाजी, लड्डू फिरंगी के कैसे हुए? लड्डू तो हलवाई की दुकान से आये थे।"

बाबा जी ज़ोर से हँस पड़े। विद्यासागर उनका हाथ छुड़ाकर आँगन में भाग गया और जंगली कबूतर की तरह लोटनियाँ लगाकर गाने लगा:

कालड़िये कलबूतरीये!
डेरा कित्थे लाया ई?
न मेरा न तेरा,
फिरंगी वाला डेरा।

मैं विद्यासागर का मुख बन्द करके उसे इस गीत का वह रूप बतलाना चाहता था जो मैंने उसी दिन बनाया था। विद्यासागर गली में भाग गया था। मैं उसके पीछे-पीछे भागा। सामने से मास्टर रौनकराम हाथ में अखबार उठाये आ रहे थे; उनके साथ पण्डित घुल्लूराम भी थे। मुझे साथ लेकर वे बाबा जी के पास आ गये।

बाबाजी ने मास्टरजी की आवाज़ पहचानकर कहा, "कहो मास्टरजी, कोई नई ख़बर है क्या? अंग्रेज तो आख़िर जीत ही गया न।"

मास्टर जी कुछ गम्भीर होकर बोले, "इसमें भी कुछ भेद ज़रूर है। जर्मनी इतनी जल्दी हारने वाला तो नहीं था। ज़रूर कुछ बदमाशी हुई है। यह अंग्रेज

---

१. ओ काली कबूतरी, डेरा कहाँ लगाया है? यह तेरा भी है और मेरा भी, फिरंगी का डेरा नहीं है।

हर काम में चालाकी करता है !"

"तो हमारे साथ भी क्या चालाकी ही होगी, मास्टर जी ?" बाबा जी ने झट पूछ लिया।

"इसमें भी कोई सन्देह है, लाला जी ?" पास से पण्डित घुल्लूराम भी बोल उठे।

बाबाजी ने पण्डित जी को पास बिठाते हुए कहा, "आप किधर से आ निकले, पण्डित जी ! आपकी विद्वत्ता पर तो हमें बहुत गर्व है। आपकी यह विशेषता है कि न आपको आर्य समाज से द्वेष है न सनातन धर्म सभा से घृणा।"

"इन्हें तो अंग्रेज़ से भी घृणा नहीं, लाला जी !" मास्टर जी बोले, "कहते हैं अंग्रेज आया तो बड़े-बड़े प्रेस लग गये और संस्कृत के ग्रन्थ भी छपने लगे।"

बाबा जी ने खाँसते हुए कहा, "अंग्रेज़ की गुलामी में तो हमें संस्कृत भी अच्छी नहीं लगती, पण्डित जी ! स्वामी दयानन्द ने भी यही लिखा है कि अपना बुरा राज्य भी अच्छे-से-अच्छे विदेशी राज्य से भी उत्तम है !"

उन्हें बातें करते छोड़कर मैं छत पर चला गया। वहाँ विद्यासागर और सावित्री भी आ गये।

मैंने सावित्री को 'कालड़ीए कलबूतरीए !' वाले गीत का परिवर्तित रूप सिखा दिया और हम गाने लगे :

कालड़ीए कलबूतरीए !
डेरा किथे लाया ई ?
तेरा नाले मेरा,
फिरंगी दा नईं डेरा।

विद्यासागर इस गीत की पिछली दो पंक्तियों के स्थान पर मूल गीत के अनुसार 'न तेरा न मेरा, फिरंगी वाला डेरा !' कहे जा रहा था।

सावित्री बार-बार विद्यासागर को समझाती कि वह हमारे साथ मिलकर 'मेरा नाले तेरा, फिरंगी दा नईं डेरा !' कहे, पर वह तो अपनी ही रट लगाये जा रहा था। मैं नाराज़ होकर चौबारे की छत पर चला गया।

विद्यासागर और सावित्री निचली छत पर घूम-घूमकर 'कालड़ीए कलबूतरीए !' गा रहे थे।

मैंने चौबारे की छत पर खड़े-खड़े देखा कि विद्यासागर ने सावित्री को जमीन पर गिरा दिया। सावित्री ने भी विद्यासागर के हाथ पर जोर से दाँत गड़ा दिये।

मैंने झट नीचे आकर उन्हें आपस में गुत्थमगुत्था होने से छुड़ाते हुए कहा, "तुमने यह अंग्रेज़ और जर्मन की लड़ाई क्यों शुरू कर दी ?"

सावित्री की आँखें गुस्से से लाल हो रही थीं। बोली, "विद्यासागर ने मुझे काली कबूतरी क्यों कहा ?"

विद्यासागर ने मेरी भी परवाह न करते हुए सावित्री के गाल पर जोर से चपत लगाकर कहा, "काली कबूतरी की बच्ची ! मैं तेरी गर्दन मरोड़कर रख दूंगा !"

क्रोध और शान्ति के प्रतीक

मौसम की गरमी-सरदी का सामना करने के साथ-साथ हमें क्रोध और शान्ति और न जाने किस-किस चीज़ से वास्ता पड़ता था। घर में पिताजी का क्रोध मशहूर था और स्कूल में मास्टर केहरसिंह का क्रोध।

मास्टर केहरसिंह हमें पंजाबी पढ़ाते थे। अंग्रेजी और पंजाबी चौथी से शुरू होती थीं। अंग्रेजी और पंजाबी पढ़ते मुझे डेढ़ साल हो गया था। अंग्रेजी पढ़ाने वाले अध्यापक से भी कहीं अधिक सख़्ती से पेश आते थे मास्टर केहरसिंह। पंजाबी के लिए गुरुमुखी लिपि सीखनी पड़ी। मास्टर केहरसिंह ने पहले छः महीने तो हमें इस लिपि की गोलाइयाँ समझाने में लगा दिये, फिर छः महीने तक वे हमें अपने-जैसी सुन्दर लिखाई न कर सकने के कारण पीटते रहे, और अब पिछले छः महीने से वह हमसे यह मनवाने का यत्न कर रहे थे कि गुरुमुखी लिपि उर्दू, देवनागरी और रोमन से कहीं अधिक सुन्दर और उपयोगी है।

हमारे स्कूल में हिन्दी और संस्कृत पढ़ाने का प्रबन्ध नहीं था, इसलिए देवनागरी लिपि से वही लड़के परिचित थे जिन्हें घर पर थोड़ी-बहुत हिन्दी पढ़ने की सुविधा थी। हमारी क्लास में मेरे सिवा दो-तीन लड़के ही देवनागरी लिपि जानते थे। कभी हम खड़े होकर कह देते कि देवनागरी लिपि तो गुरुमुखी लिपि से भी अच्छी है तो मास्टर केहरसिंह बुरी तरह हमारी ख़बर लेते।

जिस दिन मास्टर केहरसिंह क्रोध में आकर हमारे गाँव के आर्य समाज के मन्त्री मास्टर रौनकराम को बात-बात में गालियाँ देना शुरू कर देते और मैं उठकर कह देता कि मास्टर जी किसी की पीठ पीछे उसे बुरा-भला कहना तो शराफ़त नहीं है, तो मास्टर केहरसिंह का डण्डा जोर-जोर से मेरे हाथों पर बरसता।

मास्टर रौनकराम किसी समय हमारे गाँव के स्कूल मास्टर रह चुके थे, पर हम तो बचपन से ही उन्हें बिसाती की दुकान करते देखते आये थे। उन्हीं से माँगकर बाज़ार के दूसरे दुकानदार अख़बार पढ़ लेते। अख़बार का चन्दा भेजते समय मास्टर जी को कभी संकोच न होता। पटियाला स्टेशन केस में गिरफ़्तार होकर मास्टर जी पटियाला जेल की हवा खा चुके थे; फिर रामगढ़ निवासी लाला विशम्भरदत्त के साथ मिलकर उन्होंने 'खालसा पन्थ की हक़ीक़त' लिखी और

अपने खर्च पर इसे प्रकाशित कराया, तो दोनों लेखकों पर घृणा का प्रचार करने के अपराध में रियासत की ओर से मुकद्दमा चला, दोनों लेखकों को सज़ा हुई और पुस्तक ज़ब्त कर ली गई। इन दोनों मुकदमों की कहानी मास्टर केहरसिंह मज़ा लेकर सुनाते। कभी वे तैश में आकर कहते, "रौनकराम अच्छा आदमी होता तो गुरु-घर के विरुद्ध कलम न उठाता, बाकी रही उसकी शायरी, उसे भी केहरसिंह का चैलेंज है। रौनकराम की शायरी में तो सौ-सौ ग़लतियाँ होती हैं!"

उन तथाकथित 'सौ-सौ ग़लतियों' के बावजूद मास्टर रौनकराम की उर्दू कविता लाहौर से प्रकाशित होने वाले आर्य समाज के साप्ताहिक 'प्रकाश' के दीपावली अंक में अवश्य छपकर आती और यों वे आये साल जैसे एक दीया जलाकर हमारे गाँव की मंडेर पर रख देते। कविता के साथ मास्टर जी का नाम यों छपता —मास्टर रौनकराम 'शाद' भदौड़ी, भदौड़, रियासत पटियाला। बाबा जी कहा करते थे कि सरदार अतरसिंह के बाद मास्टर जी दूसरे व्यक्ति हैं, जो भदौड़ का नाम दूर-दूर तक विख्यात करने की शपथ ले चुके हैं। मास्टर जी हर साल 'प्रकाश' के दीपावली अंक की पचासों प्रतियाँ मँगवाते और गाँव के पढ़े-लिखे लोगों में बाँटते, ताकि उन्हें पता चल जाय कि इस वर्ष के दीपावली अंक में भी मास्टर जी की कविता महर्षि दयानन्द सरस्वती की स्मृति में प्रकाशित हुई है। एक प्रति मास्टर केहरसिंह के लिए भी भेजी जाती।

हमारे गाँव की आर्य समाज के वार्षिक उत्सव पर बड़े-बड़े विद्वान और संन्यासी यही घोषणा करते कि मास्टर रौनकराम भदौड़ के लिए वरदान हैं। स्वामी गंगागिरि तो मास्टरजी के सबसे बड़े प्रशंसक थे। स्वामीजी की कथा का कार्यक्रम बीस-बीस दिन के लिए प्रति वर्ष रात के समय आर्य-समाज की ओर से रखा जाता। घुमा-फिराकर प्रति वर्ष अपने किसी-न-किसी व्याख्यान में स्वामी जी पुराने ज़माने का उल्लेख अवश्य करते, जब बाज़ार के बनिये और ग्राहक एक समान ईमानदार होते थे। स्वामी जी किसी बनिये की बही में लिखे हुए शब्द दोहराते—"लै गई नीले घघरे वाली गुड़ दी भेली!"[1] और बताते कि किस तरह वह बनिया कई वर्षों तक उस नीले लँहगे वाली की बाट जोहता रहा और फिर किस तरह एक दिन उसका लड़का गुड़ के पैसे देते समय बोला कि उसकी माँ कई महीने बीमार पड़ी रही और मरते समय बता गई कि भदौड़ के सेठ न्हौरियाराम के पैसे देने हैं। फिर स्वामी जी कहते, "हमारे विचारानुसार मास्टर रौनकराम जी आज भी पुराने ज़माने के दुकानदारों की तरह सचाई से बिसाती की दुकान करते हैं!"

एक बार मास्टर केहरसिंह भी स्वामी जी की कथा सुनने चले आये। संयोग

---

१. नीले लहँगे वाली स्त्री गुड़ की भेली ले गई।

से स्वामी जी ने उस दिन नीले लहँगे वाली का किस्सा सुनाया और साथ ही मास्टर जी की प्रशंसा भी की। मास्टर केहरसिंह सभा में उठकर बोले, "महाराज, इस कहानी से तो ग्राहक की सचाई का पता चलता है और आप दुकानदार की प्रशंसा कर रहे हैं !"

मास्टर केहरसिंह के इस व्यंग्य का मास्टर रौनकराम ने ज़रा बुरा न मनाया; उन्होंने उसी समय उठकर कहा, "हमारे भाई केहरसिंह जी तो हमारे मित्रों में हैं; उनकी बात में भी सचाई है।"

उपस्थित श्रोताओं पर मास्टर जी के इस उत्तर का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। मास्टर केहरसिंह भी खामोश बैठे रहे।

इसके बाद कभी स्कूल में मास्टर केहरसिंह मास्टर जी की बुराई करने लगते तो मैं कहता, "मास्टर जी, आपकी कविता किस अखबार में छपती है ? रौनकरामजी की कविता तो 'प्रकाश' में छपती है। वह तो आपको अपना मित्र मानते हैं।"

मास्टर केहरसिंह चिढ़कर रौनकराम की जगह रौनक शब्द का ही प्रयोग करते; लगे हाथ वे यह भी कहते, "कोई बनिया 'शाद' तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि बनियों की कौम तो ठगों की कौम है और ठग हमेशा नाखुश रहता है, अपने पाप के बोझ तले दबा रहता है। लेकिन यह रौनक है कि अपने को 'शाद' कहने से बाज़ नहीं आता !"

मेरा सहपाठी बुद्धराम स्कूल से लौटकर मास्टर जी को मास्टर केहरसिंह की जली-कटी सुना देता तो मास्टरजी खिले हुए मस्तक को उठाकर कहते, "हर आदमी की अक्ल उसी के साथ रहती है। मैं तो मास्टर केहरसिंह को एक विद्वान् मानता हूँ।"

मास्टर जी का शान्त स्वभाव मुझे उनकी कविता से भी कहीं अधिक प्रिय था। मुझ पर उनकी छाप थी। उनकी दुकान के सामने से गुज़रते हुए मैं हमेशा श्रद्धापूर्वक 'नमस्ते, मास्टर जी !' कहकर निकलता और मैं यह देखना भी भूल जाता कि मास्टर जी बैठे भी हैं या नहीं।

मास्टर जी ने आर्य समाज की शिक्षा को सामने रखते हुए कुछ भजन भी तैयार किये थे। आर्य समाज की साप्ताहिक मीटिंगों में पिताजी सदैव मास्टरजी के भजन गाने का अनुरोध करते। ये भजन सम्मिलित स्वर में गाये जाते। अल्ला जवाया मीरासी ढोलक बजाता, भजन के स्वर ताल पर अल्ला जवाया भी झूम उठता। भजन खत्म होने पर पिताजी कहते, "भदौड़ के मीरासियों को पक्षपात तो छू भी नहीं गया।" मास्टरजी कहते, "अल्ला जवाया को तो ढोलक बजाने में मज़ा आता है, कोई उसे आर्य समाज में बुला ले चाहे गोशाला के जलसे में !"

पिताजी के स्वभाव में बाबाजी के स्वभाव का यह अंश विशेष रूप से घुला

हुआ था कि जिस बात पर अड़ गये उसे पूरा किये बिना न रह सके। उनकी इसी बात पर मास्टरजी भी खुश थे। मुझे यह कहानी स्वयं मास्टरजी ने सुनाई थी कि निकट के गाँव तख्तूपूरा में कुछ लोगों की शुद्धि की गई थी, पिताजी वहाँ हो आये थे। हमारे गाँव के पण्डितों को इसका पता चल चुका था। मास्टरजी की दुकान के सामने सराफों की दुकान पर कुछ ब्राह्मण बैठे थे। पण्डित झौरियाराम ने ऊँची आवाज़ से यह कह दिया, 'जो ब्राह्मण लाला धालीराम के घर का पानी पियेगा, बाकी सब ब्राह्मण उसके साथ हुक्का-पानी बन्द कर देंगे!' संयोग से शाम को पिताजी मास्टरजी की दुकान पर गये तो मास्टरजी ने झौरियाराम की बात उन्हें सुनाई। अगले दिन ही पिताजी बरनाला जा पहुँचे और अदालत में उन ब्राह्मणों के विरुद्ध मान-हानि का दावा दायर कर दिया। इस मुकद्दमे में पिताजी को कुछ खर्च नहीं करना पड़ा। बड़ा बेटा अरज़ीनवीस, छोटा भाई वकील। लेकिन ब्राह्मणों की बड़ी शामत आई। वे बरनाला पहुँचे तो कोई वकील उनकी पैरवी के लिए तैयार न हुआ। सब वकीलों को पता चल चुका था कि मुकद्दमा बाबू पृथ्वीचन्द्र के भाई का है; जैसा वकील साहब के भाई का मुकद्दमा, वैसा वकील साहब का अपना मुकद्दमा। पहली पेशी पर ही मजिस्ट्रेट यह देखकर हैरान रह गया कि एक तरफ़ तो बरनाला के सभी वकील पैरवी के लिए मौजूद हैं और दूसरी तरफ़ एक भी वकील नहीं है। मजिस्ट्रेट ने सारी बात सुनी और ब्राह्मणों से कहा, "आप लोगों के लिए बेहतर तो यही है कि लाला धालीराम के साथ सुलह कर लें, नहीं तो जेल की हवा खानी पड़ेगी।" उसी समय झौरियाराम ब्राह्मण पिताजी की तरफ़ बढ़ा कि उनके चरण छू ले। पिताजी का क्रोध शान्त हो चुका था। उन्होंने झौरियाराम को बाँहों में भींचकर कहा, "आप भी ब्राह्मण हैं, पण्डित जी! मैं अपना मुकद्दमा वापिस लेता हूँ!"

मास्टरजी इस घटना का उल्लेख करते हुए हमेशा यह कहते, "देव, जब तुम्हारे पिताजी भरी कचहरी में ब्राह्मणों को क्षमा कर सकते हैं तो मैं भला मास्टर केहर-सिंह को क्यों क्षमा नहीं कर सकता? क्षमा सबसे बड़ी वस्तु है।"

मेरे पिताजी का उल्लेख करते हुए मास्टर रौनकराम हमेशा कहा करते थे, "सुनो देव, हर तहसीलदार और मजिस्ट्रेट को, हर एस० डी० ओ० को तुम्हारे पिताजी पहली ही मुलाकात में अपना मित्र बना लेते। यह सब उनकी मीठी ज़बान का जादू है। जब भी आर्य समाज के लिए चन्दे की ज़रूरत पड़ती है, कोई अफ़सर तुम्हारे पिताजी की बात टाल नहीं सकता। शायद तुम नहीं जानते कि हमारे आर्य समाज के भवन-निर्माण का श्रेय तुम्हारे पिताजी की कोशिशों को ही है।"

एक दिन मास्टरजी ने मुझे एक मज़ेदार किस्सा सुनाया, "सुनो, देव! एक बार तुम्हारे पिताजी का चचाज़ाद भाई चानणराम बत्ता नहर के एक ओवरसीयर

के माथे पर बदनामी का टीका लगवाने की दृष्टि से शराब पीकर और अपने साथ कुछ लोगों को लेकर आधी रात के समय भदौड़ से कई मील के फ़ासले पर राज-बाहे का किनारा काटने लगा। गश्त करने वाले ऊपर आ पहुँचे। बाक़ी लोग तो भाग गये। चानणराम शराब के नशे में उनके हाथ लग गया। वे उसे पकड़कर भदौड़ में नहर की कोठी पर ले आये। एस० डी० ओ० ढीपाली जा चुका था। वे लोग चानणराम को ढीपाली ले गये। एस० डी० ओ० वहाँ से भी चल चुका था। वे उसे वहीं गारद के सुपुर्द कर गये। इस बीच में तुम्हारे पिताजी को पता चला, तो वे फौरन घोड़ी पर सवार होकर ढीपाली में नहर की कोठी में पहुँचे, हालाँकि उन्हीं दिनों चानणराम ने कई मामलों में तुम्हारे पिताजी को नाराज कर दिया था। चानणराम गारद की हिरासत में बैठा था। तुम्हारे पिताजी वहाँ पहुँचते ही बोले, "चानणराम, तुम यहाँ बैठे क्या कर रहे हो? चलो हमारे साथ।" चानण-राम घबराकर बगलें झाँकने लगा। तुम्हारे पिताजी बोले, "चलो हमारे साथ। किसकी मजाल है जो तुम्हारी गर्द की तरफ भी देख सके?" इस प्रकार तुम्हारे पिताजी चानणराम को बाल-बाल बचा लाये थे। पर चानणराम बत्ता तो इसके बाद भी हमेशा तुम्हारे पिताजी की बुराई करता रहा और तुम्हारे पिताजी उसे क्षमा करते आ रहे हैं।"

मैं कई बार सोचता कि पिताजी का यह क्षमाशील रूप घर में क्यों नजर नहीं आता। जब वे रात को काम से लौटते तो दरवाजे से ही आवाज देते, "देव!" मेरा दिल काँपने लगता। माँ झट कहती, "जाकर घोड़ी पकड़ लो। थाली कहीं भागी तो नहीं जा रही? खाना फिर खा लेना।" माँ जी कहतीं, "रात को जब थका हुआ आदमी घर आता है तो वह अपना स्वागत चाहता है, देव!"

मैं बाहर जाकर घोड़ी की लगाम पकड़ लेता और कोई आध घंटे तक घोड़ी को गली में आराम से घुमाता रहता जैसी कि पिताजी की हिदायत होती। घोड़ी के पसीने की बू मैं बरदाश्त नहीं कर सकता था। लेकिन पिताजी के डर से यह काम करना पड़ता। कभी फत्तू आ जाता तो मैं छूट जाता। वापस आकर मैं देखता कि किस तरह पिताजी को देखते ही घर के सब लोगों ने मौन धारण कर लिया है। सब उनसे डरते थे। एक चाचा लालचन्द ही थे जिन्हें पिताजी से बात करते समय कोई झिझक न होती।

चाचा लालचन्द का फत्तू के साथ ईंट कुत्ते वाला बैर था। चाचाजी और फत्तू के मामले में पिताजी हमेशा फत्तू का पक्ष लेते। लेकिन जहाँ तक घर की बातों का सम्बन्ध था, वे चाचा लालचन्द को लक्ष्मण से कम नहीं समझते थे। घर का सब काम पिता जी ने चाचा जी पर छोड़ रखा था। कहीं से कुछ भी लाना होता, चाचा जी ही लाते। घर में अक्सर सौदा उधार ही आता, यही चाचा जी के मजे का कारण था। जब पिताजी चेक भुना कर लाते, तो पिछला उधार

चुकाकर वही में लिख देते। ताया रुलियाराम की मृत्यु के बाद से उनकी वही में हर महीने और हर साल का हिसाब दर्ज होता आया था। उधार चुकाकर कुछ इस तरह लिख देते—'इतने रुपये बाबत सौदा घर मारफ़त भाई लालचन्द फलाँ जी को दिये !' अब सचमुच कितने किसके देने थे यह जानना जैसे पिताजी का काम ही न हो। भले ही चाचा जी अगला चेक भुनाये जाने पर फिर आकर खड़े हो जायँ और कहें, "भाई साहब, लाला गंगाराम बजाज के पचास रुपये देने हैं।" पिताजी कभी न पूछते कि पिछले महीने भी तो दिये थे, इस महीने इतना कपड़ा कैसे आ गया। उनका तो एक ही काम था; रुपये चाचा जी को दे दिये जायँ, जितने भी वे माँगें, और नपे-तुले अन्दाज़ में यह रक़म वही में दर्ज कर दी जाय।

एक दिन पिताजी ने पूछा, "देव, तुम्हें सन्ध्या याद हुई है, या नहीं?"

मैंने कुछ उत्तर न दिया; मेरा दिल डर से डूबा जा रहा था।

उन्होंने फिर कहा, "मास्टर रौनकराम को पता चला तो क्या कहेंगे? आख़िर मैं आर्य समाज का प्रधान हूँ। इस महीने सन्ध्या याद हो जानी चाहिए, आर्य समाज के वार्षिक उत्सव से पहले-पहले।"

आर्य समाज का उत्सव आ पहुँचा; मैं पूरी सन्ध्या याद न कर सका। इसके लिए मेरी खूब पिटाई हुई। फिर मैं आँखों के आँसू पोंछकर उत्सव में सम्मिलित हुआ।

श्राद्ध खण्डन पर इस वर्ष मास्टर रौनकराम व्याख्यान दें, यह सबका अनुरोध था। अभी मास्टर जी ने मंच पर उठकर कुछ कहना आरम्भ किया था कि किसी ने पूछ लिया, "मास्टर जी, क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आपके घर में श्राद्ध नहीं किया जाता?"

झौरियाराम ब्राह्मण ने उठकर कहा, "कौन कहता है कि मास्टरजी के घर में श्राद्ध नहीं होता? मैं तो अभी कल ही उनके घर में श्राद्ध का न्योता खाकर आया हूँ।"

इसके उत्तर में मास्टर जी ज़रा भी न घबराये। बोले, "भाइयो और बहनो, मैं अभी इसका शंका-समाधान किये देता हूँ। आर्य समाजी मैं हूँ न कि मेरी पत्नी या मेरी माँ। किसी के विचारों को ज़बरदस्ती बदला नहीं जा सकता। इन्सान पर बाहर से कोई चीज़ लादी नहीं जा सकती। जो वस्तु बीज रूप में जिसके भीतर रहती है वहीं वह फल सकती है। किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि वह अपने किसी निकट-से-निकट सम्बन्धी को भी जबरदस्ती अपना हमख्याल बनाने का यत्न करे। हर आदमी अपने किये का फल भोगता है। अज्ञानवश कोई आदमी कोई कार्य करता है तो उसका फल वही भोगेगा। किसी की ग़लती का जवाब हम ग़लती से नहीं दे सकते।"

इस पर झौरियाराम ने उठकर कहा, "मास्टरजी ने जो कहा ठीक कहा,

हम भी तो यही कहते हैं कि श्राद्ध वही है जो श्रद्धा से किया जाय।"

उत्सव के बाद कई दिन तक मुझे यह विचार आता रहा कि हमारे घर में पिताजी यह क्यों नहीं चाहते हैं कि जबरदस्ती स्त्रियों को भी आर्य समाज के विचारों के अनुसार चलाया जाय। माँ कभी 'तीयां'[1] देखने क्यों नहीं जा सकती? मौसी भागवन्ती किसी को श्राद्धों के दिनों में न्योता क्यों नहीं दे सकती? बार-बार मुझे अपनी पिटाई का ध्यान आता जो पूरी सन्ध्या याद न कर सकने के कारण हुई थी, सन्ध्या करते-करते मैं जैसे भय के कारण मन्त्र भूल जाता।

वैसे पिताजी का बात करने का ढंग बुरा न था। वे बात करते तो उनका विरोधी भी उनका सिक्का मान जाता। यह शैली उन्हें बाबा जी से प्राप्त हुई थी। किस तरह बात शुरू की जाय, किस तरह बात करते-करते यह ख्याल रखा जाय कि दूसरे आदमी का कहीं भी दिल न दुखने पाये, यही शैली हू-ब-हू बाबा जी की थी। लोगों से बात करते समय वे अपना वह रूप कभी सामने न आने देते जो घर में रहता था; घर से बाहर तो वे यों बात करते, जैसे वे स्वयं भी दूसरों की बात को समझना चाहते हों। जब कभी घर वाला रूप बाहर दिखा बैठते, तो बाद में वे अपनी ग़लती मानते, और पश्चात्ताप करते। बाबाजी के पास बैठकर वे बता देते कि कैसे उन्हें बात करते-करते किसी पर क्रोध आ गया और कैसे उन्होंने अगले दिन उस आदमी से क्षमा माँग ली। बाबाजी सदैव यही कहते, "क्षमा माँगने का अवसर ही क्यों आये? क्यों न इन्सान पहले ही सोच-कर बोले।" पिताजी कहते, "अब आगे से मैं अधिक शान्त रहने का यत्न करूँगा।" उस समय पिताजी मुझे बहुत प्रिय लगते। मैं चाहता था कि पिताजी घर में भी क्रोध छोड़ दें।

पिताजी हमेशा कहते, "न मैं डरना चाहता हूँ, न डराना चाहता हूँ।" लेकिन घर के भीतर तो वे डराने वाली पद्धति पर ही चलते थे। वे यह भी कहा करते थे, "मैं लालच के आगे तो कभी सिर नहीं झुका सकता चाहे मेरा कितना भी नुकसान क्यों न हो जाय। मुझे तो ईमानदारी का पैसा ही चाहिए, चाहे वह थोड़ा ही हो।" यह सुनकर मैं सोचता कि पिताजी के भीतर तो सचाई के झरने बह रहे हैं। जब मैं उनके माथे पर त्योड़ियाँ देखता, मैं सोचता कि यह उनका असली रूप नहीं है।

एक दिन अखबार सुनने के बाद बाबाजी बोले, "भदौड़ में मेरी दो आँखें हैं—एक तुम्हारे पिताजी, दूसरे मास्टर रौनकराम! मेरी निगाह तो अब कमज़ोर है। मैं तो ज्यादा देख भी नहीं सकता। अब मैं बानवे साल का हूँ। मेरा मन कहता है कि मैं सौ साल से पहले नहीं मर सकता। वेद में भी तो सौ साल जीने

१. सावन में तीज का त्योहार।

की प्रार्थना की गई है, बेटा !"

कुछ वर्ष पूर्व ही बाबाजी की आँखों का मोगा में आप्रेशन हुआ था। मुझे वे दिन याद थे, जब बाबाजी मोगा के अस्पताल से लौटे और उनकी आँखों पर हरी पट्टी बँधी रहती थी। उनका ख्याल था कि मोतियाबिन्द का आप्रेशन इतना सफल होगा कि वे ऐनक लगाकर खुद अख़बार पढ़ने लगेंगे। लेकिन एक तो इतनी बड़ी उम्र, दूसरे डाक्टर मथुरादास ने मना कर दिया, "देखिए लालाजी, ऐनक तो दे रहा हूँ लेकिन पढ़ने के लिए नहीं।"

एक दिन मास्टरजी ने मुझे अपनी दुकान के सामने रोककर कहा, "बाबाजी तुम्हारे लिए वरदान हैं। उन्हें अख़बार सुनाने के बहाने तुम भी अखबार पढ़ लेते हो। अख़बार तो हमारे लिए दुनिया के दरवाज़े खोल देते हैं। दूर-दूर के देश अखबार में कितने नज़दीक नज़र आने लगते हैं।"

एक दिन मैंने बाबाजी से कहा, "बाबाजी, मास्टरजी की बात में तो बड़ी महक आती है, जैसे गुलाब के फूल से महक आती है।"

बाबाजी ने हँसकर कहा, "यह तो तुम शायरों की तरह बोलने लगे। ठीक है बेटा, मास्टरजी की बात में महक ही तो सबसे बड़ी चीज़ है। यह महक बड़े अनुभव के बाद आती है। यही महक तुम्हारे पिताजी की बात में भी तुम्हें महसूस होगी एक दिन, जब उन्हें अपने काम से फुर्सत मिलने लगेगी।"

मैं उस दिन का इन्तज़ार करने लगा जब पिताजी महज़ त्योड़ियाँ चढ़ाये नज़र नहीं आया करेंगे।

स्कूल में एक दिन मास्टर केहरसिंह ने मुझे बहुत पीटा। बात यों हुई कि उन्होंने बड़ गर्व से कहा, "मैं ज्ञानी पास तो नहीं हूँ, पर कई ज्ञानी पास करने वालों का बाप ज़रूर हूँ।" मुझे यह सुनकर हँसी आ गई। बस इसी पर उन्होंने मेरी पिटाई कर डाली। पिटाई के बाद उन्होंने पूछा, "दस्स सूरा, तूँ हस्सिया क्यों सी ?"[१]

दूसरी बार पिटने के डर से मैं यह न कह सका—मास्टर जी, आपकी तो शादी भी नहीं हुई, आप ज्ञानी पास करने वालों के बाप कैसे हो गये ?

उस दिन मास्टर केहरसिंह ने आर्य समाज के मन्त्री और प्रधान के नाम ले-लेकर और साथ ही भदौड़ में आर्य समाज के संस्थापक बाबाजी का नाम लेकर गालियाँ दीं। मैं पिटाई के डर से चुप रहा।

स्कूल से लौटते हुए मैं मास्टरजी की दुकान के सामने से गुज़रा तो मास्टर जी वहाँ बैठे नज़र न आये। पिताजी काम पर बाहर गये हुए थे। मैं बाबाजी के पास आ बैठा और कुछ न बोला। उनकी निगाह इतनी भी नहीं थी कि मुझे पास

१. बता सूअर, तू हँसा क्यों था ?

बैठे देखकर पहचान लें। उन्होंने मुझे हाथ लगाकर देखा। मैं फिर भी खामोश रहा।

वे मुझे छूकर पहचानने का यत्न करते रहे। बोले, "तुम हो देव ?"

मैंने कहा, "हाँ, बाबाजी !"

मैंने बहुत चाहा कि मास्टर केहरसिंह से पिटने की कहानी सुना डालूँ। लेकिन न जाने मुझे क्यों हौसला न हुआ।

मैंने कहा, "बाबाजी, अखबार सुनाऊँ ?"

"आज अखबार रहने दो, देव !" वे बोले, "अन्दर जाकर देखो तो कौन आया है ?"

घर के आँगन में एक आदमी फौजियों का-सा कोट पहने खड़ा था। वह हँस रहा था। माँ खुश थी। माँजी खुश थीं। मौसी भागवन्ती खुश थी। भाभी धन-देवी मुझे पास आते देखकर बोली, "देव, दौड़कर आ। जयचन्द आ गया।"

जयचन्द ने मुझे प्यार से झँझोड़कर कहा, "अब के लड़ाई होगी तो तुम्हें भी बसरा दिखा लाऊँगा।"

और मैं जयचन्द के अपरिचित-से चेहरे की तरफ़ देखता हुआ उसे पहचानने का यत्न करता रहा। मुझे कई बार ख़याल आया कि मैं जयचन्द से कहूँ, "बसरा से आने वाले भाई साहब, क्या आपको खबर है कि आज मास्टर केहरसिंह ने आपके छोटे भाई को पीट डाला। आप उनसे मेरा बदला ले सकें तो मज़ा आ जाय !" लेकिन मेरी आँखों में पिताजी का चेहरा घूम गया जिन्होंने भरी कचहरी में पण्डित झौरियाराम को क्षमा कर दिया था। मास्टरजी का रूप घूम गया, जो मास्टर केहरसिंह को अपना मित्र समझते थे। पण्डित घुल्लूराम की गम्भीर मुख-मुद्रा घूम गई जिन्हें आर्य समाज और सनातन धर्म सभा से एक-जैसा प्रेम था।

कैमरे का चमत्कार

जयचन्द के आने की सबसे ज़्यादा खुशी सावित्री को हुई; जिसके लिए वह एक गुड़िया लाया था। यह रबड़ की गुड़िया थी। सावित्री की आयु आठ-नौ वर्ष तो अवश्य होगी। जयचन्द बार-बार कहता, "सावित्री, यह गुड़िया तो मेम की बिटिया है? इसने फ़राक पहन रखी है और बाल कटा रखे हैं। तुम कहो तो तुम्हारे लिए भी फ़राक सिला दें, तुम्हारे बाल भी कटा दें!" सावित्री कहती, "मुझे मंजूर है।" माँ जी जयचन्द से कहतीं, "लड़कियों से यों नहीं कहा करते, जयचन्द!" लेकिन जयचन्द को तो सावित्री को चिढ़ाने में मज़ा आता था। वह उसे गुड़िया कहकर बुलाता। गुड़िया दूर-दूर रहती।

सावित्री बड़ी सरलता से कहती, "बसरे गये थे तो अफ्रीका क्यों न हो आये, भाई साहब? वहाँ हमारे पिताजी और माताजी रहते हैं। मैं अफ्रीका जाऊँगी।"

"समुद्र में डूब जायगा जहाज़," जयचन्द उसे छेड़ता, "और हमारी सावित्री अफ्रीका नहीं पहुँच सकेगी।"

"हमारा जहाज़ बिलकुल नहीं डूबेगा।" सावित्री ज़ोर देकर कहती।

"तुमने जहाज़ देखा भी है?" जयचन्द पूछता, "बताओ, जहाज़ कितना बड़ा होता है?"

"जहाज़ तो मैंने भी नहीं देखा, भाई साहब!" मैं पास से बोल उठता।

"मैंने देखा है जहाज़!" विद्यासागर बनने का यत्न करता, "मैं बता सकता हूँ कि कितना बड़ा होता है जहाज़।"

"अच्छा बताओ, विद्यासागर!"

"हमारे घर जितना होता होगा जहाज़।"

हम सब हँस पड़ते। विद्यासागर के गाल पर हल्की-सी चपत लगाकर जयचन्द कहता, "अरे मिस्टर, जहाज़ तो उससे भी बड़ा होता है।"

"और समुद्र कितना बड़ा होता है?" विद्यासागर पूछता।

"पहले तुम बताओ, विद्यासागर!"

"अच्छा तो बताऊँ?"

"हाँ, हाँ, बताओ।"

"हमारे घड़ूएँ तालाब से वड़ा होता है समुद्र।"

"कितना वड़ा ?"

"थोड़ा वड़ा।"

सावित्री खिलखिलाकर हँस पड़ती, जैसे वह स्वयं जानती हो कि समुद्र सचमुच कितना वड़ा होता है। वैसे तो मैं भी हँस पड़ता, लेकिन समुद्र के बारे में मैं जयचन्द के मुख से ही सुनना चाहता था।

जयचन्द हमेशा जहाज़ और समुद्र की कहानियाँ सुनाने के लिए तैयार रहता। ये कहानियाँ हमें ताई जी की कहानियों से भी अच्छी लगतीं। कभी-कभी मैं सोचता कि जयचन्द को कभी ताई जी याद क्यों नहीं आतीं। उसकी कहानियों में वन्दूकें चलतीं— ठस-ठस; उसकी कहानियों में तोपों से वीस-वीस तीस-तीस मन के गोले छूटते और खन्दकें हिलतीं-उछलतीं। फौज के आगे बढ़ने की कहानियाँ। तोपों की कहानियाँ। छिपे हुए सिपाहियों के खन्दकों से निकलकर दुश्मन पर टूट पड़ने की कहानियाँ। किसी की कुहनी खन्दक से निकली, उधर से गोली आकर लगी। परवाह नहीं, गोली तो पार निकल गई, घाव पर गीली मिट्टी लगाकर रूमाल से कसकर बाँध दिया गया। मौत का खतरा। रिलीफ का इन्तज़ार। ज़ख्मी सिपाहियों के मज़ाक। सात-सात जर्मनों को अकेले मौत के घाट उतारने वाले सूबेदारों के मज़ाक। मौत के मुँह में बैठकर भी 'राज बुरा एस डोगरे दा'[1] गाने वालों को अपनी आँखों से देखने के लिए हमारा दिल उछल पड़ता।

तीन-तीन दिन तक भूखे रहने वाले सिपाहियों को रिलीफ द्वारा बिस्कुट बाँटे जाने की कहानी सावित्री को बहुत पसन्द थी। विद्यासागर को वह कहानी पसन्द आती जिसमें खाकी फौजी वर्दी का जिक्र आता। कम्वल का रंग भी खाकी ही होना चाहिए, यह उसका तकाज़ा रहता। जयचन्द भी खाकी वर्दी वालों के कारनामे सुनाता कभी न थकता। वन्दूकों के फ़ायर। लड़ने वालों को समय पर सूझे हुए दाव-पेंच। तुरत-बुद्धि और टेलीफोन का जादू। डाक्टरों और कम्पा-उंडरों का कमाल। नर्सों की अस्पताल में तीमारदारी। लाशों और घायलों को ढोने वाली गाड़ियों के ड्राइवरों की हिम्मत। ये प्रसंग हमें पसन्द थे। जयचन्द की कहानियों में आपबीती कितनी है और जगबीती कितनी, यह देखना जैसे काम न हो।

विद्यासागर जयचन्द की पीठ पर सवार होकर कहता, "कहानी में से कहानी निकल रही है, लाम में से लाम निकल रही है!" जयचन्द कहता, "अगली लड़ाई में तुम्हें भी ले चलेंगे लाम पर!"

सावित्री कहती, "विद्यासागर तो सूबेदार बनेगा!"

---

१. इस डोगरे का राज बुरा है। (जम्मू के एक डोगरा गीत का शुरू का बोल)।

और हम हँस पड़ते ।

हम यह पूछना भूल जाते कि भाई साहब, आप सूबेदार थे या जमादार या यह कि आपको सरकार ने बहादुरी से लड़ने का कोई खिताब दिया या नहीं ।

एक दिन जयचन्द ने स्वयं बताया, "मैं सन् १९१५ में फीरोज़पुर से भरती हुआ था । भरती होने से पहले की कहानी सुनोगे तो अगली कहानी सच-सच सुनाऊँगा । अब तक तो मैं ज्यादा सुनी हुई बातें ही सुनाता रहा । इस वक्त मेरी उम्र बाईस साल की है । चौथी क्लास भदौड़ में पास की थी । पांचवीं और छठी लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में पास की जब चाचा पृथ्वीचन्द्र जी लाहौर में एफ० ए० की पढ़ाई कर रहे थे डी० ए० वी० कालिज में । सातवीं और आठवीं बरनाला में पास की; नौवीं-दसवीं लुधियाना के आर्य हाई स्कूल में । सन् १९१२ में पिताजी की मृत्यु हुई । उस साल मैं दसवीं की परीक्षा न दे सका, अगले साल मैट्रिक किया । फिर सन् १९१३-१४ में लाहौर के रेलवे ट्रेनिंग स्कूल में तीन महीने की ट्रेनिंग के बाद सिगनेलर, बुकिंग क्लर्क और ट्रेवलिंग टिकट कलैक्टर का काम करता रहा – भटिण्डा, मानसा, जाखल, जींद — कई जगह रहा । बीमार होकर काम छोड़ आया । घर में जी नहीं लगता था । आराम होने पर कुछ दिन इधर-उधर घूमने लगा । सन् १९१४ में ही माता जी का देहान्त हुआ । मैं उनकी मृत्यु के चौथे दिन भदौड़ आया था, शायद आप लोगों को उसकी कोई याद नहीं होगी ।"

मैंने कहा, "अब अगली कहानी सच-सच सुनाइए । अपना वादा पूरा कीजिए, भाई साहब !"

"अच्छा सुनो," जयचन्द ने कहना शुरू किया, "सन् १९१५ में मैं फीरोज़पुर से भर्ती हुआ । जैसे और लोग भर्ती हो रहे थे, मैं भी हो गया । मैं कम्पाउंडर भर्ती हुआ था । बम्बई से लायलटी हास्पिटल शिप से हम लोग लड़ा. में फौजियों की मदद के लिए चले । मैंने वहाँ जाकर बहुत काम किया और ये पाँच साल कैसे बीत गये, पता ही न चला । घायल सिपाहियों की सेवा करना हमारा काम था । उनकी कहानियाँ सुनते हुए समय बीत जाता । हर वक्त हम यही सोचते कि जर्मनी की हार कब होती है । आखिर जर्मनी हार गया । हम वापस चले आये । बम्बई से मैंने साबित्री के लिए गुड़िया खरीदी और तुम्हारे लिए कैमरा और विद्यासागर के लिए तस्वीरों वाली किताब जिसमें दुनिया के सब देशों की अलग-अलग तसवीरें हैं ।"

मैं कुछ न समझ सका कि कैमरा क्या होता है । साबित्री को गुड़िया मिली, विद्यासागर को तस्वीरों वाली किताब, बाबाजी को खाकी कम्बल और पिताजी को फौजी वरदी जिसमें वे चाहते तो छिप सकते, जिसे कटाकर उन्होंने कोट और पाजामा सिलाने का फैसला किया था ।

मैंने कहा, "कैमरा क्या होता है, भाई साहब ?"

"इसीलिए तो दिया नहीं तुम्हें कैमरा," जयचन्द ने हँसकर कहा, "पहले यह पूछो कि कैमरा क्या होता है।"

जयचन्द ने मुझे कैमरे के बारे में बहुत कुछ बताया, पर विद्यासागर और सावित्री भी कुछ नहीं समझे, जैसा कि उनके चेहरे बता रहे थे।

जयचन्द बोला, "तुम लोग यहीं रहो। मैं नीचे से अभी कैमरा लाता हूँ।"

थोड़ी देर बाद जयचन्द ने कैमरा लाकर दिखाया और वह इसके सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहता चला गया। उसके पास कुछ लिफाफे थे जिनमें नैगेटिव भरे हुए थे। कुछ लिफाफों में प्रिंट थे। कुछ बड़े लिफाफे थे जिनमें कुछ ऐनलार्जमैन्ट्स थीं। यह सब देखकर हम बहुत खुश हुए।

लेकिन मेरे लिए यह सब जादू के खेल से कम न था। मुझे विश्वास नहीं आ रहा था कि यह सब सच है कि इस कैमरे से फोटो खींचा जा सकता है और उसे कागज पर प्रिंट भी किया जा सकता है।

इसका विश्वास हमें उस समय हुआ जब जयचन्द ने कैमरे में नई फिल्म डालकर हमारे घर वालों के फोटो खींचे और फिर जब वह एक दिन फीरोजपुर गया तो वहाँ से फिल्म को धुलाकर प्रिंट और ऐनलार्जमैन्ट्स बनवा लाया। सावित्री फोटो में भी काली कबूतरी प्रतीत हो रही थी, जैसे उसके पंख लग गये हों और वह फुर से उड़ जाना चाहती हो। विद्यासागर तस्वीरों वाली पुस्तक खोलकर देख रहा था; फोटो में वह पुस्तक और उस पुस्तक के खुले हुए पृष्ठ पर छपी हुई तस्वीर भी फोटो में साफ-साफ उतर आई थी। मेरा अपना फोटो मुझे और भी विचित्र लगा— मैं एकदम गम्भीर नज़र आ रहा था, किसी चिन्ता में डूबा हुआ। माँ, माँ जी, मौसी भागवन्ती और भाभी दयावन्ती एक फोटो में जैसे हँसी की फुलझड़ियाँ बनी जा रही थीं। पिताजी और चाचाजी एक-दूसरे की तरफ देख रहे थे। बाबा जी ऐनक लगाये बैठे थे— जैसे कोई चिरकाल का यात्री चलते-चलते थक-हारकर सड़क के किनारे बैठ गया हो। फत्तू का फोटो सबसे अच्छा था। जयचन्द कह रहा था कि अगर वह फत्तू का फोटो जर्मनी में भेज दे तो उसे इनाम मिल सकता है। फत्तू के चेहरे की झुरियाँ बड़ी गहरी थीं, वह कोई अनुभवी फिलास्फर मालूम हो रहा था—उसकी आँखें जैसे कहीं दूर, बहुत दूर, देख रही हों।

अगले दिन मैंने फत्तू से कहा, "फत्तू, तुम क्या सोच रहे थे, जब भाई साहब ने तुम्हारा फोटो खींचा था ?"

वह बोला, "मैं तो यही सोच रहा था कि हमारी रेशमा का दूध कैसे कम हो गया।"

हम सब हँस पड़े। सावित्री बोली, "फत्तू की फोटो तो रेशमा के साथ ही

खेंचनी चाहिए, भाई साहब !"

लेकिन फत्तू इसके लिए तैयार न हुआ। मेरी ज़िद देखकर जयचन्द ने मेरी नीली घोड़ी के दो-तीन फोटो खींचे। एक फोटो मास्टर रौनकराम का भी खींचा।

पहले के खींचे हुए फोटो एक अलबम में लगा दिये गये। शुरू का फोटो चौबारे का फोटो था, जो जयचन्द ने नीचे गली में खड़े होकर खींचा था।

अब हम यह इन्तज़ार करने लगे कि जयचन्द फीरोज़पुर कब जायेगा और कब प्रिंट और ऐनलार्जमेंट बनवा कर लायगा।

लेकिन हमें यह पता चल गया कि जयचन्द अब फीरोज़पुर नहीं जायगा। वह अपना नाम कटवा आया था, क्योंकि उसे फौज की नौकरी पसन्द न थी। उसके इस फैसले से सबसे ज्यादा खुशी बाबा जी को हुई। वे बोले, "मैं खुश हूँ कि तुम्हारे पैर का चक्कर खतम हुआ, अब तुम यहीं रहो, बेटा ! अपने ताया जी के साथ ठेकेदारी करो। दो रोटियाँ तो मिल ही जाती हैं इन्सान को चाहे वह बसरे में रहे चाहे भदौड़ में !"

फिर एक दिन जयचन्द ने भटिण्डे जाने की तैयारी शुरू कर दी। वहाँ उसे भूपेन्द्र फ्लोर मिल में नौकरी मिल गई थी। फत्तू की यह ड्यूटी लगाई गई कि वह जयचन्द के साथ रामपुरा रेलवे स्टेशन तक जाये और आता हुआ घोड़ी को लौटा लाये।

उस दिन जयचन्द ने नये सिलाये हुए कपड़े पहने। और जब वह फत्तू की आवाज़ सुनकर बाहर निकला, तो सावित्री, विद्यासागर और मैं उसके साथ-साथ रहे।

फत्तू ने हँसकर कहा, "देखो बाबू जयचन्द, खाकी कोट के साथ सफेद पाजामा क्यों पहन लिया ?"

"यह तो ठीक है, फत्तू !" जयचन्द ने घोड़ी पर चढ़ते हुए कहा।

फत्तू बोला, "ठीक तो क्या है ? सफ़र में मैला हो जायगा।"

जयचन्द ने घोड़ी को एड़ लगाई और चल पड़ा। पीछे-पीछे फत्तू भी आ रहा था।

मैंने पीछे से आवाज़ देकर कहा, "भाई साहब, फोटो भेजना न भूलिए। फत्तू का नया फोटो भी ज़रूर भेजिए।"

जयचन्द को गये हुए अभी कुछ ही दिन हुए थे, जब एक दिन मास्टर रौनकराम बाबा जी से मिलने आये। उन्होंने सफेद पगड़ी बाँध रखी थी जो उनके चौड़े-चकले चेहरे पर बहुत अच्छी लगती थी।

"वही बात हुई न, मास्टर जी," बाबा जी बोले, "हमारी सेवाओं का फिरंगी ने अच्छा फल दिया। पहले तो फिरंगी ने रोलट-एक्ट जैसा काला कानून बनाया,

फिर जब इसके विरोध में आन्दोलन हुआ तो फिरंगी ने अमृतसर के जलियाँवाला बाग में हज़ारों निहत्थे इन्सानों को गोलियों से भून डाला। डायर और ओडवायर के क्या हाथ आया ? उन्होंने इतने लोगों के खून से क्यों अपने हाथ रँग लिये ?"

"मरी हुई कांग्रेस में फिर से जान पड़ गई," मास्टर जी ने ज़ोर देकर कहा, "कुरबानी दिये बिना तो आज़ादी हासिल नहीं होती।"

"यह तो आप ठीक कहते हैं," बाबा जी बोले, "यह कुरबानी ज़रूर रंग लायगी।"

मास्टर जी चले गये। मैं देर तक सोचता कि ये सब खबरें झूठी हैं, अंग्रेज़ इतने आदमियों को तो कभी नहीं मार सकता।

"आज़ादी के लिए ही तो ये सब तैयारियाँ हो रही हैं !" एक दिन बाबा जी ने ज़ोर देकर कहा। वे मुझे कई तरह से समझाने का यत्न करते रहे, पर ये बातें मेरी समझ में नहीं आ रही थीं।

मैंने पूछा, "बाबा जी, अंग्रेज कैसा होता है ?"

"अभी तो तुम बहुत छोटे हो, बेटा !" बाबा जी बोले, "जब तुम बड़े हो जाओगे, तब तुम्हें अंग्रेज़ दिखायेंगे।"

अब मेरे मन में हमेशा यही विचार आता कि मैं कब बड़ा हूँगा और कब अंग्रेज़ को देखूँगा।

जब भी जयचन्द की याद आती, लगे हाथ उसके कैमरे की याद आ जाती। कभी मैं सोचता कि कैमरा भी क्या चीज़ है, ज़िन्दा इन्सान की तसवीर उतार-कर रख देता है, वैसी-की-वैसी। बार-बार मैं सोचता कि कैमरा अंग्रेज़ ने बनाया। कैमरा बनाने वाला अंग्रेज़ इतना बुरा कैसे हो सकता है कि अमृतसर में बेगुनाह इन्सानों को गोलियों से भून डाले। कभी मैं सोचता कि जयचन्द हमारे फोटो हमें भले ही न भेजे, किसी अंग्रेज़ का फोटो ही भेज दे ताकि मैं बड़ा होने से पहले ही अंग्रेज को देख लूँ।

काले रंग की सलवार बाबा के शोक में पहन रखी है । हम उस युवती की सूझ पर ज़ोर का क़हक़हा लगाते; साथ ही बाबा का चित्र भी हमारी आँखों में घूम जाता जो अपनी पोती को सूफ़ की सलवार पहनने की आज्ञा नहीं देना चाहता था ।

आसासिंह का दिमाग़ इन गीतों में खूब चलता था । पढ़ाई में उसका मन नहीं लगता था । मैं सोचता कि शायद आसासिंह के बाप ने उसे ज़बरदस्ती स्कूल में भेज दिया है, एक दिन वह स्कूल से भाग जायगा । हल चलाने, बीज बोने, सिंचाई करने और फ़सल काटने में अपनी उम्र के लड़कों को पीछे छोड़ जाने वाला आसासिंह स्कूल में आ फँसा था; पढ़ाई में घिसट-घिसटकर चल रहा था ।

स्कूल में आसासिंह बुरी तरह पिटता । उसके प्रति मेरी सहानुभूति सदैव सजग हो उठती । मैं सोचता कि पिटने में भी मैं उसका हाथ क्यों नहीं बटा सकता, जैसे मैं उसके मुख से कोई कहानी या गीत सुनकर रस लेने से नहीं चूकता ।

उर्दू अध्यापक मौलवी फ़रखन्दा ज़ाफ़र को खुश करने के लिए आसासिंह उनके घर हर दूसरे-तीसरे दिन छाछ पहुँचा देता, मौसम बदलने के साथ-साथ किसी अध्यापक को बेर लाकर देता, किसी को भुट्टे, किसी को मूँग या मोठ की फलियाँ, किसी को खरबूज़े और ककड़ी । पिटने से बचने के लिए आसासिंह ने ये उपाय निकाल लिये थे । पर इसके बावजूद आसासिंह पिटाई से न बच पाता । आसासिंह का ख़्याल था कि उसे पीटते समय हर अध्यापक उसका थोड़ा-बहुत लिहाज अवश्य करता है ।

छुट्टी के दिन मैं आसासिंह के साथ दूर खेतों में निकल जाता, जहाँ हम चरवाहों और खेतों में काम करने वालों के गीत सुनते । ये गीत हमारे मन पर अंकित होते रहते ।

एक दिन खेतों में गीत सुनते-सुनते मैंने अपनी एक कापी में इन्हें लिखना शुरू कर दिया । आसासिंह को मेरी यह बात बहुत विचित्र लगी । उसका ख़्याल था कि गीत तो सुनने की चीज़ है, लिखने की चीज़ नहीं है ।

आसासिंह के साथ मैं भी गिद्धा नाच के घेरे में खड़ा हो जाता । गिद्धे के घेरे के बीच में दो-एक युवक विभिन्न भाव-भंगियों से नृत्य का प्रदर्शन करते; गीत के अन्तिम बोल पर घेरे में खड़े हुए युवक तालियों से ताल देते हुए एक ही पद को झूम-झूमकर दस-दस बीस-बीस बार गाते चले जाते । कभी-कभी आसासिंह और मैं भी गिद्धे के घेरे के बीच चले जाते । आसासिंह मेरे कान में कहता, "हमें भी नाचने का हक़ है, देव ! हम भी गिद्धा नाच के साथी हैं । हम भी गिद्धा का रंग पहचानते हैं !"

गिद्धा नाचने के कारण पिता जी के हाथों मैं एक बार बुरी तरह पिटा । यह मेरा सौभाग्य था कि पिताजी को मेरी गीतों वाली कापी का पता नहीं चल पाया था । पिताजी के हाथों पिटते-पिटते मेरी आँखों में वह दृश्य घूम गया जब

गीत और आँसू

चोरों, परियों और राजकुमारों की कहानियों में आसासिंह यों खो जाता जैसे तेज़ी से उड़ती हुई फ़ाख़्ता सरकण्डे से अटे हुए रास्ते में गुम हो जाती है। जितने मेले उसने देखे थे, जितनी बार वह गिद्धा नाच में सम्मिलित हुआ था, जितनी बार उसने वारसशाह की 'हीर' पढ़ी थी, इसका ब्यौरेवार वृत्तान्त सुनाते वह कभी न अघाता।

पकने से पहले बेर क्या-क्या रंग बदलता है, इसका बखान करते हुए तो वह चित्र खींचकर रख देता। अपनी भाभी के गाल की सुन्दरता के प्रसंग में आसासिंह पके हुए बेर की उपमा यों उछालता जैसे कोई मदारी हवा में गोला फेंकता है:

बेरीयाँ चों बेर ल्याँदा,
भाभी तेरी गल्ह् वरगा।[1]

कभी आसासिंह वह गीत गुनगुनाने लगता जिसमें कपास के पौधे को सम्बोधित किया गया था:

परे होजा नी कपाह् दीये छटीए,
पतलो नूँ लंघ जाण दे![2]

बड़ा चटखारा लेकर वह बताता कि यह सूक्ति स्वयं पतले शरीर वाली युवती की है जिसे अपनी सुन्दरता पर बहुत गर्व है।

कभी वह सूफ़ की सलवार की शौकीन युवती का गीत गुनगुनाता:

सुत्थने सूफ़ दीये,
तैनूँ बाबे मरे तों पावाँ![3]

प्यारा-सा मुँह बनाकर आसासिंह बताता कि युवती के इस कथन का मतलब यह है कि वह अपने बाबा की मृत्यु होने पर सूफ़ की सलवार पहनेगी, तो जहाँ वह अपने दिल का शौक पूरा कर लेगी, वहाँ कोई पूछेगा तो कह देगी कि उसने

---

१. बेर के वृक्षों में से बेर ढूंढ़कर लाया हूँ तेरे गाल जैसा, ओ भाभी!
२. परे हट जा री कपास की छड़ी, पतले शरीर वाली स्त्री को गुज़र जाने दे!
३. ओ सूफ़ की सलवार, मैं तुझे अपने बाबा की मृत्यु पर पहनूंगी।

काले रंग की सलवार बाबा के शोक में पहन रखी है। हम उस युवती की सूझ पर ज़ोर का क़हक़हा लगाते; साथ ही बाबा का चित्र भी हमारी आँखों में घूम जाता जो अपनी पोती को सूफ़ की सलवार पहनने की आज्ञा नहीं देना चाहता था।

आसासिंह का दिमाग़ इन गीतों में खूब चलता था। पढ़ाई में उसका मन नहीं लगता था। मैं सोचता कि शायद आसासिंह के बाप ने उसे ज़बरदस्ती स्कूल में भेज दिया है, एक दिन वह स्कूल से भाग जायगा। हल चलाने, बीज बोने, सिंचाई करने और फ़सल काटने में अपनी उम्र के लड़कों को पीछे छोड़ जाने वाला आसासिंह स्कूल में आ फँसा था; पढ़ाई में घिसट-घिसटकर चल रहा था।

स्कूल में आसासिंह बुरी तरह पिटता। उसके प्रति मेरी सहानुभूति सदैव सजग हो उठती। मैं सोचता कि पिटने में भी मैं उसका हाथ क्यों नहीं बटा सकता, जैसे मैं उसके मुख से कोई कहानी या गीत सुनकर रस लेने से नहीं चूकता।

उर्दू अध्यापक मौलवी फ़रखन्दा ज़ाफ़र को खुश करने के लिए आसासिंह उनके घर हर दूसरे-तीसरे दिन छाछ पहुँचा देता, मौसम बदलने के साथ-साथ किसी अध्यापक को बेर लाकर देता, किसी को भुट्टे, किसी को मूँग या मोठ की फलियाँ, किसी को खरबूज़े और ककड़ी। पिटने से बचने के लिए आसासिंह ने ये उपाय निकाल लिये थे। पर इसके बावजूद आसासिंह पिटाई से न बच पाता। आसासिंह का ख़याल था कि उसे पीटते समय हर अध्यापक उसका थोड़ा-बहुत लिहाज अवश्य करता है।

छुट्टी के दिन मैं आसासिंह के साथ दूर खेतों में निकल जाता, जहाँ हम चरवाहों और खेतों में काम करने वालों के गीत सुनते। ये गीत हमारे मन पर अंकित होते रहते।

एक दिन खेतों में गीत सुनते-सुनते मैंने अपनी एक कापी में इन्हें लिखना शुरू कर दिया। आसासिंह को मेरी यह बात बहुत विचित्र लगी। उसका ख़्याल था कि गीत तो सुनने की चीज़ है, लिखने की चीज़ नहीं है।

आसासिंह के साथ मैं भी गिद्धा नाच के घेरे में खड़ा हो जाता। गिद्धे के घेरे के बीच में दो-एक युवक विभिन्न भाव-भंगियों से नृत्य का प्रदर्शन करते; गीत के अन्तिम बोल पर घेरे में खड़े हुए युवक तालियों से ताल देते हुए एक ही पद को झूम-झूमकर दस-दस बीस-बीस बार गाते चले जाते। कभी-कभी आसासिंह और मैं भी गिद्धे के घेरे के बीच चले जाते। आसासिंह मेरे कान में कहता, "हमें भी नाचने का हक है, देव! हम भी गिद्धा नाच के साथी हैं। हम भी गिद्धा का रंग पहचानते हैं!"

गिद्धा नाचने के कारण पिता जी के हाथों मैं एक बार बुरी तरह पिटा। यह मेरा सौभाग्य था कि पिताजी को मेरी गीतों वाली कापी का पता नहीं चल पाया था। पिताजी के हाथों पिटते-पिटते मेरी आँखों में वह दृश्य घूम गया जब

स्कूल में आसासिंह की पिटाई हुआ करती थी, जब उसकी पगड़ी गिर जाती, केश खुल जाते, पर मास्टरजी का हाथ उसे पीटने से पीछे न हटता। मैं सोचता जा रहा था कि एक-दो चपतों से तो आसासिंह का कुछ भी नहीं बनता। पिटते-पिटते मैं ज़मीन पर गिर गया। पिता जी गुस्से में गुर्राते रहे। मेरी आँखों से आँसू बह रहे थे, इन आँसुओं के साथ आसासिंह की याद भी न जाने कब बह गई। पिताजी अन्तिम चपत लगाकर बोले, "बोलो, तुम आसासिंह का साथ छोड़ोगे या नहीं?"

फिर कई दिन तक आसासिंह स्कूल में न आया तो मुझे लगा कि शायद पिताजी ने आसासिंह के बाप की डाँट-डपट कर दी होगी और उसने अपने लड़के को स्कूल से उठा लिया। मैं इस भय से काँप उठा कि अब आसासिंह मुझे कभी नहीं मिलेगा। मुझे सबसे अधिक चिन्ता अपनी कापी की थी जिस पर मैंने मज़ेदार गीत लिख रखे थे और जिसे पिताजी के डर से मैंने आसासिंह के पास ही छोड़ रखा था।

योगराज को आसासिंह की याद कभी न सताती। उसे तो उस लड़के की कहानी सुनाने से ही फ़ुरसत नहीं मिलती थी जो पुरानी आदत से मजबूर होकर कई-कई दिन तक स्कूल में पहुँचने की बजाय किसी गाँव में पहुँच जाता था, लोगों के हाथ की रेखाएँ देखकर, उनका भाग्य बताकर अच्छे-खासे पैसा कमा लाता था। योगराज का ख़्याल था कि शायद आसासिंह भी उस 'ज्योतिषी' लड़के के पदचिह्नों पर चल निकला है।

एक दिन आसासिंह स्कूल में आ पहुँचा तो मुझे लगा कि मेरी गीतों वाली कापी बच गई। पता चला कि वह बीमार था और उसने छुट्टी की अर्ज़ी अपने छोटे भाई के हाथ भिजवाई थी जिसने उसे स्कूल में पहुँचाने की बजाय खेत में ले जाकर फाड़ डाला था।

हैडमास्टर मलावाराम ने आसासिंह के हाथों पर लोहे की सलाख से पिटाई की। उसका यही कसूर था कि वह अर्ज़ी भिजवाये बिना ही महीना-भर घर में बैठा रहा। एक-दो बार तो मैं भी लोहे की सलाख की सजा भुगत चुका था। ज्यों ही मास्टर जी लोहे की सलाख ऊपर से उठाकर नीचे लाते, आसासिंह हाथ पीछे कर लेता और मास्टर जी पर कोई भूत सवार हो गया। वे बार-बार कहते, "हत्थ कड्ढ ओ भूतनी दिया गुण्डिया!"[1]

उस दिन आसासिंह को पिटते देखकर मुझे लगा कि उसके दिये हुए बेरों में से हैडमास्टर साहब को एक भी बेर मीठा नहीं लगा, उसका दिया हुआ एक भी भुट्टा अच्छा नहीं लगा। मैंने सोचा कि आसासिंह एक-दो बार और इसी तरह

१. हाथ निकाल, ओ भूतनी के गुण्डे!

पिटा तो वह ज़रूर स्कूल छोड़कर भाग जायगा। और उसकी पढ़ाई छुड़ाने की जिम्मेवारी हैडमास्टर साहब पर ही होगी।

पिटने के बावजूद आसासिंह ने स्कूल में आना न छोड़ा। मैं खुश था कि मेरी गीतों वाली कापी सुरक्षित है। घर वालों की आँख बचाकर हम छुट्टी के दिन खेतों में भाग जाते थे और गाने वालों से सुन-सुनकर मैं गीत लिखता रहता। अब तो मैं अपनी कापी के गीतों को पहचानने लगा था, उनकी धड़कनें सुनने लगा था।

एक दिन योगराज ने हैडमास्टर साहब से शिकायत कर दी कि आसासिंह ने उसकी कापी में गिद्धा नृत्य का यह गीत लिख दिया :

रन्न न्हा के छप्पड़ चों निकली,
सुलफे दी लाट वरगी ![1]

हैडमास्टर साहब ने योगराज के हाथ से कापी ले ली, कापी में लिखे हुए गीत को ध्यान से पढ़ा। उनकी आँखों में ग़ुस्से की आग भड़क उठी। वे आसासिंह पर पिल पड़े और घूँसे लगा-लगाकर उसकी चीखें निकलवा दीं। योगराज पास खड़ा देखता रहा। आसासिंह की पिटाई हो चुकी तो हैडमास्टर साहब ने योगराज के भी एक घूँसा रसीद किया और कहा, "चलो हटो यहाँ से। कसूर तुम्हारा भी कुछ कम नहीं है। तुमने आसासिंह को यह गीत क्यों लिखने दिया था ?"

रिसेस के पीरियड में मैंने आसासिंह से कहा, "योगराज को क्षमा कर दो, आसासिंह ! इस शिकायत के बदले तो उसे भी एक घूँसे की सज़ा मिल चुकी है।"

उस दिन आसासिंह और योगराज एक-दूसरे के समीप आ गये। योगराज ने क्षमा-याचना करते हुए कहा, "अब मैं कभी तुम्हारी शिकायत नहीं करूँगा, आसासिंह !"

आसासिंह ने योगराज को अपनी बाँहों में भींचकर कहा, "मैं कभी तुम्हारी बात का गुस्सा नहीं करूँगा।"

स्कूल से छुट्टी मिलने के बाद हमने फैसला किया कि शाम को नहर के पुल पर इकट्ठे होंगे। सबसे पहले मैं ही पुल पर पहुँचा, फिर योगराज आ गया और थोड़ी देर बाद आसासिंह भी हिरन की तरह कुलाँचें भरता वहाँ आ निकला।

मैंने कहा, "आज तुम दोनों की पिटाई हुई, इसका मुझे दुःख है।"

"ऐसी बातों का दुःख नहीं किया करते," आसासिंह बोला, "दो लग्गीयाँ विस्सर गईयाँ, सदके मेरी ढूई दे।[2] अब मज़ा तो यह है कि जो गीत मैंने योगराज की कापी में लिख दिया था उसका कहीं जवाब नहीं।"

"वाकई ! उसका जवाब तो कहीं नहीं मिल सकता !" योगराज ने शह दी।

१. स्त्री नहाकर पोखर से निकली, सुलफे की लपट-सी।
२. दो लगीं और वे चोटें मुझे भूल गईं, शाबाश मेरी पीठ के !

मैंने कहा, "भई, मैं तो उसका मतलब नहीं समझा, आसासिंह !"

"पहले यह बात ख़्याल शरीफ़ में ले आओ कि यह जाड़े का गीत है।" आसासिंह ने कहना शुरू किया, "शायर कहता है कि एक औरत जाड़े के दिनों में सवेरे-सवेरे गाँव के पोखर से नहाकर निकली। अब साहब वह औरत पानी से कैसे निकली, यही तो इस गीत में बताया गया है। यह समझो कि उस बेचारी का शरीर कड़ाके की सरदी में ठंडे यख़ पानी से निकलते समय एकदम लाल हो गया होगा। शायर ने उस औरत की उपमा सुलफई की चिलम से निकलती हुई लपक से देकर कमाल कर दिया है !"

"वाकई ! वाकई !" योगराज चिल्लाया और उसने आसासिंह को अपनी बाँहों में भींच लिया।

मैं खामोश खड़ा रहा। मैंने आसासिंह की बात की दाद न दी। दोनों मित्रों ने यही समझा कि इस मामले में मैं थोड़ा बेवकूफ़ हूँ। कई दिन तक वे मेरी मूर्खता पर व्यंग्य कसते रहे।

स्कूल के सामने पीपल के तीन वृक्ष थे। क्लास-रूम में पिटने की बजाय पीपल के नीचे, जहाँ दूसरी क्लास के लड़के भी देख रहे होते, हैडमास्टर साहब के हाथों लोहे की सलाख से पिटने में हमें अपना अपमान असह्य हो उठता। मैं सोचता कि ये पीपल भी हमें पिटते देखकर उदास हो जाते होंगे। मुझे लगता कि पीपल के पत्ते तो थोड़ी-सी हवा में भी डोलते रहते हैं, हमें भी थोड़ी-सी खुशी में ही नाच उठना चाहिए।

एक दिन आसासिंह ने मुझे पास के एक गाँव के मेले में चलने के लिए कहा और मैं झट तैयार हो गया। घर से हम स्कूल में जाने के लिए तैयार होकर चले। पर स्कूल की बजाय हम मेले में जा पहुँचे। मैं बार-बार पीछे मुड़-मुड़कर देखता जैसे कोई मेरा पीछा कर रहा हो। मेले के रंग हमें झंझोड़ रहे थे। रंग-रंग के साफे। रंग-रंग के दोपट्टे। रंग-रंग के तहमद। रंग-रंग के लँहगे और सलवारें। युवकों के कन्धों पर लाठियाँ। पायलों की रुनक-झुनक। हँसी ठट्ठे। मिठाई की दुकानें। चूड़ियों के ढेर।

मेले की मस्ती में मैं शीघ्र ही यह भूल गया कि मैं चोरी-छिपे यहाँ चला आया हूँ। मुझे किसी का डर न था। पास से युवकों की एक टोली गाते हुए गुज़र गई। गीत का बोल जैसे हवा पर अंकित होकर रह गया :

चल्ल चल्लीए चड़िक्क दे मेले,
नी मुण्डा तेरा मैं चुक्क लूँ ![1]

---

१. चलो चड़िक्क (गाँव का नाम) के मेले पर चलें। अरी तुम्हारे बालक को मैं उठा ले चलूँगा।

यह गीत मेले की मस्ती का प्रतीक था। मैंने देखा कि मेले में आई हुई बहुत-सी स्त्रियों ने गोद में बच्चा उठा रखा है। यह गीत सुनकर वे शरमाने की बजाय उलटा हँसने लगतीं।

इतने में हमें फत्तू मिल गया। उसने छूटते ही पूछा, "तुम्हें मेले में आने की छुट्टी किसने दी, देव ?"

"फत्तू, घर जाकर न बताना !" मैंने गिड़गिड़ाकर कहा।

फत्तू ने कहा, "घर जाकर तो मैं ज़रूर बताऊंगा।"

"जो तुम कहो, हम करने को तैयार हैं, फत्तू !" आसासिंह ने भी झुकना आवश्यक समझा, "देव के पिताजी को पता चल गया तो वह इस बेचारे की खाल उधेड़ लेंगे !"

फत्तू बोला, "इतना डर था तो यह आया ही क्यों था ?"

"आसासिंह ! तुम मुझे वह काम करने को क्यों कह रहे हो जो मेरा अल्लाह मुझे कभी नहीं करने देगा।"

मैंने रुआँसी-सी आवाज़ में कहा, "किसी तरह मुझे बचाओ, फत्तू !"

फत्तू ने इसका कुछ जवाब न दिया। मैं पिटने के लिए तैयार होकर घर पहुँचा। फत्तू ने घर आकर कुछ भी न बताया। मैंने विश्वास कर लिया कि फत्तू के अल्लाह ने ही उसे यह सलाह दी होगी।

एक दिन मैंने आसासिंह की सलाह से चाचा जी की गैरहाज़िरी में कील से उनकी सन्दूकची का ताला खोलकर एक रुपये के आने-पैसे निकाल लिये। चाचा जी को अगले दिन पता चला, पर मैं तो चौदह आने पैसे आसासिंह के खेत में गीत लिखवाने वाले चूहड़ों के लड़कों को इनाम में दे आया था।

एक दवन्नी बची थी। वह मेरी किताबों वाली अलमारी के एक कोने में रखी थी। चाचा जी को मुझ पर सन्देह था। उन्होंने मेरी अलमारी की तलाशी ली, तो वह दवन्नी उनके हाथ लग गई।

वह दवन्नी माँजी के पास लाकर चाचाजी बोले, "यह दवन्नी मेरी सन्दूकची की ही तो है।"

"यह क्यों नहीं कहता लालचन्द, कि इस दवन्नी पर तेरा नाम लिखा है !" माँजी ने क्रोध में आकर कहा।

चाचा जी चले गये और मैं बच गया।

एक दिन आसासिंह और मैं स्कूल जा रहे थे। मास्टर रौनकराम की दुकान के सामने मास्टर चिरंजीलाल ने मुझे रोककर पूछा, "देव, आज तुम नहाये थे ?"

"नहीं, मास्टर जी।" मैंने झट उत्तर दिया।

"क्यों नहीं नहाये ?"

"मेरी मरजी, मास्टर जी !"

मास्टर चिरंजीलाल के तेवर चढ़ गये। उस समय तो वे कुछ न बोले। मैं स्कूल पहुँचा तो उन्होंने मुझे क्लास से निकाल दिया।

मैं वस्ता उठाकर थाने की तरफ चल दिया। थाने के मुंशी जी आर्य समाज के सदस्य और पिताजी के मित्र थे। मुंशीजी ने मुझे देख लिया और पूछा, "स्कूल से क्यों चले आये, देव ?"

मैंने कहा, "मास्टर चिरंजीलाल ने मुझे क्लास से निकाल दिया।"

"तो तुमने सबक याद नहीं किया होगा ?"

"उन्होंने तो मुझे इसलिए निकाल दिया मुंशीजी, कि मैं नहाकर नहीं आया। उनका काम है पढ़ाना और सबक सुनना। मेरे नहाने या न नहाने से तो उनका कोई वास्ता नहीं है, मुंशीजी !"

मुंशी जी ने झट एक सिपाही को बुलाकर कहा, "इस लड़के को मास्टर चिरंजीलाल के पास छोड़ आओ, कहना कि मुंशीजी ने भेजा है।"

उस सिपाही ने मुझे क्लास में ले जाकर एक तरफ़ बैठने का इशारा किया। मास्टर चिरंजीलाल के कान में कुछ कहकर वह सिपाही थाने की ओर चला गया।

मास्टर चिरंजीलाल कुछ न बोले, मेरी तरफ़ घूर-घूरकर अवश्य देखते रहे। मेरा ख्याल था कि वे मेरी शिकायत पिता जी से अवश्य करेंगे, पर उन्होंने मुझे क्षमा कर दिया।

आसासिंह और योगराज को मैंने बता दिया था कि किस तरह उस दिन थाने के मुंशी जी से मेरी मुलाकात हो गई थी और किस तरह मुंशी जी ने सिपाही को बुलाकर कहा था कि वह मुझे साथ ले जाकर स्कूल में छोड़ आये। हमारे आश्चर्य का सबसे बड़ा कारण तो यह था कि उस दिन के बाद मास्टर चिरंजी-लाल ने हमारी पिटाई करने से मुँह मोड़ लिया था।

मुझे कव्वालियाँ सुनने का बहुत शौक था। साईं जी के तकिये पर योगराज और आसासिंह मेरे साथ जाते। पर हमारे सिर एक साथ झूमने लगते। मैं कई बार सोचता कि मेरा जन्म कव्वालों के यहाँ क्यों न हुआ।

एक दिन सरदार नानकसिंह के किले में किसी का विवाह था। इस खुशी में पटियाला से नर्तकियाँ मँगवाई गई थीं। उड़ते-उड़ते यह खबर हमारे स्कूल तक आ पहुँची। हमने तै किया कि छुट्टी के बाद हम नाच देखने चलेंगे।

सरदार नानकसिंह के किले में पटियाले की दोनों नर्तकियों का नाच देखते-देखते मैंने आसासिंह और योगराज को तलवण्डी में देखे हुए नाच का हाल फिर से सुना डाला। मैंने स्वीकार किया कि इस नाच के सामने वह नाच फीका था। मैंने सोचा कि मैं लड़की होता तो मैं भी नर्तकी बनकर यहाँ नाचता और उस अवस्था में मैं स्कूल में पिटने से बच जाता।

नाच खत्म हुआ तो हम भी भीड़ को चीरते हुए मंच की ओर बढ़े। योगराज

बोला, "वह देखो, आसासिंह !"

"क्या दिखा रहे हो ?" आसासिंह ने इधर-उधर नज़रें घुमाते हुए कहा ।

मास्टर चिरंजीलाल सरदार साहबान की बग़ल वाली कुरसी पर बैठे थे । एक सरदार साहब मास्टर जी से एक नर्तकी का परिचय करा रहे थे ।

मास्टर जी ने दूर से हमें देखा तो जैसे उन्हें ग्लानि का अनुभव हुआ । वह झट अपनी कुरसी से उठे और सरदार साहबान से आज्ञा लेकर पीछे से होते हुए दरवाज़े की तरफ लपके ।

वे हमारे पास से गुज़रे, तो उन्होंने आँखों-ही-आँखों से कहा— जाओ, मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया ।

"जो काम बड़े कर सकते हैं वह छोटों को तो नहीं करना चाहिए ।" योग-राज ने मास्टर जी के चले जाने के बाद चुटकी ली ।

मैं ख़ामोश रहा । क्योंकि मैं डरता था कि मास्टर चिरंजीलाल तो वैसे ही हमारी कुछ कम पिटाई नहीं करेंगे और यदि हमारी बातें भी उन तक जा पहुँचीं, फिर तो हमारी जान की ख़ैर नहीं । पर मास्टर चिरंजीलाल ने कभी हमसे यह पूछने तक की ज़रूरत न समझी कि हम नानकसिंह के किले में पटियाला से आई हुई नर्तकियों का नाच देखने क्यों गये थे । फिर भी मैं कई दिन तक डरता रहा । मेरा ख़याल था कि किसी भी दिन मास्टर जी को उस बात का ध्यान आ सकता है और उसी दिन वे हम पर पिल पड़ेंगे । जब इस बात को एक-दो महीने बीत गये तो मैंने समझा कि मास्टर जी ने हमें क्षमा कर दिया ।

मुझे लगा कि जहाँ तक नाच का सम्बन्ध है, कोई भी इसे दिल से नापसन्द नहीं कर सकता । आसासिंह का ख़याल था कि यदि मास्टर चिरंजीलाल को कभी गिद्धा नाच देखने का अवसर मिले तो वे उसमें भी रस ले सकते हैं । यही दलील मैं अपनी कापी में लिखे हुए गीतों के बारे में नहीं दे सकता था; मेरा दिल तो उसकी बात सोचते ही भय से काँप उठता । यह कापी आसासिंह के कब्ज़े में ही रहे, यह फ़ैसला बदलने के लिए मैं किसी तरह तैयार नहीं हो सकता था ।

जब भी अवसर मिलता, मैं उस कापी में नये सुने हुए गीत लिख डालता । आसासिंह किसी-किसी गीत की प्रशंसा कई-कई दिन तक करता रहता । एक दिन तो उसने यहाँ तक कह डाला, "सब शायरों की शायरी एक पलड़े में रख दी जाय और गिद्धा नाच के गीत दूसरे पलड़े में, तो गिद्धा के गीतों का पलड़ा ही भारी रहेगा !"

योगराज ने हँसकर कहा, "पर मेरा तो ख़याल है आसासिंह, कि यह बात मास्टर चिरंजीलाल से कह दी जाय तो वे तुम्हारी खाल उधेड़ डालें और तुम्हारी आँखों से इतने आँसू निकलें कि आँसुओं का पलड़ा ही भारी रहेगा ।"

निकाला जाता तो किसी रात सिंहवाहिनी दुर्गा का। हरिश्चन्द्र, सीता-स्वयंवर, नल-दमयन्ती, सावित्री-सत्यवान—एक-से-एक बढ़कर और लोकप्रिय स्वाँग निकाले जा रहे थे। दिन में हम एक-दूसरे पर रंग डालते, रात को स्वाँग का मज़ा लेते।

भाभी धनदेवी अपनी देवरानी दयावन्ती से बार-बार कहती, "देव से तुम बड़े आराम से रंग डलवा लिया करो।" मेरे हाथ में दिन-भर पीतल की पिचकारी रहती, घर में कई बालटियों में रंग घुला हुआ पड़ा रहता। दयावन्ती के मुँह पर तेल में मिलाकर तवे की कालख मलने की बजाय मुझे उस पर रंग डालने में ही मज़ा आता।

दयावन्ती अपना बचाव करने के लिए मुझे दूसरों पर रंग डालने की प्रेरणा देती। दूसरे लड़कों के हाथ से पिचकारी लेकर वह उन्हें खूब भिगो डालती। उस वक्त बड़ी खिल्ली उड़ती।

मेरी पिचकारी हर वक्त चलती रहती। रंग की बालटियाँ खाली होती रहतीं। जैसे होली कह रही हो—मैं तो साल-भर में आती हूँ। मैं आती हूँ तो कोई किसी से रूठा नहीं रह सकता, कोई मन मसोसकर नहीं बैठ सकता। मैं तो रंग उछालती आती हूँ।

रात को रले मिस्त्री के दल का स्वाँग हमारे घर के सामने से गुजरता, और कलालों के दल का स्वाँग देखने के लिए हम चौक में चले जाते। गली-गली, बाज़ार-बाज़ार स्वाँग बैलगाड़ी पर निकाला जाता। स्वाँग देखते हुए मैं भूल जाता कि मैं छठी में फेल हो गया हूँ। जैसे होली कह रही हो—मेरे लिए पास और फेल बराबर हैं। मेरे रंग तो सबके लिए हैं। मेरे नाज़-नखरे भी सबके लिए हैं।

दोनों दलों ने मिलकर फ़ैसला किया कि इस साल होलियों के बाद दिन में नक़लें भी की जायँ। पहले दिन रला लुहार के दल की बारी थी। इस दल ने छोटे चौक में अपना मंच बनाया और नकल में एक घर दिखाया गया, जहाँ बड़े चौक की ओर से थाने के कुछ सिपाही आ पहुँचे; उन्होंने आते ही घर की तलाशी लेकर वहाँ शराब निकालते हुए कुछ लोगों को गिरफ़्तार किया और वहीं एक मजिस्ट्रेट ने पहुँचकर उन लोगों को छः-छः महीने की क़ैद बामुशक्कत की सजा दे डाली। दर्शकों ने तालियाँ बजाकर हर्ष प्रकट किया। इस नकल में बधावा कलाल के दल को निशाना बनाया गया था।

दूसरे दिन कलाल दल ने बड़े चौक में अपना मंच बनाया और नक़ल में दिखाया कि किस तरह एक शरीफ़ आदमी को किसी ब्राह्मणी के यहाँ गिरफ्तार कर लिया गया। इस आदमी पर भी वहीं अदालत में मुकद्दमा चलाया गया और उसे दो साल की क़ैद बामुशक्कत की सज़ा दी गई। बड़े चौक में मैं भी आसासिंह और योगराज के साथ यह नक़ल देखने गया था। यह आदमी हू-ब-हू डाक्टर मोतीराम

मालूम हो रहा था जो आँखों से अन्धा था और बच्चों का इलाज किया करता था। मोतीराम को लोग इज्जत से 'डाक्टर साहब' कहा करते थे।

वापसी पर मैं 'डाक्टर साहब' की दुकान के सामने रुका और मैंने उन्हें चारपाई पर लेटे आराम करते देखकर ऊँची आवाज से कहा, "आज डाक्टर मोतीराम पकड़े गये। वह बेचारी ब्राह्मणी क्या करेगी ?"

मैं यह देखना भूल गया था कि उस ब्राह्मणी का लड़का डाक्टर साहब की दुकान के अन्दर बैठा है। वह लाठी लेकर मेरे पीछे दौड़ा। भला हो मेहरचन्द सुनार का जिसका मकान खुला था, मैं दौड़कर उस मकान में जा घुसा और दूसरी तरफ़ के दरवाज़े से पीछे वाली गली में होता हुआ योगराज के घर जा पहुँचा और योगराज को सारी कहानी सुनाई कि मैं किस तरह मरते-मरते बचा था।

अगले दिन आसासिंह को पता चला तो वह उस ब्राह्मणी के लड़के पर पिल पड़ा और घूंसे लगा-लगाकर उसकी चीखें निकलवा दीं। साथ ही योगराज ने भी उस पर हल्ला बोल दिया। मैंने बड़ी मुश्किल से उन दोनों के पंजे से ब्राह्मणी के लड़के को छुड़ाया।

मास्टर चिरंजीलाल को इसका पता चला तो उन्होंने मुझे पास बुलाकर शाबाश देते हुए कहा, "नेक लड़के हमेशा लड़ाई में बीच-बचाव करके पिटने वाले को बचाते हैं।"

फिर मास्टरजी ने योगराज और आसासिंह की पिटाई करते हुए कहा, "तुम्हारा यही हाल रहा तो तुम इस साल भी फेल होकर रहोगे और स्कूल को बदनाम करोगे।"

होली के रंग हमारे मन में बस गये थे। स्कूल में तो हम पिटते ही रहते थे। पर इस साल होली हमारी कल्पना को कुछ इस प्रकार झकझोर गई थी कि पिटने के बावजूद हमें लगता कि उल्लास की हवा हमारे साथ खेल रही है। इसी उल्लास के कारण पढ़ने में भी मेरा मन लगने लगा। कई बार खरगोश के बच्चों की याद आ जाती, पर फिर से खरगोश पालने की आज्ञा तो नहीं मिल सकती थी।

घर और स्कूल का अनुशासन कई बार असह्य हो उठता। उस समय लगता कि मन की खिड़की से होली का कोई रंग सिर अन्दर करके कह रहा है—कहो मिस्टर, अच्छे तो हो ? कैसा चल रहा है ? सवेरे आँख खुलती तो लगता कि मुझे होली के किसी रंग ने ही झँझोड़कर जगाया है। कभी लगता कि कोई रंग मुझे गुदगुदाकर हँसाने की कोशिश कर रहा है। कोई रंग विशेष रूप से मुझे विश्वास दिलाता कि होली का त्योहार ही सबसे बढ़िया त्योहार है। कोई रंग अब तक खेली हुई सभी होलियों की याद दिला जाता। मुझे लगता कि मैं रंग से भरी पिचकारी छोड़ रहा हूँ—घर के हर आदमी पर, स्कूल के हर अध्यापक पर, हर विद्यार्थी पर, खरगोश के बच्चों पर, बत्तख के चूजों पर, राँझा बैरागी के कबूतरों के दड़बों में

अण्डा सेती कबूतरियों पर। मुझे लगता कि मास्टर मलावाराम मेरे सामने भागे जा रहे हैं और चिल्ला रहे हैं—मुझे छोड़ दो, मेरा नया सूट खराब हो जायगा। मुझे कसम है अगर अबके तुम्हें फेल कर दूँ। अबके तो तुम अच्छे नम्बर लेकर पास होगे !

होली कभी की बीत गई थी। होली के रंग अब भी खरगोश के बच्चों के समान कीं-कीं करते हुए मेरे पीछे घूम रहे थे।

गांधी के साथ हैं

एक रंग अखबार का भी था जो मुझे पसन्द था। कभी-कभी मैं हैरान होकर सोचता कि अखबार में हमारे गाँव की कोई खबर क्यों नहीं छपती। फिर मैं सोचता कि अखबार तो लाहौर से आता है, लाहौर तक हमारे गाँव की कोई खबर नहीं पहुँच पाती होगी। कभी मैं सोचता कि अगर हमारे गाँव से किसी रेलवे स्टेशन तक सड़क बन जाय तो हमारे गाँव की कोई खबर इक्के पर चढ़कर जरूर रेल तक जा पहुँचे, फिर उसके लाहौर पहुँचने में देर नहीं लगेगी। पर सड़क बनाने की तो किसी को चिन्ता न थी। कभी मैं सोचता कि सरदार साहबान के किसी रथ पर चढ़कर कच्चे रास्ते की धूल फाँकती हुई कोई खबर रेल तक क्यों नहीं जा पहुँचती; कोई खबर घोड़े या ऊँट पर सवार होकर रेलवे स्टेशन की तरफ़ क्यों नहीं दौड़ पड़ती।

हमारे ड्राइंग मास्टर सरदार साधुसिंह और उर्दू अध्यापक मौलवी फ़रखन्दा ज़ाफर एक दिन शाम के समय बाबाजी से मिलने आये। मैं बैठा अखबार सुना रहा था। मैंने बाबाजी के कान में कहा, "मास्टर जी और मौलवी साहब आपसे मिलने आये हैं।"

बाबाजी ने उन्हें अपने पास बिठाते हुए कहा, "मेरी नज़र तो इतनी भी नहीं है कि पास खड़े आदमी को पहचान सकूँ। यह देव मुझे अखबार सुना देता है और मेरा काम चल जाता है।"

मौलवी साहब ने मेरी पीठ ठोकते हुए कहा, "अच्छा! तुम अखबार पढ़ लेते हो? तब तो तुम कभी फेल नहीं हो सकते?"

बाबाजी गम्भीर होकर बोले, "मास्टर जी, अब उधर गाँधी जी तो पिछले साल से यह ऐलान कर चुके हैं कि लड़के सरकारी स्कूलों को छोड़कर बाहर चले आयें।" फिर एकदम बाबाजी ने बात का रुख बदलते हुए कहा, "देव, अन्दर से इनके लिए शिकंजवीन ही बनवा लाओ।"

मैंने जाते-जाते मास्टर साधुसिंह को यह कहते सुना, "यह तो रियासत पटियाला है, लाला जी! यह अंग्रेज़ी इलाका तो नहीं है। यहाँ तो कोई लड़कों से स्कूल छोड़ने को नहीं कहता।"

मैं शिकंजवीन के गिलास लेकर आया तो मेरे साथ विद्यासागर भी था।

मास्टर साधुसिंह और मौलवी फ़रख़न्दा जाफ़र को शिकंजवीन के गिलास थमाते हुए मैंने मन-ही-मन बड़े गर्व का अनुभव किया। विद्यासागर बाबा जी को शिकंजबीन का गिलास देकर बाहर भाग गया। मैं भी वहाँ से चला आया। विद्यासागर बोला, "देव, तुम्हें आसासिंह बुला रहा था। चलो चलते हो ?"

मेरा मन तो बैठक की तरफ खिंचा जा रहा था। विद्यासागर और आसासिंह का मोह छोड़कर मैं फिर बाबा जी के पास आ बैठा।

"गांधी जी तो हमारे बहुत बड़े कौम रहनुमा हैं।" मौलवी फ़रख़न्दा जाफ़र कह रहे थे, "मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली उनके साथ हैं। गांधी जी की अज़मत का एक सबूत यह है कि तिलक महाराज की यादगार में गांधी जी ने एक करोड़ रुपया जमा करने की अपील निकाली तो एक करोड़ से भी ज़्यादा रुपया जमा हो गया और आज जब कि गाँधी जी की तहरीफ़ ज़ोरों से चल रही है, हज़ारों नहीं लाखों लोग ख़ुशी-ख़ुशी जेल में चले गये।"

"आजकल तो जेल को ससुराल समझा जा रहा है, मौलवी साहब !" मास्टर साधुसिंह बोले, "लेकिन मैं कहता हूँ यह सब तो अंग्रेज़ी इलाके की बात है, और यह है रियासत पटियाला जहाँ गांधी जी की कोई तहरीक नहीं चल सकती।"

"अली ब्रादरान गांधी जी का दायाँ और बायाँ हाथ बन गये हैं !" मौलवी साहब ने सतर्क होकर कहा, "आज सत्याग्रह और ख़िलाफ़त एक ही चेहरे के दो रुख़सार मालूम होते हैं। गांधी जी की जीत तो लाज़िमी है !"

"वक्त आने दीजिए," बाबा जी ने गम्भीर होकर कहा, "गांधी जी की आवाज़ यहाँ भी पहुँचेगी !"

"आपका ख़्याल दुरुस्त है, लाला जी !" मौलवी साहब ने शह दी, "इसी साल जब नवम्बर में इंग्लैंड से प्रिंस आफ़ वेल्ज़ हमारे देश की यात्रा पर आये तो अंग्रेजी सरकार की तैयारियाँ धरी की धरी रह गईं। जहाँ भी प्रिंस आफ़ वेल्स साहब तशरीफ ले गये, विलायती कपड़े की होली जलाई गई और इसका धुआँ प्रिंस आफ़ वेल्ज़ तक पहुंचा। लेकिन साथ ही यह देखना भी ज़रूरी है कि गांधी जी की यह बात सच नहीं निकली कि एक साल के अन्दर स्वराज्य मिल सकता है।"

"यह तो तब होता जब हम बहुत बड़े पैमाने पर गांधी के बताये हुए रास्ते पर चलते !" बाबा जी ने ज़ोर देकर कहा।

मैंने कहा, "यही बात तो अख़बार भी कहता है, बाबा जी !"

"अखबार तो दुनिया की आँख होती है, बेटा !" बाबा जी ने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा।

"अखबार पढ़ना आसान है लाला जी," मौलवी फ़रखन्दा जाफ़र बोले, "लेकिन समझना मुश्किल है।"

मुझे लगा जैसे मास्टर जी ने मुझ पर व्यंग्य कसा हो। मास्टर साधुसिंह भी शायद यही समझे। इसीलिए तो उन्होंने हँसकर कहा, "यह बात देव पर तो लागू नहीं होती; अगर उसे अख़बार की बातों की इतनी समझ न आती तो वह आज हम लोगों की बातें इतनी दिलचस्पी से न सुनता।"

उस समय तो मौलवी फ़रखन्दा ज़ाफ़र कुछ न बोले। थोड़ी देर बाद उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखते हुए कहा, "बुरा मत मानना, देव ! मेरा मतलब यह नहीं था कि तुम्हारे लिए अख़बार का समझना मुश्किल है।"

मौलवी साहब के हाथ का स्पर्श मुझे इतना सुखद लगा कि मेरे जी का सारा मलाल दूर हो गया। मेरे जी में आया कि मैं उनके कदम छू लूँ।

इतने में पण्डित घुल्लूराम भी आ निकले। बाबा जी को बताया गया तो वे हँसकर बोले, "कहिए पण्डित जी, आप किसके साथ हैं?"

मौलवी साहब ने झट चुटकी ली, "पण्डित जी तो संस्कृत के साथ हैं।"

"संस्कृत तो बड़ी मधुर भाषा है, मौलवी साहब !" पण्डित जी ने ज़ोर देकर कहा।

"इसलिए आप तो यही चाहेंगे कि अख़बार भी संस्कृत में ही निकलें।"

"एक-आध समाचार पत्र संस्कृत का भी निकले तो क्या बुरा है !" पण्डितजी ने हँसकर कहा।

"लेकिन आपने कभी यह भी सोचा पण्डित जी," मास्टर साधुसिंह कह उठे, "कि संस्कृत का समाचार पत्र पढ़कर समझ सकने वाले बहुत थोड़े हैं। यह समाचार पत्र हमेशा घाटे में चलेगा, पण्डितजी !"

"ख़ैर छोड़िए, मौलवी साहब !" बाबा जी ने बात का रुख बदलते हुए कहा, "मैं तो पण्डित जी से यह पूछ रहा था कि वे महात्मा गांधी के साथ हैं या अंग्रेज़ के साथ।"

"वक्त वक्त की बात है, लालाजी !" मौलवी साहब बोले, "आज अंग्रेज़ का ज़ोर है, कल गांधी का ज़ोर होगा। फिर तो हर कोई गांधी का साथ देगा—बक़ौल अकबर इलाहाबादी :

बुद्धू मियाँ भी हज़रते गांधी के साथ हैं,
गो गर्दे राह हैं मगर आँधी के साथ हैं !

शायर की आँख वह देखती है जो दूसरा नहीं देख सकता, लाला जी !"

बाबाजी धीरे-धीरे गुनगुनाने लगे: 'बुद्धू मियाँ भी हज़रते गांधी के साथ हैं...'

सप्तर्षि

सरदियों में पढ़ाई का ज़ोर रहता था। हम रात को योगराज के घर पर पढ़ते और वहीं सो जाते। योगराज के पिताजी सरदार गुरुदयालसिंह के मुंशी थे और उनके किले के अहाते में एक चौबारे में रहते थे। पिछली तरफ का कमरा हमें दे दिया गया था। मैं सोचता कि यह इस कमरे में पढ़ने का परिणाम था कि हम छठी और सातवीं में पास हो गये थे।

हम सात मित्र थे : आसासिंह, योगराज और बुद्धराम; मथुरादास, व्रजलाल, मिलखीराम और मैं। योगराज की माँ हमेशा उसी लड़के का पक्ष लेती जिसके विरुद्ध कुछ लड़के मिलकर षड्यन्त्र रचते कि किसी तरह उसे हमारे बीच से निकाल दिया जाय।

कौन पढ़ाई में तेज़ है, कौन ढीला है, कौन गले पड़ा ढोल बजा रहा है, कौन दूसरों को अपने साथ दौड़ा रहा है, कौन केवल गप हाँकने में होशियार है, योग-राज की माँ को सब खबर रहती थी।

पण्डित घुल्लूराम भी इसी किले के अहाते में रहते थे। मैं योगराज के साथ पण्डित जी से मिलने जाता तो वे कई बार कहते, "यहाँ के स्कूल में सबसे बड़ी कमी यही है कि यहाँ संस्कृत नहीं पढ़ाई जाती।"

"संस्कृत तो बड़ी कठिन होगी, पण्डित जी !" योगराज चुटकी लेता, "अंग्रेज़ी की पटरी पर तो हम किसी तरह चल पड़े हैं। संस्कृत के झमेले से तो हमें भगवान् बचाकर ही रखे, पण्डितजी !"

"संस्कृत की प्रशंसा तो बड़े-बड़े अंग्रेज़ों ने भी की है।" पण्डित जी उत्तर देते, "मैं तो सरदार गुरुदयालसिंह जी से कई बार कह चुका हूँ कि पटियाला के महाराज को लिखकर शीघ्र ही यहाँ के स्कूल में संस्कृत की शिक्षा का प्रबन्ध करा दें।"

एक दिन पण्डित जी के घर से लौटते हुए योगराज ने कहा, "पण्डितजी पुराने ढर्रे के आदमी हैं। हमारे स्कूल में संस्कृत शुरू हो गई तो शायद पण्डित जी ही हमारे अध्यापक बन जायँ।"

"फिर तो पण्डित जी भी हमारे कान खींचा करेंगे, हमारे हाथों पर बेंत

बरसाया करेंगे।" मैंने चुटकी ली।

पण्डित घुल्लूराम की विद्वत्ता में मुझे विश्वास था। कई बार वे हमें कोई संस्कृत का श्लोक सुनाकर उसका अर्थ सुनाते तो मुझे लगता कि असल पढ़ाई तो यह है, परीक्षा के लिए पढ़ना भी कोई पढ़ना है, पढ़ाई तो इसलिए होनी चाहिए कि इन्सान को अक्ल आ जाय, बात करने की तमीज़ आ जाय।

आसासिंह हमेशा मास्टर केहरसिंह की बुराई करता रहता जिन्हें डेढ़ साल पहले स्कूल से निकाल दिया गया था। बुद्धराम हमेशा यही रट लगाता कि अब तो हमारे नये हैडमास्टर आने चाहिए। ब्रजलाल, मथुरादास और मिलखीराम किताबों के कीड़े थे। जब देखो किताबों की बातें। मैं कहता, "अरे भई, देख लिया कि ये हमारी किताबें हैं। हम इनसे इतना डरते रहेंगे तो इनके साथ हमारी दोस्ती कैसे होगी?"

इस पर ज़ोर का कहकहा पड़ता। किताबें बन्द करके रख दी जातीं और किताबों के कीड़े मेरी तरफ देखने लगते जैसे मैं उन्हें किताबों से भी बड़ी बात बता सकता था।

एक बात पर हम सभी सहमत थे कि पढ़ाई से पहले या पीछे कहकहे जरूर लगाये जायँ, जी में आये तो हम दुनिया-भर को रगेद डालें, चाहें तो अध्यापकों पर व्यंग्य कसें, गाँव की बातों पर चुटकियाँ लें, जिस पर भी हमारी नज़र जा पड़े उसे कभी बख़्शा न जाय।

हैडमास्टर मलावाराम बदल गये तो सबसे ज्यादा खुशी बुद्धराम को हुई। नये हैडमास्टर भक्त नारायणदास तिलकधारी थे। उन्होंने आते ही अध्यापकों को ताकीद कर दी कि लड़कों को पीटने की आदत बिलकुल छोड़ दी जाय।

अब हम आठवीं में थे। आसासिंह भी किसी तरह हमारे साथ कदम मिलाकर चल रहा था। इसकी मुझे खुशी थी। एक बात मैं कभी न समझ सका कि मैं मास्टर केहरसिंह का जितना ही प्रशंसक हूँ, आसासिंह उतना ही उनकी बुराई करने पर क्यों तुला रहता है।

मास्टर केहरसिंह के भाई खेती करते थे। मास्टरजी ने विवाह न करने का प्रण ले रखा था। अपने भाइयों से कहकर उन्होंने बाहर नहर के समीप अपने खेतों में एक कोठा बनवा रखा था, जहाँ वे एकान्तवास करते थे। जब भी मैं उनसे मिलने जाता, आसासिंह को ज़रूर साथ रखता। आसासिंह के साथ मेरा इतना समझौता हो गया था कि वह ख़ामोशी से मास्टरजी की बातें सुनता रहे और जब भी वे उस शब्दकोश की बात चलाएँ जिसे वे पिछले दस वर्षों से तैयार कर रहे थे— जैसा कि उनका वक्तव्य था, तो आसासिंह बिलकुल न हँसे।

मास्टर केहरसिंह नौकरी से क्यों अलग किये गये, इसका कारण हममें से कोई भी नहीं जानता था। एक दिन आसासिंह और मैं छुट्टी के दिन मास्टरजी

"हमने इसके साथ बहुत मित्रता करके देख ली, पर यह हमारा मित्र नहीं बन सका।"

बाकी पाँचों मित्रों ने भी यही कहा कि सारा दोष बुद्धराम का है ।

मैंने कहा, "माताजी, दोष तो बुद्धराम का जरूर है, पर क्या हम उसे क्षमा नहीं कर सकते ?"

"क्षमा तो तब किया जाय जब बुद्धराम क्षमा माँगे !" योगराज ने अकड़कर कहा ।

"तो क्षमा माँग लेगा मेरा बुद्धराम बेटा !" योगराज की माँ ने बुद्धराम के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा ।

बुद्धराम क्षमा माँगने के लिए तैयार न हुआ ।

"सुनो, योगराज ! एक क्षमा वह है जो माँगने पर दी जाती है," योगराज की माँ ने मुस्कराकर कहा, "और एक क्षमा वह भी तो है जो बिन माँगे दी जाती है ।"

योगराज बोला, "बिन माँगे तो भिक्षा भी नहीं मिलती, माताजी !"

योगराज की माँ हँस पड़ी । उसने योगराज के गाल पर हल्की-सी चपत लगाकर कहा, "मैं कहती हूँ कि आज से बुद्धराम भी मेरा वैसा ही बेटा है जैसा तू है ।"

हमने सोचा कि हमारी मित्र-मण्डली के अच्छे दिन आ रहे हैं, अब हम फिर मिलकर पढ़ सकेंगे ।

इतने में बुद्धराम ने आगे बढ़कर योगराज को अपनी बाँहों में भींच लिया ।

अब न किसी को क्षमा माँगने की आवश्यकता थी न क्षमा देने की ।

बुद्धराम ने कहा, "हमें तो हमारी गलती की भवत जी ने ही सजा दे दी थी, हमारे कान खूब खींचे गये थे । और योगराज, तुम्हारे गाल पर तो अभी-अभी एक हल्की-सी चपत भी पड़ गई ।"

योगराज ने बुद्धराम को अपनी बाँहों में भींच लिया ।

हमारी मित्र-मण्डली में शत्रुता की भावना का बीजारोपण न हो सका । उस दिन के बाद योगराज की माँ जब भी हमें मिलकर पढ़ते देखती, मुस्कराकर कहती, "मेरे सप्तर्षि खुश रहें, मेरा ध्रुव योगराज नहीं बुद्धराम है !"

हीर नहीं, मूर्ति

परीक्षा से डेढ़ महीना पहले ही हैडमास्टर साहब ने मुझे स्कूल के बाद शाम को अपने घर पर पढ़ाना शुरू कर दिया। आसासिंह को भी उन्होंने मेरे साथ पढ़ने की आज्ञा दे दी थी। वे कई बार कहते, "तुम्हें पास होकर तो दिखाना ही होगा, देव ! और वह भी अच्छे नम्बर लेकर।"

दो-तीन दिन बाद हमने देखा कि एक लड़की भी हमारे साथ पढ़ने के लिए आने लगी है। यह थी मूर्ति। हैडमास्टर साहब की लड़की। अधिक परिचय की तो गुंजाइश न थी। बड़ी उत्सुक दृष्टि से वह हमारी तरफ देखती। जब हम पढ़-कर बाहर निकलते तो आसासिंह आँखों-ही-आँखों में मुझे विश्वास दिलाता कि मूर्ति आज बीच-बीच में उसकी तरफ नहीं मेरी तरफ ही देखती रही थी।

कई बार मुझे यों लगता कि एक सूराख से लाँघकर प्रकाश की एक किरण मेरी ओर आ रही है। यह किरण मूर्ति की तरह गम्भीर नज़र आती। मैंने कभी मूर्ति को मुस्कराते नहीं देखा था। हर रोज शाम को हम पढ़ने जाते तो मूर्ति एक-दम मूक नज़र आती जैसे उसके मुँह में बोल न हो।

फिर मूर्ति बोलने लगी। पढ़ते-पढ़ते वह अपने पिताजी से कुछ पूछ लेती। उसकी आवाज़ मधुर स्वर में ढली हुई थी। मैं सोचता कि यह तो पढ़ने का समय है, मुझे किसी की मधुर आवाज़ से कुछ मतलब नहीं। छठी में फ़ेल होने की बात मुझे याद आ जाती। आठवीं में पास होने के लिए तो मैं मन-ही-मन कमर कस लेता। मालूम होता था कि मूर्ति भी इस साल आठवीं की परीक्षा में बैठने वाली है।

एक दिन आसासिंह ने स्कूल में मुझे छेड़ते हुए कहा, "देव, मैं कवि होता तो मूर्ति पर एक कविता अवश्य लिखता।"

"कवि बनना कौन-सा मुश्किल काम है?" मैंने चुटकी ली, "मास्टर केहर-सिंह से छन्द-रचना क्यों नहीं सीख लेते।"

"अभी तो इम्तहान का भूत सिर पर सवार है।" आसासिंह बोला, "अभी कविता किसे सूझ सकती है?"

जब हम रात को योगराज के चौबारे में पहुँचे तो आसासिंह मुझे घूर-घूरकर

देखता रहा। फिर उसने योगराज को सम्बोधित करते हुए कहा, "तुमने मूर्ति नहीं देखी, योगराज ! कम्बख्त को किसी बुततराश ने पत्थर की चट्टान को छैनी से छील-छीलकर तैयार किया है।"

"तब तो उसका दिल भी पत्थर का होगा !" योगराज ने चुटकी ली।

मैंने कहा, "योगराज, इस बात को यहीं खत्म कर दिया जाय। मामला हैड-मास्टर साहब की लड़की का है। उन्होंने सुन लिया तो हम तीनों की पिटाई होगी, और बात मेरे पिताजी तक जा पहुँचेगी, घर में मेरी अलग पिटाई होगी !"

योगराज बोला, "हाँ तो आसासिंह, वारसशाह की हीर का वह बोल सुनाओ जिसमें राँझा हीर की भैंसों की प्रशंसा करता है।"

आसासिंह गुनगुनाने लगा :

वेला बाग सुहाया मज्झीयाँ ने, रंगा रंग दीयाँ रंग रंगीलीयाँ नी
डारां कूंज दे वाँग विच फिरन बेले, इक्क दूजे दे संग संगीलीयाँ नी
इक्क ढेलीयाँ मूसीयाँ बूरीयाँ सन, इक्क कक्कीयाँ ते इक्क नीलीयाँ नी
इक्क कुण्डीयाँ सिंग वलदार सोहन, इक्क दुद्धाँ दे नाल मटीलीयाँ नी
इक्क लुण्डीयाँ वरड़ीयाँ बिल्लीयाँ सन, इक्क मिट्ठीयाँ इक्क कुडीलियाँ नी
इक्क खैपड़ाँ इक्क कुहीड़ खल्लाँ, इक्क मीणीयाँ संग सुहीलीयाँ नी
इक्क हर वरिहाइयाँ सन फरड़ाँ, इक्क सण्ढ ते मोटीयाँ डीलीयाँ नी
सज्जर सू ते गभ्भणाँ खाँघड़ाँ ने, इक्क डोकलाँ इक्क हथीलीयाँ नी
भौरी मार के इक्क उडार होइयाँ, इक्क नाल प्यार रसीलीयाँ नी
इक्क वाँग मुरगाबीयाँ चाल चल्लन, इक्क ठोलीयाँ छैल छबीलीयाँ नी
इक्क करन उगालीयाँ विच्च डुम्हाँ, इक्क दिड्डलाँ इक्क पतीलीयाँ नी
इक्क डरदीयाँ सद्द रंझेटड़े तों, इक्क होर रंझेटे दीयाँ कीलीयाँ नी
इक्क रज्ज के खाय के मस्त होइयाँ, आपो झम्मे दे विच्च वसीलीयाँ नी
इक्क करने उगाली ते मस्त होइयाँ, मुरकाँ खाय के सावीयाँ पीलियाँ नी
इक्क अबलकाँ स्याह सफेद होसन, पूछल चौरीयाँ वग्गीयाँ पीलीयाँ नी
वारसशाह दी सद्द न सुणी जिन्हाँ, सुहर्तालीयाँ ते बुरे हीलीयाँ नी[1]

---

१. भैंसों ने जंगल और बाग को सुहावना बना रखा है। रंग-रंग की रंगीली भैंसें हैं। कूंज पक्षियों की पंक्तियों के समान वे जंगल में घूम रही हैं ये एक-दूसरी की सहेलियाँ। कुछ भैंसें 'ढेली', 'मूसी' और भूरी हैं। कुछ 'कक्की', कुछ नीली, कुछ 'कुण्डी' भैंसें हैं जिनके सींग मुड़े हुए हैं, जो मटकियाँ भर-भरकर दूध देती हैं। कुछ 'लुण्डी', 'वरड़ी' और 'बिल्ली' भैंसें हैं, कुछ मीठे स्वभाव की, कुछ कड़वे स्वभाव की। कुछ 'खेपड़ खल्ल', कुछ 'कुहीड़', कुछ 'मीणी' जो बड़ी सुहावनी लगती हैं। कुछ साल-के-साल ब्याने वाली हैं, कुछ ऐसी जिन्होंने दूध देना छोड़ दिया, कुछ मोटी-ताजी बाँझ भैंसें हैं। कुछ नई ब्याई, कुछ गर्भवती, कुछ ऐसी जिनका दूध सूख रहा है, कुछ ऐसी जिनके दूध की धार पूरी नहीं

"मेरा तो ख्याल है कि दुनिया के बहुत कम शायर बारसशाह का मुकाबिला कर सकते हैं।" योगराज ने सतर्क होकर कहा।

"हीर-राँझा की जोड़ी यहाँ भी जरूर बनेगी।" आसासिंह ने चुटकी ली, "मूर्ति अपने हाथ से देव के हाथ में जिस तरह चाय का कप थमाती है वैसे तो हीर भी अपनी भैंसों के चरवाहे राँझे के हाथ में चूरी का कटोरा न थमाती होगी।"

उस दिन हम तीनों ही थे। मूर्ति का प्रसंग देर तक चलता रहा। आसासिंह और योगराज को इसमें रस आ रहा था।

जब परीक्षा में पन्द्रह दिन रह गये, हैडमास्टर साहब मुझ पर पहले से अधिक मेहरबान हो गये। पहले तो कभी-कभी चाय मिलती थी। अब हर रोज़ ही वे पूछते, "चाय पियोगे, देव ?"

"चाय की तकलीफ न कीजिए, मास्टरजी !" आसासिंह कह उठता।

"इसमें कौन-सी तकलीफ की बात है ?" हैडमास्टर साहब कहते।

"पानी तो कभी का खौल रहा है, पिताजी !" कहकर मूर्ति रसोई में चली जाती।

हैडमास्टर साहब की सहृदयता की छाप हमारे मन पर गहरी होती गई। मैं सोचता कि हमारे हैडमास्टर साहब तो कभी पुरानी कहानियों के दैत्य का रूप धारण नहीं कर सकते।

मूर्ति पीतल की ट्रे में चाय के तीन कप रखकर लाती। उसकी आँखें झुकी रहती। मूक मुखमुद्रा। जैसे उसके मन के सरोवर में एक भी लहर न उठ रही हो।

एक दिन रात को योगराज के यहाँ पढ़ते-पढ़ते आसासिंह ने मेरे कान में कहा, "आज देखा था अपनी हीर को, देव ?"

मुझे आसासिंह का यह मजाक पसन्द न आया। मैंने कहा, "आसासिंह, न मैं राँझा हूँ, न मूर्ति हीर। हम इन बातों में पड़ गये तो कभी आठवीं से नहीं निकल सकते।"

आसासिंह बोला, "देव, तुम भले ही राँझा न बन सको, पर मूर्ति तो हीर बन

निकलती, कुछ ऐसी जो बच्चा मर जाने के कारण किसी के हाथ पड़कर दूध देती हैं। कुछ तो उड़ जाती हैं, कुछ रस-प्यार पर झूम-झूम उठती हैं, कुछ मुरगाबियों की तरह चलती हैं, कुछ गठे हुए शरीर वाली छैल-छबीली हैं। कुछ दरिया किनारे के पोखर में जुगाली कर रही हैं, कुछ तुन्दिल, कुछ के पेट पतीले-से हैं। कुछ राँझे की पुकार से भयभीत, कुछ राँझे के जादू से अभिभूत, कुछ पेट-भर खाकर मस्त, मानो किसी नशे में झूम रही हों, कुछ हरी-पीली कोंपलें खाने के बाद मस्त होकर जुगाली कर रही हैं। कुछ स्याह-सफ़ेद 'अबलक' भैंसें हैं, सफेद और पीली मूँछों वाली जिन्होंने बारसशाह की पुकार नहीं सुनी, वे दुबली-पतली भैंसें बुरे हाल में घूम रही हैं।

चुकी है ।"

"चुप-चुप !" मैंने कहा, "भक्तजी ने यह बात सुन ली तो हमारी बुरी तरह खबर लेंगे । हम उनसे पढ़ने से भी जाते रहेंगे ।"

अभी हम दोनों ही योगराज के चौबारे में पहुँचे थे । योगराज खाना खा रहा था । योगराज ने आते ही कहा, "आज हमारे बाकी चारों साथी नहीं आयेंगे । आसासिंह मज़ा आ जाय अगर तुम आज हीर सुनाओ ।"

"राँझा कहेगा तो मैं हीर सुना सकता हूँ !" आसासिंह को मुझे छेड़ने का अवसर मिल गया ।

मैं जिद में आकर ख़ामोश बैठा रहा, हीर की फरमाइश करने के लिए मैं तैयार न हुआ ।

"मूर्ति का राँझा ख़ामोश क्यों है ?" आसासिंह ने व्यंग्य-सा कसते हुए कहा ।

यह देखकर कि आसासिंह तो व्यंग्य कसने से बाज़ नहीं आयेगा, मैं बिस्तर बिछाकर लेट गया । आसासिंह और योगराज देर तक खुसर-फुसर करते रहे । मैं थका हुआ था, मैं निद्राधारा में बह गया ।

उस रात मैं आराम से न सो सका । मूर्ति सपने में मेरा पीछा करती रही । बड़ी-बड़ी आँखें, सावित्री से भी बड़ी आँखें । उसके दायें गाल पर वैसे ही एक लट सरक आई थी जैसे सावित्री के गाल पर सरक आती थी । मैंने कहा, 'जाओ मूर्ति, मुझे सोने दो !' वह बोली, 'सावित्री तो अब चली गई !' मैंने कहा, 'हाँ, सावित्री की माँ अफ्रीका से आकर सावित्री को ले गई ।' वह बोली, 'एक जाता है, एक आता है !' मैंने कहा, 'चलो भागो ! मुझे सोने दो !' फिर मैंने देखा कि मूर्ति भक्त के सामने खड़ी बिसूर रही है । भक्तजी ने पूछा, 'तुम्हें किसने सताया, बेटी ?' वह बोली, 'उसी लड़के ने जो यहाँ आकर चाय पीता रहा । उस लड़के ने मुझे धक्का दे दिया, पिताजी ! उसने मेरा घोर अपमान किया ।' भक्तजी अन्दर से बेंत निकाल लाये । बोले, 'बताओ मूर्ति, वह लड़का कहाँ है ? मैं अभी उसकी खाल उधेड़ लूँगा ।' इससे आगे मैं कुछ न देख सका···सवेरे मेरी आँख खुली तो इस स्वप्न की याद से मेरा रोम-रोम काँप उठा ।

परीक्षा के लिए हम भटिंडा पहुँचे । पूरी तैयारी के बावजूद परीक्षा का आतंक कुछ कम न था । कई बार परीक्षा-भवन में बैठे-बैठे मुझे मूर्ति का ध्यान आ जाता । मैंने कभी यह भी तो नहीं पूछा था कि वह परीक्षा देने के बाद पटियाला से कब लौटेगी ।

परीक्षा के पश्चात् पिताजी ने मुझे बरनाला जाकर बड़े भाई मित्रसेन के साथ पटियाला आर्य समाज का उत्सव देख आने की आज्ञा दे दी जहाँ मुझे स्वामी श्रद्धा-नन्द का भाषण सुनने का अवसर मिला । स्वामीजी ने बताया, "मनुष्य को अपने जीवन में आगे बढ़ने का यत्न करना चाहिए और इसके लिए सबसे बड़ी वस्तु है

मनुष्य की आत्म-शक्ति ।"

मैंने उसी समय प्रतिज्ञा कर ली कि यदि अवसर मिल सका तो मैं आत्मशक्ति के विषय में कुछ और जानकारी प्राप्त करने का यत्न करूँगा।

मूर्ति उन दिनों पटियाला में थी। पर मुझे तो उसका पता मालूम न था। फिर भी मेरा मन कहता था कि शायद कहीं मूर्ति के दर्शन हो जायँ। उससे मेरी बातचीत न हो सके मुझे यह भी स्वीकार था, पर किसी तरह उसे देख सकूँ, एक बार वे मूक-से नयन मेरे सामने आ जायँ, यह मैं अवश्य चाहता था। पर मूर्ति कहीं नज़र न आई।

मित्रसेन ने मेरे लिए डाक्टर टैगोर की 'गीतांजलि' का उर्दू अनुवाद खरीद दिया था जिसके आवरण पर मोटे अक्षरों में यह विज्ञप्ति भी दी गई थी कि इस पुस्तक पर लेखक को एक लाख बीस हजार का नोबल प्राइज़ मिल चुका है। मुझे लगा कि एक क्षण के लिए मूर्ति यहाँ आ जाय तो वह भी 'गीतांजलि' को अपनी आँखों से देख ले, वह चाहे तो मैं उसे यह पुस्तक पढ़कर सुना डालूँ।

मित्रसेन का ख्याल था कि 'गीतांजलि' को समझना आसान नहीं है। मैंने सोचा कि यदि मूर्ति कहीं मिल जाय तो हम दोनों मिलकर तो इस पुस्तक को जरूर समझ सकेंगे।

भदौड़ आकर मैंने एक दिन मास्टर केहरसिंह से कहा, "मास्टरजी, मैं भी नोबल प्राइज़ के लिए एक 'गीतांजलि' लिखूँगा।"

'गीतांजलि' तो तुम्हारा रौनकराम भी लिख रहा है!" मास्टरजी ने चुटकी ली।

"मास्टरजी, टैगोर को अपनी 'गीतांजलि' पर नोबल प्राइज़ मिल सकता है तो क्या मुझे हमारे देहात के गीत-संग्रह पर नोबल प्राइज़ नहीं मिल सकता?" मैंने झट पूछ लिया।

"नोबल प्राइज़ तो अपनी ही कविता पर मिल सकता है!" मास्टर केहर-सिंह ने चुटकी ली।

फिर एक दिन पता चला कि मूर्ति पटियाले से भदौड़ आ गई है, हैडमास्टर साहब के यहाँ जाने के लिए मेरा मन लालायित हो उठा। उसी दिन परीक्षा का परिणाम निकला, हैडमास्टर साहब ने हमारे यहाँ यह खबर पहुँचाई—देव के नम्बर सबसे ज्यादा आये हैं।

हमारे स्कूल के कई लड़के फेल हो गये थे जिनमें बुद्धराम, योगराज और आसासिंह भी थे। मैंने सबसे यही कहा, "जरूर परचों में कुछ गड़बड़ हुई है। भक्तजी के पढ़ाए हुए लड़के कैसे फेल हो सकते थे?"

एक दिन मैंने आसासिंह से कहा, "वह गीतों वाली कापी मैं उस दिन लूँगा आसासिंह, जिस दिन मुझे हाई स्कूल में दाखिल होने के लिए मोगा जाना होगा।"

आसासिंह का मुँह उतर गया । उसने आह भरकर कहा, "जो हाल उस कापी का हुआ वह हाल किसी का न हो, देव !"

"क्यों, ऐसी क्या बात हो गई, आसासिंह ?" मैंने झट पूछ लिया ।

"मेरे फेल हो जाने पर बापू को बड़ा गुस्सा आया !" आसासिंह रुआँसी-सी आवाज़ में कहा, "वह कापी बापू की नज़र पड़ गई । मैंने लाख कहा कि यह कापी मेरी नहीं देव की है । पर बापू ने उसको चूल्हे में जलाकर दम लिया !"

अपना-सा मुँह लेकर मैं घर चला आया । जैसे मेरे स्वप्नों पर पानी फिर गया हो । जैसे किसी के पाले हुए खरगोशों को बिल्ली खा गई हो, जैसे किसी के पाले हुए सभी कबूतर मार डाले गये हों ।

कापी तो जलकर राख हो गई, मैंने सोचा, अब कहीं पिताजी को पता न चल जाय । मुझे भय था कि आठवीं में अच्छे नम्बरों पर पास होने के बावजूद मैं पिताजी के हाथों बुरी तरह पिट सकता हूँ । पिटने के भय से मैं मन-ही-मन काँप उठा ।

एक दिन भक्तजी ने मुझे निमन्त्रण दिया । मैं उनके यहाँ पहुँचा तो मूर्ति बहुत खुश नज़र आ रही थी ।

"मूर्ति ने भी परीक्षा दी थी, देव !" भक्तजी बोले, "मूर्ति पास हो गई । इसके नम्बर तुमसे ज्यादा आये हैं ।"

"यह तो बहुत अच्छी बात है, मास्टरजी !" मैंने कहा, "अब मूर्ति को भी हाईस्कूल में जरूर भेजिए ।"

"खैर देखेंगे, सलाह करेंगे ।" भक्तजी गम्भीर होकर बोले, "तुम्हारे बारे में भी तुम्हारे पिताजी से सलाह करेंगे ।"

उस दिन जैसी चाय मूर्ति ने पहले कभी नहीं पिलाई थी । मैंने यही समझा कि वह चाय मेरे पास होने की खुशी में नहीं बल्कि मूर्ति के पास होने की खुशी में पिलाई गई है ।

अगले दिन जब मैं गुसलखाने में नहा रहा था, मैंने पिताजी और माँजी की बातें सुनीं ।

"[illegible] मास्टर देव के रिश्ते के लिए कह रहा था, शारदा देवी !"

"कितनी बड़ी है उनकी लड़की ?"

"[illegible] तो देव से कुछ बड़ी है । मैंने तो साफ कह दिया कि 'सत्यार्थप्रकाश' ऐसे रिश्ते की आज्ञा नहीं देता !"

आशीर्वाद

"देव को आशीर्वाद दीजिए, पण्डितजी।"

"हमारा आशीर्वाद तो संस्कृत के विद्यार्थी के लिए ही उपयोगी हो सकता है, लालाजी !"

"फिर भी आप तो इसे आशीर्वाद दे ही दीजिए।"

"परन्तु देव तो संस्कृत नहीं पढ़ता। मैं कहता हूँ, लालाजी, उर्दू-अंग्रेज़ी पढ़ने वाले विद्यार्थी तो वैसे ही तेज़ होते हैं।"

मैं अगले दिन मोगा जा रहा था। पण्डित घुल्लूराम के मुख से उर्दू-अंग्रेज़ी पढ़ने वालों की प्रशंसा सुनकर मैं फूला न समाया।

हमारी बैठक में पण्डित घुल्लूराम बाबाजी के समीप बैठे बड़े ही प्रभावशाली प्रतीत हो रहे थे। देखने में वे छरहरे शरीर के व्यक्ति थे। बाबाजी विशालकाय थे। मैं कहना चाहता था कि बाबाजी की काया में तो दो से अधिक घुल्लूराम समा जायँ, लेकिन घुल्लूरामजी अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। बाबाजी के मुख से मैं अनेक बार उनकी प्रशंसा सुन चुका था।

पण्डितजी ने बड़े स्नेह से मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा, "तुम संस्कृत क्यों नहीं पढ़ते, बेटा ?"

मैंने कहा, "हमारे स्कूल में संस्कृत नहीं पढ़ाई जाती, पण्डितजी !"

बाबाजी बोले, "वैसे यह बात नहीं है पण्डितजी, कि इसके कान में संस्कृत का एक भी शब्द न पड़ा हो। इसे पूरी सन्ध्या याद है।"

"यह तो बड़े आनन्द की बात है," पण्डितजी ने जैसे मुझे आशीर्वाद देते हुए कहा, "एक दिन आयेगा जब यह लड़का संस्कृत की महिमा से परिचित होगा, संस्कृत के अतल स्पर्श सागर में यात्रा करेगा।"

मैंने सकुचाकर आँखें झुका लीं। मुझे लगा कि पण्डितजी के हाथ का स्पर्श एक किरण का स्पर्श है जो धरती से फूटती हुई नन्हीं कोंपल को आशीर्वाद दे रही है।

पण्डितजी बोले, "मेरी सम्मति तो यही है बेटा, कि मोगा में जाते ही संस्कृत लेकर आगे बढ़ने का यत्न करो; सूर्य-चन्द्र, गृह-नक्षत्र का ज्ञान तो संस्कृत में भरा

पड़ा है । बड़े-बड़े महाकाव्य भी संस्कृत में ही मिलेंगे; भास, बाणभट्ट, कालिदास और भवभूति की रचनाएँ संस्कृत का ही शृंगार हैं ।"

मैंने कहा, "हाई स्कूल में एकदम संस्कृत लेने से मैं कैसे आगे बढ़ सकूँगा, पण्डितजी ?"

"तो तुम्हें संस्कृत से भय लगता है ?" पण्डितजी ने दोबारा मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "कालिज में जाकर एकाएक संस्कृत ले सकना तो और भी असम्भव हो जायगा, बेटा ! जैसा भी मन में आये, वैसा ही करना । हम तो अपनी सम्मति ही दे सकते हैं ।"

"आपकी सम्मति तो इसके लिए बहुत मूल्यवान है, पण्डितजी !" बाबाजी ने पण्डितजी का आभार मानते हुए कहा ।

पण्डितजी चले गये । मैं दरवाज़े से निकलकर देर तक उन्हें देखता रहा जब तक कि वे मेरी आँखों से ओझल नहीं हो गये । मुझे लगा कि पण्डितजी मुझे आशीर्वाद देने आये थे, अब उन्हें और कोई काम नहीं था ।

मैं बाबाजी के पास आ बैठा और उन्हें अख़बार सुनाने लगा । बीच-बीच में बाबाजी घुल्लूरामजी की चर्चा छेड़ देते, जैसे उनका नाम भी अखबार की किसी ख़बर का विषय हो ।

मैंने कहा, "घुल्लूरामजी कहाँ तक पढ़े हुए हैं, बाबाजी ?"

"घुल्लूरामजी तो विद्या के सागर हैं ।" बाबाजी ने आँखों से ऐनक उतारकर इसे साफ करते हुए कहा ।

उसी समय विद्यासागर भीतर आकर बोला, "विद्या का सागर तो मैं हूँ, बाबाजी !"

अब पता चला कि विद्यासागर दरवाज़े से लगा हुआ हमारी बातें सुन रहा था ।

"मुझे मोगा जाने की खुशी तो है, बाबाजी !" मैंने कहा, "साथ ही मुझे गाँव छोड़ने का दुःख भी है । मोगा में आप तो नहीं होंगे, विद्यासागर भी नहीं होगा ।"

"मोगा जाते ही तुम हमें भूल जाओगे," विद्यासागर ने व्यंग्य कसा ।

फिर पिताजी ने आकर कहा, "कल मोगा जाने की सलाह पक्की है । मैं सवारी का इन्तजाम कर आया हूँ ।"

मैं मन-ही-मन पुलकित हो उठा । मुझे ठीक समय पर आशीर्वाद मिल गया था ।

दूसरी मंज़िल

कस्तूरी की ख़ुशबू

मोगा में आकर मैंने क्या पाया और क्या खोया, इसका हिसाब सहज न था। वैसे मैं खुश था कि मैं मथुरादास हाई स्कूल का विद्यार्थी हूँ, दो साल में मैट्रिक पास कर लूँगा। साथ ही सोचता था कि ये दो साल गाँव से बाहर कैसे बिताऊँगा। मेरा दिमाग़ चकराने लगता। यहाँ न माँ थी, न माँजी, न बाबाजी, न फत्तू। नये चेहरे एकदम कोरे कागज़ मालूम होते, जैसे उन पर मेरे लिए कुछ भी लिखा हुआ न हो।

गाँव में रहते हुए तो हमेशा शहर में जाने के स्वप्न देखने की आदत-सी पड़ गई थी। बात-बात में शहर की प्रशंसा के पुल बाँध दिये जाते। पर अब शहर में आकर देख लिया कि बहुत-सी बातों में शहर भी गाँव का मुकाबिला नहीं कर सकता।

मोगा में मेरे एक बहनोई अच्छे-खासे सेठ थे, पर मैंने उनके यहाँ रहने की बजाय स्कूल के बोर्डिंग हाउस में रहना पसन्द किया।

योगराज, बुद्धराम और आसासिंह की याद आते ही मेरे दिल पर एक तीर-सा चल जाता। आसासिंह के बाप का चित्र मेरी कल्पना में बार-बार उभरता जिसने अपने बेटे के आठवीं में भी फ़ेल होने से नाराज़ होकर मेरी गीतों वाली कापी चूल्हे में जला डाली थी। मुझे उस पर कुछ कम क्रोध न आता। कई बार मैं सोचता कि क्या मैं वैसी एक और कापी तैयार नहीं कर सकता। मेरा मन कहता कि उस कापी के गीत तो अमर हैं, उस कापी को जलाकर आसासिंह के बाप ने कैसे समझ लिया कि उसने उन गीतों को भी हमेशा के लिए खत्म कर डाला।

स्कूल में अधिक संख्या ऐसे लड़कों की थी, जो आस-पास के गाँवों से आये थे और बोर्डिंग हाउस में रहते थे। मैं सोचता कि क्या इन लड़कों में मुझे एक भी आसासिंह नहीं मिल सकता। नये सिरे से गीतों वाली कापी तैयार करने का विचार मुझे गुदगुदाने लगा। मैं सोचने लगता कि गाँवों में गाये जाने वाले गीत तो किसी पुस्तक में नहीं लिखे गये। ये गीत तो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चले आये हैं। इनकी उम्र तो बहुत लम्बी है, इतनी लम्बी कि उसमें मेरे बाबाजी जैसे अनेक बुजुर्गों की उम्र समा जाय।

मैंने दो ही शहर देखे थे, पटियाला और मोगा। बरनाला को शहर मानने के लिए तो मैं कभी तैयार न हो सकता था। बरनाला से तो हमारा भदौड़ ही कई बातों में बड़ा। भदौड़ में सात किले थे; बरनाला में था सिर्फ एक किला। बरनाला की आबादी भी भदौड़ से बहुत कम थी। वहाँ की विशेषता थी रेलवे-स्टेशन। हमारे गाँव के स्कूल के मुकाबिले में बरनाला में भी एक मिडिल स्कूल था जहाँ पढ़ाई का इन्तज़ाम बहुत अच्छा न था; वहाँ एक-दो अदालतें थीं तो हमारे गाँव में सरदार नत्थासिंह ऑनरेरी मजिस्ट्रेट की कचहरी मशहूर थी।

मोगा के आस-पास के गाँवों से आये हुए लड़के तो मोगा को भी शहर मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनमें से कुछ लड़के लाहौर और अमृतसर देख आये थे। वे कहते थे, "शहरों में शहर हैं लाहौर और अमृतसर, मोगा को तो एक गाँव समझो!"

एक गीत में भी तो मोगा को गाँव कहा गया था:

पिण्डाँ विच्चों पिण्ड छाँटिया
पिण्ड छाँटिया मोगा
उरले पासे ढाब सुणीदी
परले पासे टोभा
टोभे ते इक्क साधू रैंह्दा
ओह्दी हुन्दी शोभा
औंदी जाँदी नूँ घड़ा चुकौंदा
मगरों मारदा गोडा
लक्क तेरा पतला जेहा
भार सहण न जोगा।[1]

मोगा की पुरानी आबादी अभी हू-ब-हू भदौड़ से मिलती-जुलती थी; नई आबादी ने अवश्य शहर का रूप धारण कर लिया था। स्कूल में कई बार हम मोगा की नई आबादी के लड़कों का मज़ाक उड़ाते हुए मोगा को गाँव सिद्ध करने के लिए यह गीत गाने लगते, और यों उन्हें चिढ़ाने में हमें बहुत मज़ा आता था।

कई बार मुझे ख़्याल आता कि इन गीतों के पीछे पड़कर मैं अपना समय खो रहा हूँ। मुझे यहाँ पढ़ने के लिए भेजा गया है। मुझे मन लगाकर पढ़ना चाहिए। पहले पढ़ाई है फिर कुछ और। यह सोचकर मैं गीतों वाली नई कापी को ज़रा कम

---

१. गाँवों में गाँव चुना, गाँव चुना मोगा। इस तरफ़ ढलान है, उस तरफ़ पोखर, पोखर पर एक साधु रहता है, उसकी बहुत प्रशंसा होती है। वह आती-जाती पनिहारी को घड़ा उठवा देता है, पीछे से घुटना मारता है। तेरी कमर पतली-सी है, अभी यह भार उठाने योग्य नहीं।

ही बाहर की हवा लगाता।

घर की याद बहुत सताती। पढ़ाई में मन न लगता। अभी तक कोई मित्र भी तो नहीं मिल सका था जिसे मैं आसासिंह, योगराज या बुद्धराम का स्थानापन्न मान सकता। कोई ऐसा आदमी भी नहीं मिला था जो फत्तू जैसी मज़ेदार बातें सुना सकता। यहाँ न माँ थी, न माँजी, न मौसी भागवन्ती; न भाभी धनदेवी, न भाभी दयावन्ती। हमारे बाबाजी की कमी तो खैर यहाँ किसी तरह भी पूरी नहीं हो सकती थी। कई बार मैं सोचता कि आख़िर ऐसी भी क्या बात है। गाँव हमेशा के लिए तो नहीं छूट गया। गाँव में आना-जाना तो रहेगा ही, छुट्टियों में ही सही।

कभी लगता कि गाँव के लोग मेरे जीवन से निकल गये। कभी लगता कि मैं तो हमेशा उनसे अलग रहा हूँ। मन में कई उतार-चढ़ाव आते। मेरी कल्पना में बाबाजी की आवाज़ उछल कर कह उठती—यह बिल्कुल ग़लत है कि तुम गाँव में रहकर हमेशा गाँव से अलग रहे हो। फिर जैसे हमारे बाबाजी कहने लगते : "सुनो, देव ! यह बड़ी मज़ेदार कहानी है। पुराने ज़माने की कहानी ही सही, पर यह इतनी बुरी नहीं। एक था सेठ। उस सेठ का था एक लड़का। जब वह लड़का बड़ा होकर सेठ बना तो उस देश में बहुत बड़ा काल पड़ा। लोग भूख से मरने लगे। लोगों की जान बचाने के लिए सेठ के लड़के ने अपने भण्डार का सब अन्न बाँट दिया। फिर सेठ के लड़के ने अपनी नगरी की हालत सुधारने के लिए अपने बुज़ुर्गों की कमाई खर्च कर डाली। नगरी की हालत तो क्या सुधरनी थी, क्योंकि खारे कुएँ के जल को मीठा बनाने के लिए गुड़ की पूरी भेली भी काम नहीं दे सकती। वह सेठ का लड़का स्वयं इतना निर्धन हो गया कि बड़े-बड़े व्यापारी उसकी नगरी में आते और वह उनसे कोई माल न खरीद सकता। एक बार सेठ के लड़के ने अपने बचे हुए धन का उपयोग करते हुए अपने पिता की स्मृति में एक मन्दिर बनवाने का निश्चय किया। धन की कमी के कारण चूने की बजाय गारे से ही दीवारें चुनी जा रही थीं। उन्हीं दिनों, जब मन्दिर की दीवारें अभी एक हाथ भी नहीं उठी थीं वहाँ कस्तूरी का एक व्यापारी आ निकला। सेठ के लड़के ने पूछा, 'कस्तूरी का क्या भाव है ?' व्यापारी ने जवाब दिया, 'सेठजी, आप तो चूने की बजाय गारे से ईंटें चुनवा कर मन्दिर बनवा दीजिए। कस्तूरी खरीदा करते थे बड़े सेठजी।' सेठ के लड़के ने सोचा कि वह बड़ा मन्दिर बनवाने की बजाय छोटा मन्दिर ही बनवा लेगा, पर वह इस व्यापारी का घमण्ड जरूर तोड़ डालेगा। उसने छूटते ही व्यापारी से कहा, 'तुम्हारे पास कस्तूरी के कितने थैले हैं ?' व्यापारी ने कहा, 'कुल सात थैले हैं, सेठजी !' सेठ का लड़का बोला, 'तोल दो सारी कस्तूरी !' फिर क्या था, उसी समय कस्तूरी तोल दी गई और सेठ के लड़के का बहुत-सा धन व्यापारी की जेब में चला गया।

व्यापारी जाने लगा तो सेठ के लड़के ने हँसकर कहा, 'ज़रा रुककर यह भी देखते जाओ कि तुम्हारी कस्तूरी से हम क्या काम लेते हैं।' व्यापारी रुककर देखने लगा। सेठ के लड़के ने हुक्म दिया कि सब-की-सब कस्तूरी गारे में मिला दी जाय। व्यापारी ने बहुत कहा, 'सेठजी, कस्तूरी का अपमान न कीजिए !' पर सेठ का लड़का बोला, 'कस्तूरी तो कस्तूरी ही रहेगी। इसमें अपमान की क्या बात है?' व्यापारी बोला, 'कस्तूरी का उचित उपयोग तो होना ही चाहिए, सेठजी !' 'उपयोग उचित है या अनुचित,' सेठ का लड़का बोला, 'यह तो हमारी-तुम्हारी बात है। लेकिन कस्तूरी तो कस्तूरी ही रहेगी। यह तो नहीं बदल सकती। इधर से जो भी निकला करेगा, कस्तूरी तो उसे अपनी खुशबू देती ही रहेगी।'

बाबाजी ने यह कहानी मुझे उस दिन सुनाई थी, जिस दिन पण्डित घुल्लूराम ने हमारी बैठक में आकर मुझे आशीर्वाद दिया था। मैं सोचता कि एक खुशबू है बाबाजी की कहानी की। बाबाजी की कहानी की खुशबू तो जैसे मेरे सब अभाव दूर कर सकती हो। बाबाजी ने अपनी उस कहानी की व्याख्या करते हुए ठीक ही तो कहा था, "इन्सान वही है जिसके अन्दर से खुशबू आती हो, जिसकी खुशबू से मस्त होकर लोग उसके पास खिचे चले आयें।"

मेरी आँखें खुल गईं। मैं दिल लगाकर पढ़ने लगा। पढ़ने के समय पढ़ता, बात करने के समय बात करता। शीघ्र ही कई लड़के मेरे मित्र बन गये।

हमारे बोर्डिंग हाउस का चौकीदार था बंसी जिसे हर कोई पूरबिया कहकर बुलाता था। वह पूरब का रहने वाला था, पूरब की भाषा बोलता था। कभी चार शब्द पंजाबी के भी बोलता तो उनमें दो शब्द अपनी भाषा के भी टाँक देता।

बंसी कई बार बताता कि उसे अपने गाँव की याद कभी नहीं भूलती। जब कभी मैं अपने गाँव की बात छेड़ देता तो वह यही समझता कि मुझे अपने गाँव की उतनी याद नहीं आ सकती जितनी उसे आती है और मैं केवल उसका मन रखने के लिए ही अपने गाँव का चित्र खींचने लगता हूँ।

एक दिन बंसी ने मुझे अपने गाँव का एक बोल सुनाया जिसे मैंने अपनी कापी में लिख लिया :

गाँव कहे शहर से हम बड़े हैं भाई
हमरी कमाई कुल दुनिया खाई

मैंने कहा, "बंसी, यही तो हमारे गाँव की भी आवाज़ है।"

वह बोला, "नहीं बाबू, ई तो हमरे गाँव को बोली है, ई बोली तुम्हरे गाँव की नहीं है।"

मैंने हँसकर कहा, "बंसी, यह तो हर एक गाँव की आवाज़ है, तुम्हारे गाँव की, हमारे गाँव की, राधाराम के गाँव की, प्यारेलाल के गाँव की, खुशीराम के गाँव की···"

"बाबू ! काहे को हमार मखौल उड़ावत हो ?" बंसी ने झट मेरे पास से उठते हुए कहा, "हम तो न पढ़ सकित औ न लिख सकित। हम तो खाली बात कर सकित, गप मार सकित, चौकीदारी कर सकित। हमरी इतनी अकल नाहीं, बाबू ! हमरा इतना दाम नाहीं बाबू, कि हम तुम्हार मुकाबला कर सकित।"

उस दिन से बंसी मेरे और भी समीप आ गया। कभी वह अपने खेतों की बातें सुनाने लगता, कभी अपनी घर-गृहस्थी की बातें ले बैठता। उसने बताया कि उसकी एक लड़की है जो कभी गुड़िया से खेलती थी; अब तो वह ब्याहने योग्य हो रही थी। उसका नाम था पुतली। पुतली की बातें करते हुए बंसी खोया-खोया-सा प्रतीत होने लगता, जैसे पुतली उसे पीछे गाँव की तरफ खींच रही हो।

"हमरी पुतली न रहती, बाबू !" एक दिन वह बोला, "तो हम कभी चौकीदारी न करित, कभी गाँव न छोड़ित, पर हमरी भाग माँ बाहर का दाना-पानी लिखा रहा, नाहीं तो हम अपने गाँव छोड़कर काहे मोगा के स्कूल में नोकरी करित, बाबू !"

मैं मोगा के स्कूल में पढ़ने के लिए आया था, बंसी नौकरी करने आया था। हम अपना-अपना गाँव छोड़कर आये थे। बंसी के पास बैठे मुझे लगता कि उसकी बातों से कस्तूरी की खुशबू आ रही है। मैं सोचने लगता कि इन्सान देखने में कितना भी गँवार क्यों न नज़र आये, उसके अन्दर किसी महान् कलाकार की कला-चेतना अपनी खुशबू दिये बिना नहीं रहती।

11/8/92

जंगली कबूतर

बोर्डिंग हाउस में मैं डारमैट्री में रहता था जहाँ बीस लड़कों के लिए जगह थी। बीस चारपाइयाँ । बीस अलमारियाँ । यह डारमैट्री मुझे नापसन्द थी । दसवीं के लड़कों के लिए अलग कमरे थे, उनमें तीन-तीन लड़के रहते थे ।

मेरा जी हमेशा डारमैट्री छोड़कर दसवीं के लड़कों जैसे किसी कमरे में जाकर रहने के लिए ललचा उठता । मैं जानता था इसके लिए तो एक साल तक इन्तज़ार करना होगा, नौवीं से दसवीं में हुए बिना तो डारमैट्री को छोड़ने का सवाल ही नहीं उठ सकता था । यह सोचकर मैं घुट के रह जाता ।

किसी पुस्तक में मैंने पढ़ा कि बोर्डिंग में रहने वाला विद्यार्थी बड़ा होकर अधिक सफल आदमी सिद्ध होता है। मैंने सोचा चलो बोर्डिंग में जगह तो मिल गई।

बोर्डिंग में रहने की एक मुसीबत भी थी। सुबह-शाम सन्ध्या के लिए जमा होना पड़ता था। जो लड़का सन्ध्या में सम्मिलित न होता उस पर जुर्माना तो किया ही जाता, सुपरिटेंडेंट का वेंत भी उसके हाथों पर जरूर बरसता ।

सन्ध्या के मन्त्र हर लड़के को कण्ठस्थ हों, यह जरूरी न था । सुपरिटेंडेंट साहब तो केवल इस बात पर ज़ोर देते कि कोई लड़का सन्ध्या करते समय भूलकर भी आँखें खुली न रखे, मंत्रपाठ में उसका स्वर मिलता रहे, वह होंठ हिलाता रहे। संध्या के मंत्रों का पाठ मुझे निरर्थक-सा लगता था, वैसे मेरे मित्र जानते थे कि मुझे संध्या के मन्त्र याद हैं। मेरी आवाज़ सबकी आवाज़ के ऊपर उछल जाती । आश्चर्य तो यही था कि मुझे अपनी यह हरकत बुरी न लगती। कभी-कभी मैं सोचता कि हम किधर के भक्त हैं, हम तो जुर्माने और बेंतों के डर से ही संध्या करते हैं ।

हमारे सुपरिटेंडेंट को तो थानेदार होना चाहिए था । देखने में ख़ूँखार, बात करने में बिगड़ैल, अकारण ही आँखें लाल करने में होशियार—यह था हमारे दड़बे के इस थानेदार का रूप।

हमारे हैडमास्टर देवता स्वरूप थे। जिस दिन हम पूरी तरह तैयार होकर न आते, पूछे जाने पर ठीक उत्तर न दे पाते, वे कमरा छोड़कर चुपके से बाहर निकल जाते। वैसे तो उन्हें क्रोध छू भी नहीं गया । बड़ी मुश्किल से अगले दिन

हमें पढ़ाने के लिए राजी होते। हमारी क्लास का मानीटर चुपके-से उनके पास जाता, हम सबकी ओर से वचन देता कि हम पूरी तरह तैयार होकर आया करेंगे।

हमें कोई छू मंत्र याद नहीं था जिसकी मदद से रात-की-रात में हमारी अंग्रेज़ी अच्छी हो जाती। अधिकांश विद्यार्थी गाँवों से आये थे। अंग्रेज़ी में एकदम कच्चे— कुम्हार के कच्चे घड़ों के समान ! हैडमास्टर साहब हमसे तंग थे। उनका सत्याग्रह भी हमारे आड़े आता दिखाई नहीं देता था। वे हमें पढ़ाते तो मैं मुँह बाये उनकी तरफ देखता रह जाता और वे समझ जाते कि मैं एक रियासती गाँव से आया हूँ, मेरे पल्ले उनकी बात बिलकुल नहीं पड़ रही।

'स्टोरीज फ्राम टैगोर' की पहली कहानी 'काबुलीवाला' पढ़ाते समय हैड-मास्टर साहब ने ज़ोर देकर कहा, "डाक्टर टैगोर कवि हैं। इस कहानी में एक कवि का हृदय बोल उठा है !" उन्होंने यह भी बताया कि इस पुस्तक की कहा-नियों में जगह-जगह कविता का रस आता है। लेकिन कविता का रस लेने के लिए यह आवश्यक था कि हमारी अंग्रेज़ी अच्छी हो।

एक दिन सत्याग्रह करते हुए क्लास रूम छोड़ने की बजाय हैडमास्टर साहब ने हमें बताया, "कोई यह मत समझे कि अंग्रेज़ी सिर्फ़ अंग्रेजों की भाषा है। अंग्रेजी तो दुनिया के बहुत से देशों में समझी जाने लगी है। इसलिए अगर तुम लोग बड़े होकर दुनिया की सैर पर निकलोगे तो अंग्रेज़ी ही काम देगी।"

उस दिन से मैंने फ़ैसला कर लिया कि मैं अंग्रेज़ी में तेज होकर दिखाऊँगा। अंग्रेज़ी के शब्दों से मैं दोस्ती गाँठने लगा, उनकी आदतों को समझने की कोशिश करने लगा। जैसे अंग्रेज़ी के शब्द सिर्फ़ अंग्रेज़ ही न हों, कुल दुनिया के शहरी हों। मेरे इस दृष्टिकोण को पक्का करने का श्रेय कुछ हिन्दुस्तानी शब्दों को था जिन्हें अंग्रेज़ी डिक्शनरी में स्थान मिल चुका था।

हमारे स्कूल पर सैकंड मास्टर का रोब हावी था जो हमें हिसाब और ज्योमैट्री पढ़ाते थे। वे हमेशा हमारी दुहरी पिटाई करते, अपने हिस्से की ही नहीं, हैडमास्टर साहब के हिस्से की भी। वैसे देखने में बड़े सुन्दर थे। रंग के गोरे-चिट्टे। चेहरे की रेखाएँ जैसे किसी मूर्तिकार ने बनाई हों। हैडमास्टर मिलखीराम बी० ए० बी० टी० तो साँवले थे। चेहरे पर चेचक के दाग़। कद के ठिगने। सैकंड मास्टर महँगाराम बी० ए० बी० टी० ने जैसे पिछले जन्म में बहुत पुण्य किये हों। हमारे कई सहपाठी उनके हाथों पिटकर भी उनकी सुन्दरता का बखान करने से न चूकते। लड़के को पास बुलाकर वे उसका कान मरोड़ते और इस तरह मसलते कि उसकी चीख़ें निकल जातीं, फिर उसके हाथों पर बेंत लगाते।

कभी वे हमें बाज़ार में चाट खाते देख लेते, या कभी बाज़ार में नंगे सिर चलते देख लेते तो मास्टर महँगाराम हमें कभी क्षमा न करते। वे नाक में बोलते

थे । क्रोध में बोलते समय उनकी आवाज़ नाक की सुरंग में कई बार अटक-अटक जाती ।

मैं सोचता कि मास्टर महँगाराम हमें पास करने पर ही नहीं अच्छे इंसान बनाने पर भी तुले हुए हैं । उनकी सख़्ती के पीछे मुझे प्रेम का झरना बहता प्रतीत होता । कई बार वे हमें पुचकार कर कहते, "स्कूल में तुम लोग पढ़ने के लिए आये हो । मैं यह तो नहीं कहता कि तुम खेलो मत । पढ़ाई को तुम मुख्य वस्तु समझो, यह मैं ज़रूर चाहता हूँ । अगर तुम्हारी पढ़ाई की बुनियाद कमज़ोर रह गई तो तुम ज़िन्दगी भर पछताओगे ।"

अलजब्रा पढ़ाने वाले गोस्वामी जी कभी इतने मज़े से चलते कि पढ़ाने की बजाय कोई कहानी छेड़ देते, कभी इतनी भाग-दौड़ पर उतर आते कि महीने-भर की पढ़ाई एक ही दिन में खत्म करने पर तुल जाते ।

काले बोर्ड पर सफ़ेद चाक से लिखते समय गोस्वामी जी यों उछलते-कूदते जैसे किसी मदारी का बन्दर नाच रहा हो । मुझे उनका वह रूप प्रिय था । कई बार मैं सोचता कि शायद बड़ा होकर मैं भी अलजब्रे का अध्यापक बन जाऊँ, तब तो मैं भी इसी तरह उछल-कूद से काम लिया करूँगा ।

हिस्ट्री के अध्यापक बार-बार कहते, "हिस्ट्री में पास होने के लिए अंग्रेजी में होशियार होना ज़रूरी है, क्योंकि इम्तहान में हिस्ट्री के परचे अंग्रेज़ी में ही आते हैं ।"

मेरी उर्दू की नींव मज़बूत थी । इसका श्रेय हमारे गाँव के स्कूल के मौलवी फ़रखन्दा ज़ाफ़र को था । हमारे मानीटर महाशय खुशीराम का ख़्याल था कि हमारे उर्दू-अध्यापक अज़ीज़राय को उर्दू बिल्कुल नहीं आती और वे हमारे उर्दू कोर्स के बाज़ार में बिकने वाले 'नोट्स' की मदद न लें तो हमें कभी न पढ़ा सकें । कई बार ख़ुशीराम मास्टर अज़ीज़ राय से किसी-किसी शेर के अर्थ पर बहस छेड़ देता । ख़ुशीराम उर्दू और फ़ारसी का माहर था । मैं सोचता कि अगर मैंने भी फ़ारसी पढ़ रखी होती तो मैं भी मास्टर अज़ीज़राय को आड़े हाथों लेने का लुत्फ़ उठाता । कभी-कभी मैं सोचता कि ख़ुशीराम के मुँह से भी मैं ही बोल रहा हूँ ।

हमारे साइंस मास्टर बड़े फ़ैशनेबल इन्सान थे । बड़े ही हँसमुख, बड़े दिलचस्प । बात करते तो मुँह से फूल झड़ते । नाम चाननसिंह, सिर पर ज़ुल्फ़ें, चेहरा सफ़ा-चट । वही हमारे स्काउट मास्टर भी थे । संगीत के रसिया, नाटक के प्रेमी । कई बार मैं सोचता कि क्यों न मैं भी स्काउट सज कर और संगीत तथा अभिनय में नाम पैदा करके मास्टर चाननसिंह का प्रिय विद्यार्थी बन जाऊँ । पर न जाने यह कैसी झिझक थी जो मुझे उस रास्ते पर चलने नहीं देती थी ।

कई बार बोर्डिंग में अपनी चारपाई पर पड़े-पड़े, बंसी का चेहरा मेरी कल्पना में यों उभरता जैसे आकाश पर भोर का तारा चमकता है । बंसी के चेहरे के पास

ही फत्तू का चेहरा उभरता। मेरी कल्पना में फत्तू कह उठता—अब तुम मुझे क्यों याद करने लगे? अब तो तुम्हें वंसी मिल गया है! मैं बाँहें फैलाकर कहता—मुझे इस दड़बे से निकालकर ले चलो, फत्तू! मैं ठहरा जंगली कबूतर—उन्हीं कबूतरों का भाईबन्द जो माई बसन्तकौर की खण्डहर ड्योढ़ी में रहते हैं और दिन भर दूर-दूर तक उड़ते हैं।

गाँव-गाँव, गली-गली

स्कूल के वातावरण में मुझे एक घुटन-सी महसूस होती। कई बार मुझे लगता कि स्कूल के अध्यापकों और विद्यार्थियों की अपेक्षा हमारे बोर्डिंग हाउस का चौकीदार बंसी कहीं अच्छा इन्सान है। बात-बात में वह बाबू की रट लगाता। उसकी यह आदत मुझे नापसन्द थी।

"मुझे बाबू मत कहा करो, बंसी !" एक दिन मैंने झुँझलाकर कहा।

"बाबू कौन गाली है, बाबू ?" वह हँसकर बोला, "ई तो बहुत अच्छी बात है। कौन्यों खराब बात नहीं कह रहे। हमार मन तो बहती गंगा है, बाबू ! तुम पंजाबी लोग हमारी बोली को नाहीं समझत। ई तो ! प्यार की बोली। हमार अपने गाँव की बोली।"

"तुम्हारे गाँव का क्या नाम है, बंसी ?" मैंने झट पूछ लिया।

"हमार गाँव का नाम रामपुर है, बाबू ! बहुत अच्छा गाँव है ! बहुत पुराने ज़माने की बस्ती है।"

"मैं भी तुम्हारे गाँव में चलूँगा, बंसी !"

"जब तुम औवो वहाँ तो बाबू, हम अपने गाँव में तुमको घर बनवाऊ, मजा कराऊ। ई हमार जिन्दगी मजे से कट जाई।"

"बहुत अच्छा, बंसी ! देखेंगे।" कहता हुआ मैं बंसी के पास से चला आया।

अपने कमरे में आकर मैं 'गीतांजलि' का उर्दू अनुवाद खोलकर बैठ गया। मुझे लगा कि 'गीतांजलि' वाला टैगोर कोई और आदमी है, 'स्टोरीज़ फ्राम टैगोर' वाला टैगोर कोई और।

फिर एक दिन मैं लाइब्रेरी से अंग्रेज़ी की 'गीतांजलि' लेता आया। उर्दू की 'गीतांजलि' तो खुले हुए द्वार के समान थी। अंग्रेज़ी 'गीतांजलि' से माथा-पच्ची करना मुझे बड़ी मूर्खता प्रतीत हुई। इतना अवश्य समझ गया कि 'स्टोरीज़ फ्राम टैगोर' का लेखक भी यही टैगोर है। 'गीतांजलि' का अनुवाद पढ़ते-पढ़ते मुझे मास्टर केहरसिंह का ध्यान आ गया, जो चाहते तो मुझे भी कवि बना देते। मुझे अपनी मूर्खता पर क्रोध आने लगा। अब यह मास्टर केहरसिंह का तो कसूर न था कि मैंने मन मारकर उनसे छन्द रचने की कला नहीं सीख ली थी। प्यासे

को ही कुएँ के पास जाना पड़ता है। कुआँ तो चलकर प्यासे के पास आने से रहा। एकाएक मूर्ति का चेहरा मेरी कल्पना में उभरा। मैं कवि होता तो मास्टर रौनकराम की तरह स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रशंसा में कविता लिखने की बजाय मूर्ति की प्रशंसा में ही कविता लिखता। 'गीतांजलि' पढ़ते-पढ़ते मैं ऊब गया। मेरा मन तो मूर्ति के ध्यान में खोया जा रहा था। कई बार मैंने झुंझलाकर मूर्ति के विचार से छुट्टी पाने का फ़ैसला किया। हर बार मेरी कल्पना में मूर्ति की मुखमुद्रा और भी उदास हो उठती, जैसे वह भी हमारे गाँव में बैठी मेरी याद में खोई जा रही हो, जैसे वह कह रही हो—मैंने तो आगे पढ़ने से इन्क़ार कर दिया!

मैं बहुत व्याकुल रहने लगा। न हिस्ट्री में मन लगता था, न उर्दू में, न साइन्स में। हिसाब तो ख़ैर माउण्ट एवरेस्ट था, जिस पर चढ़ सकने की शक्ति मुझमें न थी। एलजब्रा और ज्योमेट्री में मन थोड़ा चलने लगा था, पर मूर्ति का ध्यान आते ही ज्योमेट्री की 'प्रापोज़ीशन' तंग गली बन जाती और मैं इसके बाहर ही खड़ा रहता। अब तो उर्दू की 'गीतांजलि' भी अच्छी नहीं लगती थी। मूर्ति पर एक कविता ही लिख डालूँ, यह थी मेरी समस्या, पर मैं तो कवि नहीं था। चलते-फिरते, उठते-बैठते मैं शब्दों को पकड़ने का यत्न करता। कभी मैं दो-चार पंक्तियाँ लिखने में सफल भी हो जाता। यह समस्या और भी टेढ़ी थी कि पंजाबी में लिखूँ या उर्दू में। आँखें बन्द किये सुबह-शाम संध्या के मंत्रों का पाठ करते हुए मैं अपनी कल्पना में मूर्ति को देख लेता। जैसे मूर्ति मुझसे पूछ रही हो—तो कुछ फ़ैसला किया या नहीं? पंजाबी और उर्दू तो ख़ैर मैं समझ लूँगी। कहीं संस्कृत में मत लिख डालना अपनी कविता। तुम संस्कृत के दूसरे कालिदास बनने की कसम खा लोगे, तो मेरे पल्ले तो बिल्कुल नहीं पड़ेगी तुम्हारी कविता।

हमारे बोर्डिंग हाउस के कुछ लड़के, जो समीपवर्ती गाँवों के रहने वाले थे, शनिवार को अपने गाँव चले जाते, रविवार गाँव में गुज़ार कर सोमवार की सुबह को स्कूल खुलने से पहले ही गाँव से लौट आते। हफ्ते-के-हफ्ते गाँव जाने वालों में राधाराम भी था जो मेरा मित्र बन गया था।

राधाराम चूहड़ों का लड़का था और चूहड़चक्क का रहने वाला था। मैंने एक दिन मज़ाक में कहा, "राधाराम, क्या तुम्हारे गाँव में सब-के-सब तुम्हारी जाति के लोग रहते हैं?"

"नहीं तो!" वह बोला, "वहाँ तो ब्राह्मण, खत्री, बनिये, नाई, तेली, कुम्हार, तरखान—सभी रहते हैं।"

"और तुम्हारी जाति के लोग भी तो रहते होंगे जिन्होंने पहले-पहले यह गाँव बसाया होगा जैसा कि इस गाँव के नाम से ज़ाहिर है।"

राधाराम के हाथ में हाकी स्टिक थी। उसने बड़े प्यार से मेरी पीठ पर हाकी

स्टिक से हलकी-सी चोट करते हुए कहा, "तुम बड़े ही शरारती हो, बात कहाँ-से-कहाँ घुमा ले जाते हो। हमारे बोर्डिंग हाउस का चौकीदार बंसी भी बात को इतना नहीं घुमाता।"

राधाराम ने चूहड़चक्क का वह चित्र खींच कर दिखाया कि मैं चूहड़चक्क देखने के लिए लालायित हो उठा।

चूहड़चक्क जाऊँ या न जाऊँ, इस सम्बन्ध में एक ही मत हो सकता था, और वह यही था कि इसमें कोई हर्ज़ नहीं है। फिर भी मैं डरता था कि कहीं मोगा में मेरे बहनोई तक यह बात न जा पहुँचे, क्योंकि उस अवस्था में पिता जी तक बात पहुँच सकती थी और पिताजी का क्रोध असहनीय रूप धारण कर सकता था। सहसा मुझे बाबाजी का उपदेश याद आ गया: 'इंसान एक जगह घुटकर रहने के लिए नहीं है, देव! जीवन तो बहता दरिया है।' पण्डित घुल्लूरामजी ने भी इससे मिलती-जुलती बात कही थी: 'यात्रा के बिना मनुष्य का ज्ञान बन्द पोखर के समान रहता है।' आखिर मैंने चूहड़चक्क जाने का फ़ैसला कर लिया।

राधाराम इसमें अपनी विजय समझ रहा था। उसने मुझे अपने गाँव के स्कूल के हैडमास्टर साहब के यहाँ ठहराया।

हैडमास्टर साहब ने बताया कि राधाराम को पढ़ाई में आगे बढ़ाने में सबसे ज्यादा मदद उन्होंने दी थी। उन्हें राधाराम की यह बात बहुत पसन्द थी कि वह चूहड़चक्क की प्रशंसा करके मुझे अपना गाँव दिखाने ले आया था।

मैं जितना भी कहता कि चूहड़चक्क तो बहुत सुन्दर गाँव है, उसकी गलियाँ तो बहुत साफ़ हैं, उतना ही हैडमास्टर साहब समझते कि मैं मज़ाक कर रहा हूँ। फिर जब मैंने उन्हें बताया कि मैं चूहड़चक्क के कुछ गीत अपनी कापी में लिखना चाहता हूँ तो वे खिलखिलाकर हँस पड़े।

मेरे आतिथ्य में हैडमास्टर साहब ने कोई कसर उठा न रखी। पर गीतों का ज़िक्र करते हुए वे बोले, "चूहड़चक्क के गीत कोई खास गीत तो नहीं हैं। जैसे इर्द-गिर्द के गाँवों के गीत हैं वैसे ही यहाँ के हैं। उतने ही भद्दे, उतने ही ऊल-जलूल!"

मैंने कहा, "चूहड़चक्क का नाम तो किसी गीत में ज़रूर आता होगा, मास्टर जी!"

"आता भी हो तो उससे क्या सिद्ध होगा?"

इतने में राधाराम भी आ गया। उसने मेरी प्रशंसा करते हुए कहा, "देव ने तो डाक्टर टैगोर की 'गीतांजलि' भी पढ़ रखी है, मास्टर जी!"

"तो फिर देव चूहड़चक्क के गीत क्यों लिखना चाहता है?" हैडमास्टर साहब ने गोफना घुमाने के अन्दाज़ में कहा, "चूहड़चक्क के गीत कोई खास गीत नहीं हैं। जैसा मुँह वैसी चपत!"

लेकिन मैं राधाराम के साथ दूर खेतों में निकल गया और शाम को लौटा तो मेरी कापी के कई पन्ने गीतों से भर चुके थे। हैडमास्टर साहब को वे गीत दिखाने का तो समय नहीं था।

सोमवार की सुबह को बोर्डिंग हाउस में लौटकर मैं स्कूल जाने की तैयारी करने लगा। चूहड़चक्क के गीत बुरे न थे। चूहड़चक्क के खेत, चूहड़चक्क की गलियाँ, चूहड़चक्क के इन्सान मुझे पसन्द थे। किसी-किसी चेहरे पर तो मुझे अपने गाँव के इन्सानों के चेहरे उभरते महसूस हुए थे।

अगले हफ़्ते मैं प्यारेलाल के साथ कोट ईसे खाँ जा पहुँचा।

कोट ईसे खाँ का रूप मुझे भदौड़-जैसा लगा। वैसे ही घर, वैसी ही गलियाँ, वैसे ही खेत।

अगले हफ़्ते मैं बनारसीदास के साथ दौधर हो आया।

इन यात्राओं में फिर तो मुझे रस आने लगा। आस-पास के और भी कई गाँव देख लिये। इनकी मुखमुद्रा मेरे मन पर अंकित हो गई।

मेरी कापी के पन्नों पर प्रत्येक गाँव के चुने हुए गीत दर्ज होते जा रहे थे। हर गाँव में नये चेहरे मेरे सामने आते। उनकी आवाज़ उनके गीतों में सुनने को मिल जाती। प्रत्येक गाँव की कहानियाँ मुझे अपने गाँव की कहानियों से मिलती-जुलती प्रतीत हुईं।

बंसी अपने गाँव रामपुर की कहानी ले बैठता। वह बार-बार कहता कि जब मैं उसके गाँव में चलूँगा, वह मेरे लिए एक घर बनवा देगा और वहाँ मेरी ज़िंदगी मज़े से कट जायगी।

चूहड़चक्क के एक किसान-युवक द्वारा लिखवाया हुआ गीत का यह बोल मेरी कल्पना को बार-बार गुदगुदाने लगता :

> सौहरियाँ दा पिण्ड आ गया
> मेरा घग्गरा रास न आया ![1]

यहाँ गाँव की एक स्त्री का चित्र प्रस्तुत किया गया था जो मायके से चली तो गाँव की प्रथानुसार सलवार पहने हुए थी। रास्ते में उसने लहँगा पहन लिया। ससुराल का गाँव अब दूर नहीं रह गया था। पर उसका नया लहँगा, जो शायद थोड़ा छोटा या बड़ा बन गया था, उसे तंग कर रहा था।

कोट ईसे खाँ में प्यारेलाल के बचपन के एक मित्र द्वारा लिखवाया हुआ यह गीत भी मुझे स्कूल में पढ़ते-पढ़ते झकझोर जाता :

---

१. ससुराल का गाँव नजदीक आ गया। मेरा लहंगा अभी तक ठीक न हुआ।

तैंनूं कुड़ीयाँ मिलन न आइयाँ
किक्कराँ नूं पा लै जपफीयाँ ।[१]

इसमें भी गाँव का एक चित्र था। किसी लड़की का व्याह हुआ। जब वह ससुराल जाने लगी तो उसकी वचपन की सखियाँ उसे विदा देने न आईं। किसी ने उस लड़की पर व्यंग्य कसते हुए कहा कि वह कीकर के वृक्षों से ही गले मिल ले।

दौधर में सुना हुआ गीत का यह बोल मुझे बेहद पसन्द था :

गड्डी जाँदीए सन्दूकों खाली
बहुतियाँ भरावाँ वालीए ![२]

गीत के इस बोल में यह दिखाया गया था कि कोई लड़की व्याह के बाद बैलगाड़ी में ससुराल जा रही है। गाँव की प्रथानुसार तो बैलगाड़ी के पीछे वह सन्दूक बँधा हुआ नज़र आना चाहिए था जो लड़की का पिता दहेज में देता है। अब इस लड़की के पिता की तो मृत्यु हो चुकी थी। उसके भाइयों ने उसका व्याह यों किया जैसे बेगार काटी जाती है; वे अपनी बहन के दहेज में सन्दूक देना भूल गये।

चूहड़चक्क में मलाई की बरफ़ बेचने वाले एक पूरबिया से एक मज़ेदार बोल सुनने को मिला था जिसे मैंने अपनी कापी पर उतार लिया था :

झाँसी गले की फाँसी दतिया गले का हार
ललितपुर न छोड़िये जब तक मिले उधार

राधाराम ने हँसते-हँसते उस पूरबिये को अपना पंजाबी बोल सुना डाला था : 'वसिये शहर भावें होवे कहर, खाइये कणक भावें होवे जहर ।'[3]

एक दिन बंसी ने अपने प्रान्त का एक बोल सुनाकर मेरी कल्पना में रंग भर दिया : 'पाँव डगमगे परत हैं देखि गाँव के रूख, अब तो सही न जात है थरिया[४] पर की भूख ।'

मैंने कहा, "बंसी, कोई इससे भी मज़ेदार बोल हो जाय आज तो !"

बंसी की आँखें चमकने लगीं। उसने झट यह बोल सुना दिया, 'जबरा की मेहरारू गाँव भर की काकी, अबरा की मेहरारू गाँव भर की भौजी ।[५]

नये-नये देखे हुए गाँव मेरी कल्पना पर अंकित थे, उनकी गलियाँ, उनके खेत, उनके लोग, पुरुष, स्त्रियाँ, लड़के, लड़कियाँ और बच्चे—सभी मुझे झकझोर रहे थे। मुझे लगता कि मैं तो पिंजरे का पक्षी नहीं हूँ, मैं तो दूर-दूर तक उड़ सकता हूँ।

---

१. तुझे लड़कियाँ मिलने नहीं आईं। कीकर के वृक्षों के गले मिल लो !
२. तुम्हारी बैलगाड़ी सन्दूक के बिना ही जा रही है, ओ बहुत से भाइयों की बहन !
३. शहर में ही बसना चाहिए चाहे वहाँ कहर ही क्यों न हो; गेहूँ ही खाना चाहिए चाहे वह जहर ही क्यों न हो।
४. थाली।
५. बलवान की पत्नी गाँव-भर की काकी, बलहीन की पत्नी गाँव-भर की भाभी।

पंख और तूलिका

वंसी को जाने कैसे-कैसे वोल याद थे। कभी वह कहता, 'आठ गाँव का चौधरी बारह गाँव का राव, अपने काम न आय तौ ऐसी तैसी में जाव !' कभी कहता, 'ढीली धोती वानिया उलटी मूँछ सुनार, वेंड़े पैर कुम्हार के तीनों की पहचान !' उस आदमी की वात वह मज़ा लेकर सुनाता जो कावुल से लौटकर पानी को आव कहने लगा था, 'कावुल गये मुगल बन आये वोलैं मुगली वानी, आव आव कहि वावा मरि गये खटिया तर रह पानी !' इस वात पर ज़ोर का क़हक़हा पड़ता कि खटिया के नीचे पानी पड़ा रहा और मुग़ल वावा आव-आव पुकारते मर गये। कभी वह किसी भाँड़ की तरह नक़ल उतारते हुए कहता, 'विन दरपन के वाँधै पाग विना नून के राँधै साग, विना कण्ठ के गावै राग ना वह पाग न साग न राग !' कभी वह जाट-जाटनी की नक़ल उतारता, 'जाट कहे सुन जाटनी इसी गाँव में रहना, ऊँट विलाई ले गई हाँजी हाँजी कहना।' मैं पूछता, "विल्ली कैसे ऊँट को उठाकर ले जा सकती है ?" वह कहता, "हाँ जी हाँ जी कहना वावू !"

एक दिन वंसी ने सत्तू और धान का मुकाविला करते हुए पुराना वोल सुनाया, 'सत्तू मन भत्तू कव घोरै कव खाय, धान वेचारा भला कूटा खाया चला !' मैं यह सुनकर हँसता रहा। उसने लगे हाथ यह व्यंग्य कस दिया, 'घर में महुवा की रोटी, वाहर लंबी धोती !' वाहर निकलकर दिखावे से काम लेने वाले पर उसकी चोट मुझे वहुत अच्छी लगी। फिर धन की वात चली तो उसने यह वोल सुनाया :

> जानहार धन ऐसे जाय
> जैसे वेलैं कुंजर खाय
> रहनहार धन ऐसे रहै
> जैसे दूधु नरियर गहै[1]

वंसी देर तक जुआ खेलने वालों की बुराई करता रहा और इस वोल पर आकर रुका :

---

१. चला जाने वाला धन यों जाता है जैसे वैल को हाथी खा जाय। बचा रह जाने वाला धान यों बचा रह जाता है जैसे नारियल में दूध।

जुआरी आया जित
गोहूँ चार ज्वारी इक्क
जुआरी आया हार
गोहूँ इक्क ज्वारी चार[1]

मैंने कहा, "वंसी, तुम्हारे ये वोल कितने मज़ेदार हैं। मैं सच कहता हूँ ऐसी बातें तो कोई हमें हमारे स्कूल में भी नहीं वताता।"

बंसी ने आँखों-ही-आँखों में कहा—क्यों मुझे बना रहे हो, वावू? लगे हाथ उसने गाँव में सम्मिलित परिवार को टुकड़े-टुकड़े करने वाली वहू का वोल सुना डाला, 'क्या सासूजी चटको मटको क्या फटकाओ चूल्हा, डोली पर से जव उतरूँगी जुदा करूँगी चूल्हा।' और वह देर तक हँसता रहा। फिर उसने मूर्ख और चतुर का अन्तर समझाया, 'चम्पा के दस फूल, चमेली की एक कली, मूरख कै सारी रात चतुर कै एक घड़ी!'

जब भी मैं वंसी को देखता मुझे लगता कि एक ज्ञान-गोदड़ी डोल रही है। लोकोक्तियों की तो वह खान था। फत्तू को कहाँ आती हैं इतनी लोकोक्तियाँ? मेरा जी चाहता कि मैं बंसी का एक-एक बोल अपनी कापी पर उतार लूँ।

लेकिन इधर जैसे बंसी ने अपने किसी भी वोल को हवा न लगने की कसम खा ली हो। वह ख़ामोश रहने लगा और मेरे लाख अनुरोध करने पर भी वह अपना कोई वोल न सुनाता।

एक दिन बड़ी मुश्किल से उसका यह वोल हाथ लगा, 'अकेले की चोरी ठठेरे की जोरी, कोरी की मरोरी खोले नहीं खुलती!'[2]

फिर कहीं सात दिन वाद जव मैं वंसी को अपने गाँव की और विशेष रूप से अपने वावाजी की कहानियाँ सुना रहा था, बंसी से यह बोल सुनने को मिला:

वाम्हन नंगा जो भिखमंगा भँवरी वाला वनिया
कायथ नंगा करै खतौनी बढ़इन में निरगुनिया
नंगा राजा न्याय न देखै नंगा गाँव निपतिया
दयाहीन सो छत्री नंगा नंगा साधु चिकनिया[3]

---

१. जुआरी जीतकर आया तो उसने गेहूँ की चार और ज्वार की एक रोटी खाई, जुआरी हारकर आया तो उसने गेहूँ की एक और ज्वार की चार रोटियाँ खाईं।

२. अकेले की हुई चोरी, ठठेरे का बरतन में लगाया हुआ जोड़, कोरी (जुलाहा) की दी हुई गाँठ लाख खोलो खुलती नहीं।

३. निर्लज्ज है वह ब्राह्मण जो भिक्षुक है और वह वनिया जो फेरी वाला है। निर्लज्ज है वह कायस्थ जो खतियौनी में हिसाव लिखता है और वह वढ़ई जिसके पास गुनिया (वढ़ई का सिधाई देखने वाला औज़ार) नहीं है। निर्लज्ज है न्याय न देखने वाला राजा और गाँव जहाँ पानी न हो। निर्लज्ज है वह क्षत्री जो दयाहीन हो और वह साधु जो छैल-छबीला हो।

वंसी की वातें वड़ी कीमती थीं। कई वार मुझे आश्चर्य होता कि उसे अपना गाँव छोड़कर क्यों आना पड़ा, फिर मैं सोचता कि वह अपने गाँव में ही रहता तो उसके गाँव की आवाज़ मुझ तक कैसे पहुँचती।

मैं जिस भी गाँव में जाता वहाँ वंसी जैसा कोई आदमी तलाश करने की कोशिश करता।

फिर एकाएक मैंने शनिवार को गाँव जाने की वात ठप कर दी। मुझे लगा कि यह सब ज्ञान-गोदड़ी वटोरने का भी कोई विशेष अवसर होना चाहिए। मेरी कल्पना पर फिर से मूर्ति की मुखमुद्रा ने धावा वोल दिया।

आस-पास के गाँवों में देखे हुए चेहरों में मुझे एक भी चेहरा मूर्ति से मिलता-जुलता प्रतीत नहीं हुआ था। मैं खोया-खोया-सा रहने लगा। किसी-किसी दिन तो मुझे हजामत कराने का भी ध्यान न रहता। सुवह धुला हुआ पाजामा पहनने की वजाय रात को पहले दिन का उतारा हुआ पाजामा ही पहन लेता।

एक दिन मास्टर महँगाराम ने मुझे पास बुलाकर कहा, "बताओ, देव! आज नहाये थे या नहीं?"

मैंने कहा, "मास्टरजी, आज मैं देर से उठा। वक्त थोड़ा था। मैं नहाने की वजाय मुँह-हाथ धोकर ही तैयार हो गया।"

मास्टरजी वोले, "लड़को, अपने इस क्लास-फैलो की बात को नोट कर लो। मैं पूछता हूँ कि जो लड़का नहाकर नहीं आता वह ज्योमेट्री की प्रैपोज़ीशन कैसे हल करेगा?"

सब लड़के खिलखिलाकर हँस पड़े।

फिर एक दिन हैडमास्टर साहब ने 'स्टोरीज़ फ्राम टैगोर' पढ़ाते हुए इशारे से मुझे वैंच पर खड़ा होने का हुक्म दिया और पूछा, "क्या तुम्हारा इरादा वान-प्रस्थ लेने का है?"

मैंने कहा, "नहीं, मास्टरजी!"

"तो तुम आज शेव करके क्यों नहीं आये? या क्या तुम्हारा यह ख्याल है कि टैगोर को समझने के लिए दाढ़ी वढ़ाना ज़रूरी है?"

इस पर पिछले वैंचों से कहकहे गूँज उठे और ये कहकहे सामने वाले बैंचों पर वैठे हुए लड़कों के कहकहों में खो गये।

कई वार वोर्डिंग हाउस में किचन की घण्टी वज जाती और मुझे पता ही न चलता। मैं उस वक्त किचन में पहुँचता जव किचन वन्द हो रहा होता। मैं कहता, "पेट में चूहे कूद रहे हैं, भण्डारीजी!" मिन्नत-समाजत करने पर भण्डारी मुझे खाना खिलाने के लिए मजवूर हो जाता।

एक दिन वोर्डिंग हाउस के सुपरिंटैंन्डैण्ट साहव ने सुवह की सन्ध्या के वाद मुझसे पूछा, "तुम्हें आजकल शेव कराने का भी ध्यान नहीं रहता। क्या वात है?"

मैंने कहा, "मास्टरजी, मान लीजिए कि मैं दाढ़ी रख लूँ तो आपको इस पर क्या एतराज़ है ?"

मूर्ति को एक बार देख लेने के ख्याल ने मुझे पागल बना रखा था। गरमी की छुट्टियाँ करीब थीं। अभी दस दिन रहते थे। वैसे तो मैंने घर लिख रखा था कि फलाँ तारीख को छुट्टियाँ हो रही हैं और अगर उस तारीख को फत्तू सुबह के दस-ग्यारह तक घोड़ी लेकर आ जाय तो ठीक रहेगा। पर मैं दो-तीन दिन की छुट्टियाँ लेकर गरमी की छुट्टियाँ शुरू होने से पहले ही गाँव चला जाऊँ।

अब मुझे न राधाराम अच्छा लगता था, न प्यारेलाल, न खुशीराम, न बनारसीदास। मैं बंसी से मिलने की भी कोई ज़रूरत महसूस नहीं करता था।

मूर्ति का ख्याल ही जैसे मेरा ओढ़ना-बिछौना हो। मैं उड़कर गाँव में पहुँच जाना चाहता था। तूलिका लेकर मैं मूर्ति का चित्र अंकित करना चाहता था। पर मैं तो कोई चितेरा था, न कवि।

यदि मैं मूर्ति पर कोई कविता ही लिख सकता तो मैं यही सोचता कि यह मेरी लेखनी का काम नहीं तूलिका का काम है। मूर्ति निरी कल्पना की वस्तु तो न थी। कल्पना के चित्रपट पर तो उसकी मुखमुद्रा पहले से कहीं अधिक गम्भीर हो गई थी। जैसे मूर्ति कह रही हो—तुम न जाने किस-किस गाँव में घूमने के लिए जाते रहे, न जाने वहाँ से कैसे-कैसे गीत लिखकर लाते रहे; बंसी से न जाने कैसे-कैसे बोल सुनते रहे। और अब तुम्हें शेव कराने का भी ध्यान नहीं रहता ! तुम कैसे इन्सान हो ? या तो एक काम के पीछे पड़ जाते हो, या फिर ऐसी ढील देते हो जैसे उस काम से कभी दूर का भी सम्बन्ध न था ! बताओ तो तुम कैसे आदमी हो ? उड़ने पर तुल जाओ तो पंखों के बिना ही उड़ने लगो, तूलिका के बिना ही चित्र बनाने लगो ! और फिर दुनिया की सब दिलचस्पियों से मुँह मोड़कर, मन के सब वातायन बन्द करके, यह सब काम ठप करके एकाएक खामोश हो जाते हो, जैसे न तुम्हें पंख चाहिए, न रंग, न तूलिका !

छुट्टियों से पहली रात

"कल से हमारा स्कूल बन्द हो रहा है ! मैं अभी नोटिस बोर्ड पर यह खबर पढ़कर आ रहा हूँ।" राधाराम ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर यह खबर सुनाई।

मैं ख़ुशी से नाच उठा। डारमैट्री के दूसरे लड़कों ने सुना तो वे स्कूल के नोटिस बोर्ड पर छुट्टी की खबर पढ़ने के लिए दौड़ गये।

उसी समय ख़ुशीराम और प्यारेलाल आ गये। उन्होंने बताया कि आज स्कूल का आखिरी दिन है और कल से छुट्टियाँ हो रही हैं।

मैंने कहा, "एक हफ्ता पहले ही कैसे हो रही हैं छुट्टियाँ ?"

"अब यह तो हैडमास्टर का हुक्म है।" प्यारेलाल अपनी लम्बी ज़ुल्फ़ों को झटककर बोला, "तुम्हें क्या एतराज है, देव ? क्यों, तुम घर नहीं जाना चाहते ?"

"हमें तो खुश होना चाहिए, देव ! राधाराम ने मुझे झकझोरकर कहा, "गरमी की छुट्टियाँ आती हैं तो ख़ुशी के घुँघरू बज उठते हैं !"

मैंने कहा, "राधाराम आज तो कुछ हो जाय इस ख़ुशी में !"

"अभी नहीं, देव !" ख़ुशीराम ने चुटकी ली, "ख़ुशी की मजलिस तो आज रात को जमेगी। अभी तो स्कूल जाने की जल्दी है। हमें जल्द तैयार होकर स्कूल पहुँच जाना चाहिए।"

स्कूल पहुँचकर हमने देखा कि चारों तरफ़ ख़ुशी का सागर ठाठें मार रहा है। थोड़ी-थोड़ी देर के लिए हर मज़मून के मास्टर ने क्लास ली और छुट्टियों के लिए ढेर काम दे डाला। फिर स्कूल के हाल में स्कूल के तमाम लड़कों की मीटिंग हुई जिसमें हैडमास्टर साहब ने हमें उपदेश दिया, "हर लड़का यह प्रण लेकर अपने-अपने घर को जाय कि वह स्कूल का काम दिल लगाकर करेगा। कोई लड़का गाँव में जाकर ऐसी हरकत न करे जिससे स्कूल का नाम बदनाम हो। पढ़ाई से भी ज़रूरी यह बात है कि ज़िन्दगी में तहज़ीब आये। तहज़ीब के बिना तो ज़िन्दगी खण्डहर से भी गई-गुजरी हो जाती है। खण्डहर तो फिर भी अच्छे होते हैं, क्योंकि वे किसी तहज़ीब के अमानतदार होते हैं। ज़िन्दगी फूल की तरह खिलती है। इसमें ख़ुशबू रहनी चाहिए। यही खुशबू तहज़ीब कहलाती है।"

स्कूल से लौटकर हर लड़का गाँव जाने की तैयारी करने लगा। बहुत-से लड़के

शाम को ही चले गये। खुशीराम, राधाराम और मैंने फ़ैसला किया कि हम यह रात बोर्डिंग हाउस में ही गुज़ारेंगे।

प्यारेलाल की आँखों से यह बात टपकती थी कि वह नाटक और संगीत का रसिया है। इसीलिए हमारे साइंस मास्टर उसे बहुत पसन्द करते थे। रात को हमारी मजलिस जमी तो राधाराम ने कहा, "प्यारेलाल अब शुरू करो!"

"हाँ, हाँ!" खुशीराम ने शह दी, "वक़्त तो उड़ा जा रहा है। उमर ख़ैयाम ने अपनी एक रुबाई में क्या ख़ूब कहा है कि वक्त का पंछी पर तोल रहा है!"

"उमर ख़ैयाम को इस वक्त अपनी पिटारी में बन्द रहने दीजिए, खुशीराम जी!" राधाराम ने जोर देते हुए कहा, "हम तो प्यारेलाल की कला देखने के लिए इकट्ठे हुए हैं!"

प्यारेलाल हिरन की तरह उछलकर खड़ा हो गया और गाने लगा :

आरी आरी आरी
हेठ बरोटे दे
दातन करे कुआरी
दातन क्यों करदी
दन्द चिट्टे रखखण दी मारी
दन्द चिट्टे क्यों रखदी
सोहणी बणन दी मारी
सोहणी क्यों बणदी
प्रीत करण दी मारी
सुण लै हीरे नी
मैं तेरा भौर सरकारी![1]

यह गीत सुनते-सुनते मेरी कल्पना में मूर्ति की छवि सजीव हो उठी। पर मैं खुलकर तो यह बात किसी से नहीं कह सकता था। प्यारेलाल ने एकदम किसी ऐक्टर की तरह अभिनय करते हुए यह गीत सुनाया था जैसे सचमुच बरगद के नीचे कोई लड़की दातन कर रही हो।

राधाराम की काली आँखें चमक उठीं जैसे उसे भी अपनी किसी मूर्ति की याद आ गई हो। खुशीराम बोला, "मुहब्बत ही दुनिया में सबसे बड़ी चीज़ है। दूसरी बड़ी चीज़ है किताब। उमर ख़ैयाम ने ठीक कहा है कि आदमी किसी पेड़ के नीचे बैठा हो, पास साकी हो और हाथ में किताब हो, फिर कुछ नहीं

---

१. आरी, आरी, आरी, वट वृक्ष के नीचे कुमारी दातन कर रही है। वह दातन क्यों कर रही है? सफेद दाँत रखने के लिए। सफेद दाँत क्यों रखती है? सुन्दरी बनने के लिए। सुन्दरी क्यों बनती है? प्रीति करने के लिए। सुन ले, ओ हीर, मैं हूँ तेरा सरकारी भ्रमर।

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ उपन्यासों, प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं तो हमारे विशेष टेलीग्राम चैनल से जुड़ें और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

हमारे चैनल में आपको मिलेगा :

- ★ अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)
- ★ प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)
- ★ धार्मिक ग्रंथ और किताबें
- ★ विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य
- ★ बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)
- ★ और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खज़ाने

साहित्य और ज्ञान की इस अनोखी दुनिया का हिस्सा बनने के लिए

नीचे दिए गए Link पर Click करें !

HINDI BOOKS CHANNEL

(धार्मिक, आज़ादी, इतिहास…उपन्यास से संबंधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नयी, पुरानी किताबों के लिए)

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

https://t.me/Google_Ebooks

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

https://t.me/Hindilibrary

चाहिए !"

"महाशय जी, मैं कहता हूँ उमर ख़ैयाम को अभी यहाँ आने की तकलीफ़ न ही दें तो अच्छा होगा !" राधाराम ने कहकहा लगाते हुए कहा, "हाँ तो प्यारे-लाल, वह खारी वाला गीत भी हो जाय आज !"

प्यारेलाल ने आँखें मटकाते हुए गाना शुरू किया :

पिण्डाँ विच्चों पिण्ड छाँटिया
पिण्ड छाँटिया खारी
खारी दीयाँ दो कुड़ीयाँ छाँटीयाँ
इक्क पतली इक्क भारी
पतली ते ताँ खट्टा डोरीया
भारी ते फुलकारी
मत्था दोहाँ दा बाले चन्द दा
अक्खाँ दी जोत नियारी
भारी ने ताँ वियाह करा लिया
पतली रही क्रुआरी
आपे लै जूगा
जीहनूँ लग्गू पियारी ।[1]

खारी गाँव का यह चित्र जैसे किसी जादूगर ने कोई मन्त्र पढ़कर अंकित कर दिया हो। मोटे शरीर की लड़की का उसकी इच्छानुसार विवाह हो गया, पर उसके पतले शरीर वाली बहन अभी वहाँ कंवारी ही बैठी है— यह विचार अछूता था। मुझे लगा कि खारी और भड़ौद में कुछ भी अन्तर नहीं है। मेरे मन ने कहा कि मूर्ति भी पतले शरीर की लड़की है।

राधाराम बोला, "प्यारेलाल, लगे हाथ वह रूड़ा गाँव का गीत भी हो जाय !"

"वह भी लो !" कहते हुए प्यारेलाल गाने लगा :

पिण्डाँ विच्चों पिण्ड छाँटिया
पिण्ड छाँटिया रूड़ा
रूड़े दी इक्क कुड़ी सुणीदी
करदी गोहा कूड़ा

१. गाँवों में गाँव चुना, गाँव चुना खारी। खारी की दो लड़कियाँ चुनीं। एक पतली, एक भारी। पतली के सिर पर तो पीला दोपट्टा है, भारी के सिर पर है फुलकारी। दोनों का माथा है दूज के चांद-सा, आँखों की ज्योति भी निराली है। भारी ने तो ब्याह करा लिया, पतली कँवारी रह गई। वह स्वयं उसे ले जायगा जिसे भी वह प्रिय लगेगी।

हत्थीं ओहदे छल्ले छापाँ
बाँहीं ओहदे चूड़ा
रातीं रोंदी दा
भिज्ज गिया लाल पघूँड़ा।[1]

मूर्ति की कल्पना मेरे मन को छू गई। मुझे लगा कि वह भी मेरी याद में रात को रो-रोकर लाल पघूँड़े को भिगो डालती होगी।

फिर प्यारेलाल ने मटक-मटक कर अपना दिलपसन्द गीत शुरू किया जिसमें अनेक गाँवों के नाम पिरोये गये थे :

आरी आरी आरी
विच्च जगरावाँ दे
लगदी रोशनी भारी
मुनशी डाँगों दा
डाँग रखदा गंडासी वाली
केहरा गालबीया
ओह करदा लड़ाई भारी
अर्जुन चीमियाँ दा
ओह डाके मारदा भारी
मोदन कौंकियाँ दा
जीहने कुट्टती पंडोरी सारी
धनकुर दौधर दी
जेहड़ी वैलन हो गई भारी
मोलक कुट्ट सुट्टिया
कुट्ट सह गया जुण्डी दी सारी
मोलक सूरमे ने
हत्थ जोड़ के गण्डासी मारी,
परलों आ जाँदी
जे हुन्दी न पुलस सरकारी।[2]

१. गाँवों में गाँव चुना, गाँव चुना रूड़ा। रूड़ा गाँव की एक लड़की सुनने में आती है जो गोबर थापती है। उसके हाथों में हैं छल्ले-अँगूठियाँ, बाँहों में है चूड़ा। रात को रोते-रोते उसका लाल पघूँड़ा भीग गया।

२. आरी, आरी, आरी। जगराओं में रोशनी का बड़ा भारी मेला लगता है। डाँगों गाँव का मुंशी कुल्हाड़ी वाली लाठी रखता है। गालब गाँव का केहरा भारी लड़ाई करता है। चीमा गाँव का अर्जुन भारी डाके डालता है। कौंका गाँव के मोदन ने सारा पँडोरी गाँव पीट डाला। धनकुर दौधर की रहने वाली है, इधर वह बहुत बदमाश हो गई। मोलक पिट गया, उसने पूरी टोली की मार सह ली। मोलक सूरमे ने जोर से हाथ कसकर कुल्हाड़ी का प्रहार किया। प्रलय आ जाती, यदि सरकारी पुलिस न आ पहुँचती।

हम ताली बजा रहे थे। गीत के अन्तिम बोल पर तरह-तरह की भाव-भंगियाँ दिखाते हुए प्यारेलाल ने मोलक सूरमा का अभिनय कर दिखाया, जैसे वह हाथ कसकर कुल्हाड़ी का प्रहार कर रहा हो, जैसे पुलिस उसे रोक रही हो।

खुशीराम बोला, "कितने गाँवों के नाम, कितने आदमियों के नाम इस गीत में पिरोये गये हैं, यह देखकर हम हैरान रह जाते हैं। दौधर की रहने वाली धनकुर इस नामवली में एक बार जुगनू की तरह चमक कर खो जाती है, यह बात ज़रूर क़ाबिले एतराज़ है।"

मैंने कहा, "मुझे तो पुलिस की इतनी तारीफ़ नापसन्द है। मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं कि हमारे इलाके में इतने अधिक डाके डाले जाते हैं, या लड़ाई-दंगे में लोग हमेशा एक-दूसरे पर कुल्हाड़ी से ही हमला करते हैं, और अगर इन लड़ाई-झगड़ों में पुलिस हाथ न डाले तो लोग कट मरें। मेरा तो बल्कि यह विश्वास है कि पुलिस दर परदा उलटा डाके डलवाती है और दंगा करने वालों को शह देती है!"

"यह तुम्हारा भ्रम है, देव!" राधाराम ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "तुम्हारा तजरबा अभी बहुत कच्चा है। तजरबा भी खरबूजे की तरह पका हुआ होना चाहिए!"

"भई वाह।" खुशीराम ने प्रशंसा-भरे स्वर में कहा, "यह तशबीह भी खूब रही। यह तशबीह तो हमारे उमर ख़ैयाम और ग़ालिब को भी नहीं सूझ सकती थी।"

चुहलें होती रहीं। गीतों के बीचों-बीच तरह-तरह के मज़ाक सुरंग खोद कर आगे बढ़ते रहे।

हमारे बोर्डिंग हाउस के चौकीदार बंसी ने आकर बताया कि रात के बारह बज चुके हैं और सुप्रिटेंडेंट साहब हमारा शोर सुनकर नाराज़ हो रहे हैं।

प्यारेलाल ने तजुर्बेकार मदारी की तरह आँखें मटकाकर कहा, "पैसा हज़म, खेल खत्म!"

राधाराम ने कूल्हे मटकाते हुए एक सफल डायरेक्टर की तरह कहा, "अब यह खेल छुट्टियों के बाद खेला जायगा, बंसी! अब हम सोयेंगे।"

बंसी हँसता हुआ सुप्रिटेंडेंट के क्वार्टर की तरफ़ चला गया।

बग़लोल

मोगा से घर के लिए चलते समय मेरे सामने यह समस्या अवश्य थी कि बद्धनी से घर के लिए सवारी का क्या प्रबन्ध होगा। मेरे पास पुस्तकों का बोझ न होता तो मैं पैदल ही चलकर बद्धनी से भदौड़ पहुँच सकता था। छुट्टियाँ एक हफ़्ता पहले ही हो गई थीं। घर पर मैंने पत्र लिखकर पहले के हिसाब के मुताबिक सूचना दी थी कि किस दिन छुट्टियां हो रही हैं और पिताजी ने लिखा था कि संयोग से उस दिन सरदार गुरुदयालसिंह का रथ सवारी लेकर बद्धनी आ रहा है, वापसी पर वही मुझे भदौड़ लेता आयेगा। अब फिर से सूचना देने का मतलब था तीन-चार दिन यहीं गँवा देना। इसलिए सुबह सात बजे मोगा से इक्के में बैठकर मैं दस बजे बद्धनी जा पहुँचा।

बद्धनी में इक्कों के अड्डे पर उतरकर घर पहुँचने की समस्या अपने यथार्थ रूप में सामने आई। मोगा से चलते समय तो मैंने सोचा था—जैसी स्थिति होगी सामना करूँगा? आख़िर कोई मेरा पथ-प्रदर्शन कब तक करता रहेगा? अब मैं बच्चा तो नहीं हूँ। आख़िर मुझे भी बात करने का ढंग आता है। अपनी बात दूसरों से कैसे मनवानी चाहिए, यह कला तो मुझे बाबाजी से विरसे में मिली है। बद्धनी पहुँचकर मैं किसी इक्के वाले से कहूँगा तो वही मुझे भदौड़ पहुँचा देगा। कच्चा रास्ता है तो क्या हुआ? जिस रास्ते पर रथ चल सकता है, उस पर इक्का क्यों नहीं चल सकता? पर अब बद्धनी में इक्कों के अड्डे पर जिस इक्के वाले से भी बात की वही हँस दिया।

इक्के का ख़्याल छोड़कर मैंने यह कोशिश की कि कहीं से किराये पर घोड़ा मिल जाय। बहुत पूछ-ताछ करने पर पता चला कि आज घोड़ा नहीं मिल सकता।

एक इक्के वाले ने कहा, "गधा क्यों नहीं ले लेते किराये पर? सस्ता भी रहेगा। सामान लाद लीजिए और पैदल चले जाइए।"

मैं तो हर सूरत में उसी दिन भदौड़ पहुँच जाना चाहता था। यह राय मुझे पसन्द आई।

जब गधे की तलाश शुरू की, तो पता चला कि एक गधी तो मिल सकती है,

गधा नहीं । "मुझे क्या फ़र्क़ पड़ता है ?" मैंने कहा, "गधी ही ठीक है ।"

किराया तै हो गया और एक बजे के करीब मैं बढ़नी के बारू कुम्हार की सफ़ेद गधी पर किताबें लादकर भदौड़ के लिए चल पड़ा । बारू ने पूछते ही कहा, "मेरी गधी तो घोड़ी से भी तेज़ चलेगी ।"

शुरू में तो गधी सचमुच बहुत तेज चली । फिर उसकी रफ़्तार धीमी पड़ती गई । बारू जितना भी उसे हाँकने की कोशिश करता उतना ही वह अटक-अटककर चलने लगती, पीछे की तरफ़ दोलत्ती उठाती और बुरी तरह रेंकने लगती ।

बढ़नी से राऊके होते हुए तख़्तूपुरे तक साढ़े पाँच कोस का फ़ासला बड़ी मुश्किल से तै किया । मैंने कहा, "गधी को इतना मारो मत, बारू ! नहीं तो वह बिल्कुल नहीं चलेगी ।"

"चलेगी कैसे नहीं ?" बारू ने उसी समय गधी की पिछली टाँगों पर डंडा मारकर कहा, "चलेगी नहीं तो हम तलवण्डी कैसे पहुँचेंगे ?"

अभी हम तख़्तूपुरा और तलवण्डी के बीच में थे । सहसा मुझे ख़्याल आया कि तलवण्डी भी कितना अच्छा नाम है । एक तलवण्डी वह थी जहाँ गुरु नानक का जन्म हुआ था, एक तलवण्डी मेरे ननिहाल बड़्डाबर से कुछ फ़ासले पर थी जहाँ मेरी मौसी रहती थी, और एक तलवण्डी थी बीहली और तख़्तूपुरे के बीच ।

गधी बार-बार रेंकने लगती, जैसे कह रही हो—बारू ! आज मुझे कहाँ लिए जा रहे हो ?

बारू मेरा मन रखने के लिए कोई कहानी छेड़ देता । मैं सोचता कि आज की यह यात्रा भी याद रहेगी ।

तलवण्डी के घर दूर से नज़र आ रहे थे । गधी भी जैसे ज़िद पर तुल गई कि अब आगे नहीं बढ़ेगी । बारू के डंडों ने उसे नाराज़ कर दिया था ।

मैंने बारू के हाथ से डंडा ले लिया और उसे सलाह दी कि वह अपनी गधी को पुचकार कर आगे ले चले, नहीं तो हम आज भदौड़ नहीं पहुँच सकेंगे ।

पहले तो गधी ने रेंककर अपनी शिकायत दोहराई—मुझ पर बोझ भी लादते हो और मेरी टाँगों पर डंडे भी लगाते हो !···फिर उसके रेंकने का स्वर धीमा पड़ गया, जैसे कह रही हो—अच्छा तो मैं चलती हूँ ! अब मुझे कुछ न कहना ।

गधी के पीछे-पीछे बारू चला जा रहा था । उसके चेहरे पर खसखसी-सी दाढ़ी मुझे अपने बाबाजी की याद दिला रही थी । उम्र के लिहाज से तो बारू उनसे आधा भी नहीं था ।

बारू के पीछे-पीछे मैं चल रहा था । मैंने कहा, "बारू ! कोई मज़ेदार कहानी सुनाओ । मेरा मतलब है कोई ऐसी कहानी जिसमें गधे का ज़िक्र आता हो ।"

बारू ने ज़ोर का कहकहा लगाया । फिर वह हँसी को रोककर बोला,

"अच्छा तो सुनो। मैं एक कहानी सुनाता हूँ। एक आदमी का व्याह एक ऐसी लड़की से हुआ जिसे यह सराप मिला हुआ था कि अगर उसका पति उसे देख लेगा तो वह गधा बन जायेगा। व्याह के बाद वह आदमी मुकलावे[1] के लिए ससुराल पहुँचा तो वह अपनी पत्नी को देखने के लिए बुरी तरह ललचा रहा था। उसकी पत्नी चाहती थी कि वह उसके सामने न आये। लेकिन अचानक उसने अपनी पत्नी को देख लिया, उसी वक्त वह आदमी गधा बनकर पास ही घास चरने लगा। उसकी पत्नी ने सारे मामले को भाँपकर यह फैसला किया कि वह अब जीते-जी अपने पति की सेवा से मुँह नही मोड़ेगी। वह उस गधे को लेकर तीर्थ यात्रा पर निकली। सबसे पहले वह जिस नगर में गई वहाँ के नगर सेठ ने एक तालाब खुदवाया था। उस तालाब में पानी नहीं ठहरता था। नगर सेठ को इस बात की हमेशा चिन्ता रहती थी। एक दिन नगर सेठ को सपने में देवी ने बताया कि यदि कोई पतिव्रता स्त्री अपने हाथ से उस तालाब में एक घड़ा जल डाल दे तो वहाँ जल ही जल हो जायगा। नगर सेठ बहुत खुश हुआ। सारे नगर की स्त्रियों से कहा गया कि वे बारी-बारी उस तालाब में एक-एक घड़ा पानी डाल दें। सबने ऐसा ही किया। पर तालाब में पानी सूख गया। अब नगर सेठ को और भी चिंता हुई। उसे महसूस हुआ कि उसके नगर में एक भी पतिव्रता स्त्री नहीं है। फिर एक दिन सपने में देवी ने नगर सेठ को बताया, 'तुम्हारे तालाब के पास एक झोंपड़ी में एक स्त्री अपने गधे के साथ रहती है। वही स्त्री तुम्हारे इस नगर की एकमात्र पतिव्रता नारी है।' दूसरे दिन नगर सेठ ने उस स्त्री से कहा कि वह अपने हाथ से एक घड़ा पानी डाल दे। पहले तो देर तक वह स्त्री आना-कानी करती रही। फिर नगर सेठ के बहुत कहने-सुनने पर वह मान गई। तालाब में एक घड़ा जल डालते समय उस स्त्री ने देवी की वन्दना करते हुए कहा, 'मेरी लाज रख लो और तालाब को पानी से भर दो, देवी माता!' देखते-ही-देखते तालाब पानी से भर गया। नगर सेठ ने खुश होकर उस स्त्री को धन देने की बहुत कोशिश की, लेकिन उसने साफ़ इन्कार कर दिया। जब वह तालाब से लौटकर अपनी झोंपड़ी में पहुँची तो उसने देखा कि एक खूबसूरत आदमी वहाँ बैठा है। यह आदमी उसका पति था—हू-ब-हू वैसा ही जैसा गधा बनने से पहले था।"

मैंने कहा, "तुम्हारी कहानी तो बहुत मजेदार है, बारू! अब यह भी तो हो सकता है कि किसी स्त्री ने ही किसी देवी के श्राप से गधी का रूप धारण कर लिया हो। इसलिए अब तो तुम कसम उठाओ कि कभी अपनी गधी की टाँगों पर डंडा नहीं मारोगे।"

बारू देर तक हँसता रहा। मैं एकाएक मूर्ति के ध्यान में खो गया। हम तल-

---

१. मुकलावा = गौना।

बण्डी को पीछे छोड़ आये थे। अब तो बीहली भी पीछे रह गई थी। भदौड़ के ऊँचे किले हमें दूर से नज़र आ रहे थे।

मैं बहुत थक गया था। मैंने कहा, "अब तो एक कदम भी नहीं चला जाता, बारू !"

उसने कहा, "तुम सवारी पर बैठ जाओ न !"

मैं बहुत हिचकिचाया। लेकिन थकन के मारे बुरा हाल था। बारू ने आराम से गधी के सामने होकर उसे रोका और मुझसे कहा, "वैसे ही उछलकर बैठ जाओ न जैसे घोड़ी पर बैठते हैं !"

कोई और समय होता तो मैं कभी गधी पर सवार होना पसन्द न करता, मेरे पैर चलने से जवाब दे रहे थे। मैं झट गधी पर सवार हो गया। गधी जरा भी न डोली, जरा भी न रेंकी, आराम से चलने लगी।

किताबों का बोझ इतना तो न था कि आदमी सवारी न कर सके। मुझे लगा कि मैं अब तक ख़्वाह-म-ख़्वाह एक मूर्ख की तरह पैदल चलता आया था, मुझे तो बद्धनी से ही इस सवारी का लाभ उठाना चाहिए था।

शाम उतर रही थी। मैंने सोचा कि नहर के पुल तक तो मैं मज़े से इस सवारी का लाभ उठा सकता हूँ, पुल से थोड़ा इधर उतर जाऊँगा ताकि गाँव का कोई आदमी मुझे देख न ले।

मैंने वैसा ही किया। पुल से थोड़ा इधर ही मैं गधी से उतर गया। पैर कह रहे थे कि यह शर्म झूठी है, पहले अपने जिस्म का आराम होता है, फिर कुछ और।

जब हम भदौड़ के बाहर नहर के पुल पर पहुँचे तो सात बज चुके थे। घर के सामने पहुँचकर मैंने बारू को रोक दिया और गधी से मैं सामान उतरवाने लगा। इतने में भाभी धनदेवी आ पहुँची।

"तुम्हें यह गधी कहाँ मिल गई, देव !" भाभी ने पूछा।

मैंने कहा, "भाभी, छुट्टियाँ एक हफ़्ता पहले ही हो गईं। बद्धनी से जो सवारी भी हाथ आई उसी पर चल पड़ा।"

"तो इसका मतलब है तुम गधी पर चढ़कर आये हो ?"

"नहीं, भाभी !"

भाभी ने हँसकर कहा, "सच-सच बताना बाबा कि हमारा देव गधी पर सवार हुआ था या नहीं ?"

"बीहली निकलकर वह कोई आधे कोस तक ज़रूर गधी पर सवार हुआ था, माई जी !" बारू ने दबी ज़बान से कहा।

"तुम वही बग़लोल के बग़लोल रहे, देव !" भाभी ने कहकहा लगाया।

मिट्टी की रोटियाँ, तिनकों का हल

भक्तजी की बदली होने के कारण मूर्ति उनके साथ चली गई थी। कई बार मैं उस गली में चला जाता जहाँ भक्तजी रहा करते थे। उस गली की कोई लड़की मूर्ति की क्षतिपूर्ति तो न कर सकती थी।

आसासिंह के साथ मैं अकसर खेतों में निकल जाता। कई बार हम नहर के पुल पर जा बैठते जहाँ जल ऊँचाई से गिरता था और जलप्रपात का दृश्य उपस्थित हो गया था, समीप का वट वृक्ष मुझे प्रिय था जिसे मैं बचपन से जानता था, जिसके तन पर मैं उसकी आयु के चिह्न पढ़ सकता था, जिसकी जटाएँ मुझे आत्मीयता का संदेश देती थीं।

जब से मैं मोगा से आया था, बाबाजी के पास एक दिन भी जमकर नहीं बैठ सका था। अब वे तिरानवे वर्ष के थे। उनकी निगाह पहले से कमज़ोर हो गई थी और वे बैठक में ही तकिये के सहारे बैठे रहते थे। नहर के समीपवर्ती वट-वृक्ष को देखकर मुझे लगता कि यह भी हमारे बाबाजी जैसा एक बुज़ुर्ग है।

सूर्योदय और सूर्यास्त का दृश्य नहर के पुल पर बैठकर देखना मुझे बहुत पसन्द था। चाँदनी रात में पुल पर बैठने का भी कुछ कम मज़ा नहीं था।

आसासिंह मूर्ति की बात लेकर मुझे छेड़ने लगता, पर मैं चुटकी में ही उसकी बात को उड़ा देता और अपने चेहरे पर इसकी प्रतिक्रिया का कोई चिह्न न उभरने देता।

बाबाजी कई बार अख़बार सुनाने की फ़रमाइश करते, लेकिन मैं कहता, "विद्यासागर से सुन लो अखबार, बाबाजी ! मैं ज़रा बाहर जा रहा हूँ।"

विद्यासागर झट कहता, "साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते कि आसासिंह के पास जा रहे हो, देव !"

मोगा से चलते समय मैंने सोचा था कि मास्टर केहरसिंह से छन्द सीख कर मूर्ति की प्रशंसा में अपनी पहली कविता की रचना करूँगा। अब तो मेरा कवि बनने का उत्साह खत्म हो गया था। हर समय मेरे सम्मुख धुआँ-धुआँ-सा रहता। मेरे सामने कोई ऐसी चीज़ न थी जिसे मैं दृढ़ता से पकड़ सकता। ले-देकर आसासिंह ही मेरा सबसे बड़ा आधार था।

एक दिन आसासिंह ने मुझे छेड़ते हुए कहा, "वहाँ मूर्ति भी तुम्हारे ग़म में घुली जा रही होगी।"

मैंने कहा, "तुमने यह ज्योतिष कब से सीख लिया, आसासिंह ?"

मूर्ति की ओर से अपना ध्यान हटाकर मैं आसासिंह के गीत सुनने लगता। गीत की छोटी-बड़ी गलियाँ हमें प्रिय थीं। आसासिंह को भी अब 'हीर' से कहीं अधिक गीत की गलियों में घूमने में रस आता था। मेरी बाँह पकड़कर वह मुझे घुमाता रहता। मुझे भी इसमें रस आता। गीत की गलियों में हम अछूते चित्र देखते। जीवन की अनेक सुखद स्मृतियाँ हमारा मन मोह लेतीं।

किसी गीत के स्वर-चिह्नों पर चलते हुए मैं एक आध बोल रचकर गुन-गुनाता तो आसासिंह कहता, "कविता रचना इतना आसान नहीं है, देव ! इसके लिए तो तुम्हें मास्टर केहरसिंह का शिष्य बनना होगा।"

"आदमी अपना गुरु स्वयं भी तो बन सकता है, आसासिंह !" मैं चुटकी लेता।

आसासिंह को हँसी आ जाती। वह हमेशा यही कहता, "गुरु के बिना तो इन्सान आगे नहीं बढ़ सकता।"

वर्षा के दिन थे। हम खेतों में घूमते हुए भीग जाते। एक दिन हमने किसी को गाते सुना :

उरले पासे मींह वरसेंदा
परले पासे न्हेरी
सौण दिया बद्दला वे,
मुड़ के हो जा ढेरी।[1]

"कितना अच्छा चित्र है, देव !" आसासिंह बोला, "प्रेम की तुलना कहीं मेंह से की जाती है तो कहीं आँधी से; हर किसी का प्रेम एक-सा तो नहीं होता।"

मैंने कहा, "और हर कवि की कविता भी तो एक-सी नहीं होती, आसासिंह !"

"लेकिन यह 'सावन का बादल' भी मुलाहिज़ा हो !" आसासिंह ने कहा, "प्रेमी को ही यहाँ सावन का बादल कहा गया है, देव !"

"यह रंग तो वारसशाह में भी नहीं मिलेगा, आसासिंह !" मैंने चुटकी ली।

"यह तो न कहो, देव !" आसासिंह बोला, "वारसशाह तो कोई महाकवि था। जानते हो हीर की रचना के बाद वारसशाह के गुरु ने अपने शिष्य के मुख से हीर सुनकर क्या कहा था ? वारसशाह के गुरु ने कहा था—वारस ! तुमने मूँज की रस्सी पर मोती पिरो दिये।"

---

१. इस पार मेंह बरस रहा है। उस पार आँधी उठ रही है। ओ सावन के बादल, मुड़कर ढेर हो जाओ।

"वारसशाह के गुरु को पंजाबी भाषा इतनी ही नापसन्द थी?" मैंने झट पूछ लिया।

"यह तो मास्टर केहरसिंह ही बता सकते हैं!" आसासिंह ने उत्तर दिया।

"केहरसिंह को ये सब इतनी पुरानी बातें याद हैं?"

"अरे भई, याद न होतीं तो मास्टरजी शब्दकोश कैसे लिखने बैठ जाते?"

उस दिन हमारा कार्यक्रम गिद्धा नृत्य में सम्मिलित होने का था। हम बहुत जल्द पहुँच जाना चाहते थे। पास ही मास्टर केहरसिंह के भाइयों के खेत थे। इन्हीं खेतों के उधर वाले सिरे पर एक कच्चा कोठा था जहाँ मास्टरजी अपना शब्दकोश तैयार कर रहे थे।

समीप ही नहर से थोड़ा हटकर वृक्षों की पंक्ति से सटी हुई खुली जगह थी जहाँ कोई पचास-साठ युवक गिद्धा नाच में संलग्न थे। जब हम वहाँ पहुँचे, तो यह देखकर हैरान रह गये कि मास्टर केहरसिंह भी गिद्धे के घेरे में खड़े ताली बजाकर रस ले रहे हैं। उनके पास हम भी घेरे में जा घुसे। मास्टरजी के एक तरफ मैं था, दूसरी तरफ आसासिंह। "आइए, आइए!" मास्टरजी ने हमें देखते हुए कहा, और फिर गिद्धा में खो गये।

"कोई नया गीत शुरू किया जाए!" मास्टरजी ने खुशी से उछलकर कहा।

पास खड़े एक युवक ने गीत शुरू किया :

ग़म ने खा लई, ग़म ने पी लई
ग़म दी बुरी बीमारी
ग़म ताँ हड्डा नूँ एओं खा जाँदा
जिओं लकड़ी नूँ आरी
कोठे चढ़ के वेखण लग्गी
लद्दी जाण वपारी
छुट्टी आ मुण्डिया
हत्थ बन्ह अर्ज़ गुजारी!'[1]

आसासिंह और मास्टर केहरसिंह मस्त थे। उन्हें यह चिन्ता न थी कि मैं क्या सोच रहा हूँ।

सहसा मास्टर केहरसिंह ने एक गीत आरम्भ किया :

मैं सी ओदों इक्क दो साल दा
तूँ सी ओदों जनमी

---

१. गम ने मुझे खा लिया; गम ने पी लिया। गम की बीमारी बहुत बुरी है। गम तो हड्डियों को यों खा जाता है जैसे लकड़ी को आरी खा जाती है। कोठे पर चढ़कर देखने लगी। व्यापारी चले जा रहे थे। छुट्टी पर आ जा, ओ लड़के! मैं हाथ बाँधकर अर्ज कर रही हूँ।

आपाँ दोवें खेडन चल्लीए
चल्लीए थोड़े घर नी
तूँ मिट्टी दीयाँ रोटीयाँ पकाईं
मैं डक्खियाँ दा हल नी
मन्न पै तेजकुरे,
मैं हत्थ लावाँ चरणीं ![1]

मैं तो अपनी ही तेजकौर के लिए तड़प रहा था, हालाँकि मेरी तेजकौर मेरी बचपन की सखी न थी, जैसा कि इस गीत में अंकित किया गया था।

"आपने तो कमाल कर दिया, मास्टरजी !" आसासिंह ने उछलकर कहा।

इतने में बूँदा-बाँदी शुरू हो गई। गिद्धा वहीं समाप्त कर दिया गया। सब युवक अपने-अपने ठिकानों की ओर भाग निकले।

"आओ ज़रा हमारे कोठे में चलें।" मास्टरजी ने मुझे और आसासिंह को साथ लेते हुए कहा।

अपने कोठे में मास्टरजी हमें अपने शब्दकोश की हस्तलिखित प्रति दिखाते हुए बोले, "अभी यह शब्दकोश अधूरा है, देव !"

"अभी और कितनी देर लगेगी, मास्टरजी ?"

"यह कोई एक-आध दिन का कार्य नहीं है।"

मुझे विश्वास नहीं आ रहा था कि तेजकौर वाला गीत शब्दकोश वाले मास्टरजी ने ही गाया था।

घर आते हुए उस दिन हम बुरी तरह भीग गये। रास्ते में ही मुझे ठण्ड लगने लगी।

मैं कई दिन तक मलेरिया से बीमार रहा। तीसरे दिन ज्वर चढ़ता तो मेरे प्राण विकल हो उठते। ज्वर के कारण मैं आसासिंह के साथ घूमने की लालसा को दबाकर रखने के लिए मजबूर था। कभी मुझे मास्टर केहरसिंह का ध्यान आता, जैसे वे अपने शब्दकोश पर झुके बैठे हों, जैसे वे सोच रहे हों कि स्कूल की नौकरी छुट गई तो क्या हुआ शब्दकोश के सम्पादक के रूप में तो उनका नाम अमर हो जाएगा, जैसे वे कहना चाहते हों कि उन्हें तो लिखना-पढ़ना ही प्रिय है और आजन्म ब्रह्मचारी रहने का उनका प्रण उनके प्राणों के साथ ही जाएगा।

मैं बैठक में पड़ा रहता। खिड़की से गली में चलने वालों को देखने लगता।

---

१. मैं था उस समय एक-दो साल का, तेरा उस समय अभी जन्म ही हुआ था। चलो हम दोनों खेलने चलें। चलो तुम्हारे घर चलें। तू पकाना मिट्टी की रोटियाँ, मैं चलाऊँ तिनकों का हल। मान भी जा, तेजकौर ! मैं तेरे चरणों को हाथ लगाता हूँ।

ताई गंगी की गालियाँ सुनने लगता जो सावन की रिमझिम के समान ही उसके बच्चों पर बरसती रहतीं।

मेरा ज्वर टूटने में ही नहीं आ रहा था। बाबाजी मेरे पास बैठे रहते। इधर वे खामोश रहने लगे थे। मैं चाहता था कि वे मेरे साथ बात करें। मैं उनसे बात करूँ, इतनी मुझमें हिम्मत न थी। कई बार जब ज्वर तेज़ हो जाता तो मैं सोचता कि शायद मैं बाबाजी को छोड़कर चल दूँगा, क्योंकि यह ज़रूरी नहीं है कि पहले बुड्ढे लोग ही दुनिया से कूच करें।

खाट पर पड़े-पड़े हमारे बोर्डिंग हाउस के चौकीदार बंसी का चित्र मेरी आँखों में घूम जाता। छुट्टियों से पहली रात वह हमारे पास यह कहने आया था कि हमारा शोर सुनकर सुप्रिन्टेन्डेन्ट साहब नाराज़ हो रहे हैं। अगले दिन जब मैं बद्धनी के लिए चलने से पहले राधाराम और प्यारेलाल के साथ मज़ाक कर रहा था, तो बंसी ने आकर कहा था, "बाबू, इतना न हँसो, नाहीं तो पीछे रोना परत। अबहीं हँसत तो फिर रोबो। ई जो गीत्त गावत हो, एक दिन बन्द होई जाये। आँख से पानी बनके बह जइहैं ई गीत, फिर हाथ न अईहैं। आज हमहूँ अपने गाँव राम-पुर जावे। तुम तीन जने हमार साथ चलो। वहाँ मौज कराऔबे, गीत सुनऔबे, नाच दिखऔबे और अच्छे-अच्छे आदमी से भेंट करऔबे। हमरा मन कहत है बाबू कि जब तुम लोग हमार गाँव देख लेवो तब तुम्हार मन आवे क न कहे। उमर-भर तुम सब ही रायपुर माँ रहे। हमहूँ रायपुर माँ रहबो। यहाँ चौकीदारी करे न आउब। पुतली की शादी करब। फिर हमें कोई फिकर न रहे। बोलो बाबू, राय-पुर चलबो कि नाहीं ?"

बंसी की बातें याद करते मैं विभोर हो जाता। एक दिन आसासिंह मुझे मिलने आया तो मैंने उसे बंसी की बातें सुनाईं। वह बोला, "ये पूरबिये बातें तो बहुत मीठी-मीठी करते हैं। लेकिन ये लोग मलाई की बरफ़ बहुत महँगी बेचते हैं। याद है न तेजराम पूरबिया जो हमारे स्कूल में मलाई की बरफ़ बेचने आया करता था।"

मैंने कहा, "अब न जाने कहाँ होगा तेजराम !"

"किसी और स्कूल के लड़कों को लूट रहा होगा !" आसासिंह ने हँसकर कहा, "ये लोग या तो किसी स्कूल के नज़दीक मलाई की बरफ़ बेचा करते हैं या फिर किसी स्कूल के बोर्डिंग हाउस के चौकीदार बन जाते हैं।"

आसासिंह का यह मज़ाक उस समय मुझे बिल्कुल अच्छा न लगा। उसकी बातों से ऊबकर मैं कई बार बाबाजी की तरफ़ देखने लगता जो यों प्रतीत हो रहे थे जैसे तिरानवे वर्षों ने अपना रूप एक मूर्ति में ढाल लिया हो, जैसे किसी चट्टान को छील-छील कर किसी मूर्तिकार ने यह मूर्ति बनाई हो। उनके माथे की झुर्रियों पर जैसे समय ने गहरा हल चला दिया हो।

आसासिंह चला गया तो मेरी कल्पना में मास्टर केहरसिंह का चेहरा घूम गया। मैंने सोचा कि जो आदमी लड़कों को अपने भारी डण्डे से पीट सकता है वही वह गीत भी गा सकता है—बचपन की प्रेमिका का वह गीत जिसमें वह उसके मिट्टी की रोटियाँ पकाने और साथ ही अपने तिनकों का हल चलाने की याद दिलाता है।

द्वार खुल गया

मेरा ज्वर टूटा तो पहली खुशख़बरी यह सुनने को मिली कि जयचन्द का ब्याह पक्का हो गया।

एक दिन मेरा छोटा भाई विद्यासागर बोला, "पहला नम्बर जयचन्द का है, दूसरा मित्रसेन का, तीसरा तुम्हारा और मेरा तो चौथा नम्बर है। अभी तो पहले दो नम्बरों में से ही एक भुगत रहा है।"

विद्यासागर यह कहकर बाहर भाग गया।

जयचन्द का हँसमुख स्वभाव मुझे प्रिय था। वह अब भदौड़ में ही रहता था और एक किले में मुलाज़िम हो गया था। उसे बन-ठनकर रहने का ढंग आता था। मैं सोचता कि जयचन्द तो दूर-दूर तक हो आया है, मुझे तो उन सब स्थानों के नाम भी याद नहीं हैं जहाँ वह घूम आया है। उसकी सगाई का प्रबन्ध बड़ी मुश्किल से हो पाया था।

पिताजी का यह प्रण था कि पहले उनके बड़े भाई के लड़के का विवाह होना चाहिए, उससे पहले मित्रसेन की सगाई की बात तो उठ ही नहीं सकती। उधर बरनाला वाले चाचा पृथ्वीचन्द्र ने पिताजी को यह राय दी थी कि जयचन्द के विवाह का विचार सिरे से गलत है, क्योंकि आज नहीं तो कल जयचन्द फिर कहीं भाग जाएगा और वह हर्गिज उस लड़की का भार नहीं सँभाल सकेगा जो उसके गले मढ़ी जाएगी।

पिताजी कभी चाचाजी की बात से सहमत न हुए, वे तो यही कहा करते थे, "मेरे भाई का बेटा पहले है, मेरा बेटा पीछे।" चाचाजी कहते, "मित्रसेन की उम्र भी बड़ी हो रही है। जयचन्द का विवाह तो होगा नहीं, मित्रसेन भी विवाह से रह जाएगा।" पिताजी पर तो यही भूत सवार था कि जयचन्द का विवाह किये बिना विवाह का मुहूर्त्त हो ही नहीं सकता।

जब भी मित्रसेन की सगाई के लिए कहीं से कोई पुरोहित शगन लेकर आता, पिताजी कहते, "जयचन्द के लिए यह शगन देते जाइए, पुरोहितजी, मित्रसेन के लिए नहीं!" और पुरोहितजी वैसा-का-वैसा मुँह लेकर लौट जाते।

जयचन्द का विवाह पक्का करने के लिए माँ जी ने भी कुछ कम कोशिश नहीं

की थी। कई बार वे चोटियाँ कलाँ हो आई थीं, जहाँ से वे अपनी बुआ के लड़के की लड़की का रिश्ता लाने के लिए अपने मुँह से तो कभी न कहतीं, लेकिन अन्य सम्बन्धियों से कई बार कहलवा चुकी थीं। बड़ी मुश्किल से वे लोग रिश्ता करने के लिए तैयार भी हुए, पर किसी सम्बन्धी ने उनसे कह दिया कि जयचन्द को तो भदौड़ वालों ने 'बेदावा' लिखवा रखा है।

चोटियाँ कलाँ से एक पुरोहितजी भदौड़ आये। पिताजी और माँ जी चोटियाँ कलाँ में ही जमे रहे। पुरोहित जी अपनी तसल्ली करके वापस चोटियाँ कलाँ पहुँचे। पुरोहितजी की तसल्ली कराने का श्रेय बाबाजी को था। चोटियाँ कलाँ से जयचन्द के लिए शगन मिल गया।

अब तो पिताजी जयचन्द के विवाह के लिए वस्त्र सिलवा रहे थे, गहने बनवा रहे थे। इस साल पिताजी को ठेकेदारी के काम में अच्छी आमदनी हुई थी और वे दिल खोलकर खर्च करने पर तुल गए।

जयचन्द का विवाह समीप था। बाबाजी बार-बार कहते, "यह मेरा सौभाग्य है कि मैं जयचन्द का विवाह देखकर ही इस दुनिया से आँखें बन्द करूँगा। मैं तिरानवे साल तक जी लिया। वैसे तो यही काफ़ी है।"

बारात के साथ बरनाला वाले चाचा पृथ्वीचन्द्र भी सम्मिलित हुए, लेकिन नीची आँखों से। बाबाजी बुढ़ापे के बावजूद बारात में सम्मिलित होने की इच्छा को दबाकर न रख सके।

सबसे ज्यादा खुश था विद्यासागर, जो चोटियाँ कलाँ पहुँचने पर बारातघर में हर किसी से यही कहता फिरता था, "रात को मैं 'फेरे'[1] ज़रूर देखूँगा।"

बारात सुबह-सुबह चोटियाँ कलाँ पहुँची थी और उसी रात 'फेरे' होने थे। विद्यासागर दोपहर को ही सो गया। शाम को मैंने उसे जगाया तो उसने आँखें मलते हुए कहा, "रात है या दिन?"

मैंने कहा, "अब तो सूरज निकलने वाला है।"

"तो मुझे फेरे क्यों न दिखाये?"

"फेरे देखने थे तो तुम सो क्यों गये थे?"

सबने यही कहा कि सुबह होने वाली है। विद्यासागर रोने लगा। मुझे उसके रोने का बड़ा मज़ा आया। मैं उसके बचपन में अपना बचपन देख रहा था।

मैंने कहा, "अभी तो रात हुई है और फेरे तो दस बजे होंगे।"

"तो मुझे ज़रूर ले चलना, देव!" विद्यासागर आँखें पोंछते हुए बोला।

"ज़रूर ले चलेंगे!" मैंने कहा, "लेकिन तुम सो मत जाना।"

फेरों के समय से पहले ही विद्यासागर फिर सो गया और वह फेरे न देख

---

१ विवाह-संस्कार।

भोर का तारा

गरमी की छुट्टियाँ खत्म हो रही थीं। घर में नई भाभी आ चुकी थी। भाभी धनदेवी और दयावन्ती तो हमारी बिरादरी की थीं। उनका घर तो अलग था। हमारे घर में तो मेरी कोई भाभी न थी। अब भाभी द्रोपदी की पायलों की झंकार हर वक्त मेरे कानों में गूँजती रहती। मैं सोचता कि छुट्टियों के शुरू में ही जय-चन्द का ब्याह क्यों नहीं हो गया था जिससे भाभी द्रोपदी से मीठी-मीठी बातें करने के लिए मुझे काफ़ी वक्त मिल सकता।

फत्तू मुझे नीली घोड़ी पर बद्धूनी तक छोड़ने जाएगा, यह तै हो चुका था। अब भदौड़ से चलने में दो दिन रह गये थे। समय के पोखर में एक दिन और डुबकी लगा गया। अगले दिन चलने का प्रोग्राम सामने आ गया, क्योंकि स्कूल खुलने से एक दिन पहले मोगा में पहुँच जाना ज़रूरी था।

फत्तू ने मुझे आधी रात के थोड़ा बाद ही जगा दिया। मेरी आँखों में अभी तक नींद का ख़ुमार बाक़ी था। मैं चाहता था कि थोड़ा और सो लूँ। लेकिन फत्तू की बात टालना मेरे बस का रोग न था। हमारे घर में कोई भी फत्तू की बात नहीं टाल सकता था—पिताजी भी ऐसा नहीं कर सकते थे। चारपाई पर अँगड़ाई लेते-लेते मेरी स्मृति के क्षितिज पर वह घटना चित्र की तरह अंकित हो गई कि किस तरह एक बार चाचा लालचन्द रेशमा भैंस को बेचने की बात पर अड़ गये थे और फत्तू ने भूख हड़ताल कर दी थी। दो दिन तक हमारे घर चूल्हे में आग नहीं जलाई जा सकी थी। किसी ने भी खाना नहीं खाया था। जब पिताजी ने फत्तू को विश्वास दिलाया कि लालचन्द रेशमा का रस्सा खोलकर ख़रीददार को नहीं देगा तब कहीं फत्तू ने भूख हड़ताल तोड़ना मंज़ूर किया था, तब कहीं घर के चूल्हे में आग जली थी। रेशमा तो फिर भी बिक गई थी। रात के अँधेरे में गाहक ख़ुद आकर भैंस का रस्सा खोलकर ले गया था। पिताजी ने बड़ी मुश्किल से फत्तू को मनाया था। उस दिन चाचा लालचन्द पर ख़ूब लानत-मलामत की गई थी जिन्होंने पिताजी द्वारा फत्तू को दिये गये वचन का चालाकी से पालन करते हुए रेशमा को बेच डाला था।

"उठोगे या नहीं? देव, कब तक तुम चारपाई पर पड़े-पड़े अँगड़ाइयाँ लेते

रहोगे ?" फत्तू ने कड़ककर कहा ।

मैं झट उठ बैठा । माँ जी पहले से हमारे लिए रोटी पका रही थीं । भाभी द्रोपदी ने हँसकर कहा, "आज तो माँ जी ने आटे को दूध से गूँध कर परौठे पकाये हैं ।"

मैं खुशी से उछल पड़ा । मैंने यह बात फत्तू को बताई तो वह बोला, "दूध तो मैं ही दोहकर लाया था !"

पिताजी बोले, "अभी तो रात बहुत बाकी है, फत्तू ! आज तुम्हारी आँख गलती से पहले ही खुल गई ।"

"पहले कैसे खुल गई ?" फत्तू ने हाथ के इशारे से भोर का तारा दिखाते हुए कहा, "मेरे पास तो यही घड़ी रहती है और मेरी यह घड़ी कभी गलत नहीं हो सकती ।"

मैं कपड़े बदल रहा था । मेरी कल्पना में फत्तू का व्यक्तित्व और भी उज्ज्वल होता गया । फत्तू—जिसकी घड़ी है भोर का तारा ! फत्तू—जिसने अभी तक व्याह नहीं कराया ! फत्तू—जो हमारे यहाँ काम करने के बदले में तनख्वाह के नाम पर एक भी पैसा नहीं लेता । फत्तू—जो हमारी भैंसों को प्यार से पालता है ! फत्तू—जो घोड़ी की पीठ पर प्यार से खरहरा करता है ! फत्तू—जिसके रूठ जाने से हमारे घर की सारी मशीन रुक जाती है ! फत्तू—जिसके रूठ जाने से हमारे घर चूल्हे में आग नहीं जल सकती ! फत्तू—जिसे मेरी पढ़ाई का ख़्याल सबसे ज्यादा है !

चलने से पहले मैं बाबाजी को नमस्ते कहने के लिए उनके पास गया तो फत्तू ने ही उन्हें जगाया । बाबाजी बोले, "फत्तू, तुम तो भोर के तारे हो ! देव को आराम से बद्धूनी पहुँचा आओ । अपने सामने इसे इक्के पर बिठाना । इसे अच्छे-से इक्के पर बिठाना जिसका घोड़ा अच्छा हो, समझदार हो, जो रास्ते में ही इक्के को गिरा न दे !"

"भोर का तारा तो देव है, बाबाजी !" फत्तू ने बाबाजी के पैर छूते हुए कहा, "देव पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बन जाए, यही तो मेरा अल्लाह चाहता है, बाबाजी !"

जब हम गाँव से निकले तो फत्तू देर तक मुझे भोर का तारा दिखाकर बताता रहा, "भोर का तारा मेरा पुराना साथी है । मैं हमेशा भोर के तारे के साथ जाग उठता हूँ । बाबाजी भी पहले हमेशा भोर के तारे के साथ ही जाग उठते थे । अब तो बाबाजी बुड्ढे हो गये—तिरानवे साल के बुड्ढे ! यह तो भोर का तारा भी जानता है, मैं भी जानता हूँ, तुम भी जानते हो ।"

तीन मित्र

खुशीराम हमारी क्लास का मानीटर था। सन्ध्या करने में भी वह सब लड़कों से ज़्यादा दिलचस्पी लेता था और इसलिए हमारे बोर्डिंग हाउस के सुपरिंटेंडेंट साहब उस पर खुश थे। वह सबके लिए बना-बनाया 'महाशयजी' था। उसका ख्याल था कि मैंने राधाराम के साथ लड़ाई हो जाने के बाद भी उससे मित्रता का नाता जोड़कर बहुत अच्छा किया। बात यों हुई कि राधाराम ने एक दिन हाकी की स्टिक से मेरी पीठ पर बुरी तरह प्रहार किया। वह भी मामूली-सी बात पर। एक दिन मेरे डिब्बे में घी खत्म हो रहा था। वह घी मांगने चला आया। मैंने साफ़-साफ़ कह दिया, "राधाराम, घी तो नहीं है।" वह नाराज़ हो गया। मैं तो इस बात को बिलकुल भूल चुका था। खेल के मैदान से वापस आते समय राधाराम ने एक दिन मुझे अकेले खड़े देखा और चुपके-से आकर उसने मेरी पीठ पर ज़ोर से हाकी की स्टिक दे मारी।

महाशयजी का ख़्याल था कि कोई और लड़का होता तो कभी राधाराम को दोबारा मुँह न लगाता। तीसरे ही दिन मैंने सामने वाली डारमैट्री में जाकर राधाराम से कहा था, "राधाराम, अब तुम चाहो तो मेरा घी से भरा हुआ डिब्बा ले सकते हो जो पिताजी ने गाँव से भिजवाया है।" इस तरह राधाराम फिर से मेरा मित्रबन गया। महाशयजी स्वामी दयानन्द के क्षमाशील स्वभाव का उल्लेख करते हुए कह उठते, "स्वामीजी ने भी तो उस आदमी को क्षमा कर दिया था जिसने उन्हें दूध में ज़हर मिलाकर दे दिया था!"

एक दिन मैंने महाशयजी का ध्यान खींचते हुए कहा, "सुनिए, महाशयजी! हमारे गाँव के दो पुराने मित्रों की कहानी बड़ी दिलचस्प है। उनमें एक बार झगड़ा हो गया और इसी सिलसिले में उनमें मुकद्दमा चल पड़ा। दोनों मित्र एक साथ भदौड़ से बरनाला की अदालत में पेशी भुगतने जाया करते थे। पेशी पर हाज़िर होने से पहले दोनों मिलकर एक ही तन्दूर पर रोटी खाते। अदालत में जाकर वे फिर वैसे-के-वैसे मुद्दई और मुद्दायला बन जाते। कचहरी से निकलते ही एक मित्र दूसरे से कहता, "आओ यार, अब भदौड़ की रेस मारने से पहले कहीं चाय के दो गलास चढ़ा लिये जायें।" और फिर वे चाय पीकर और ताज़ा दम होकर भदौड़

की ओर चल पड़ते।

महाशयजी बोले, "ऐसा भी हो सकता है?"

मैंने कहा, "देखिए महाशयजी, क्षमा करना सिर्फ़ महापुरुषों का ही काम नहीं है। साधारण लोगों में भी यह गुण मिलेगा।"

"लेकिन तुम्हारे गाँव के वे मित्र पूरी तरह एक-दूसरे को क्षमा नहीं कर पाये थे!" महाशयजी बोले, "उनमें से किसी एक ने भी यह कदम पूरी तरह उठाया होता तो उनका मुक़दमा ही खत्म हो जाता।"

मैंने हँसकर कहा, "महाशयजी, पूरी क्षमा का पूरा मूल्य है तो आधी क्षमा का आधा मूल्य तो होगा ही। बस यह ऐसे ही है जैसे कोई सौ में से पचास नम्बर ले जाय। मेरा ख़्याल है कि हमारे गाँव के वे मित्र क्षमा की परीक्षा में आधे नम्बर लेकर पास तो हो ही गये थे।"

उधर से राधाराम भी आ गया। उसने आते ही अपना किस्सा शुरू कर दिया, "सुनिए, महाशयजी! डाकुओं में भी बहुत-से गुण होते हैं। इसका एक सबूत तो यह है कि गीतों में डाकुओं का जिक्र कहीं-कहीं बड़ी ख़ूबसूरती से किया गया है। ऐसी कहानियाँ तो आमतौर पर सुनी गई हैं कि फलाँ डाकू ने जब फलाँ घर पर डाका डाला और जब वह फलाँ लड़की के हाथ का चूड़ा उतारने लगा तो माँ ने कहा, 'यह सोने का चूड़ा हमारा नहीं, मंगनी का है।' इस पर न सिर्फ़ डाकू ने वह सोने का चूड़ा नहीं उतारा, बल्कि उस लड़की को धर्म की बहन बना लिया और हर साल रक्षा-बंधन के दिन वहाँ पहुँचकर वह उस लड़की से राखी बँधवाने लगा। कभी-कभी तो डाकुओं के बारे में यह भी सुनने में आया है कि उन्होंने ग़रीबों की बहुत मदद की और कई बार उन्होंने अमीरों का लूटा हुआ माल ग़रीबों की लड़कियों की शादी पर ख़र्च कर दिया।"

हम भौंचक्के-से राधाराम की तरफ़ देखते रह गये। फिर उसने एक गीत सुनाया :

> ज्योणा मौड़ वड्डियाँ न जावे,
> छवीयाँ दे घुण्ड मुड़ गे![1]

"अब ज्योणा मौड़ भी तो एक मशहूर डाकू था!" राधाराम ने जोर देकर कहा।

"लेकिन इस गीत से कोई ख़ास बात तो सिद्ध नहीं होती!" महाशयजी ने चुटकी ली।

राधाराम ने ज्योणे मौड़ का एक और गीत सुना डाला :

---

१. ज्योणा मौड़ का शरीर कटने में ही नहीं आ रहा। बरछियों की धार मुड़ गई।

ज्योणे मौड़ ने कदी न मुड़ना,
टाहली उत्ते रो तोतिया ।[1]

महाशयजी ने नाक सिकोड़ कर कहा, "देखो राधाराम, मैं तो इस तुकबन्दी को कविता नहीं कह सकता ।"

राधाराम ने महाशयजी की बात पर बुरा मनाने की बजाय जोश में आकर गाना शुरू कर दिया :

ताराँ तारॉं तारॉं
बोलीयाँ दा खूह भर दियाँ
जित्थे पाणी भरण मुटियाराँ
बोलीयाँ दी सड़क बन्हाँ
जित्थे चलदीयाँ मोटरकाराँ
बोलीयाँ दी रेल भराँ
जित्थे दुनिया चढ़े हज़ाराँ
बोलियाँ दी नहर भराँ
जित्थे लगदे मोघे नालाँ
ज्योंदी तूँ मर गई
कड्ढीयाँ जेठ ने गालाँ ।[2]

राधाराम यों बैठा था जैसे अपने विषय का कोई पण्डित हो । उसके हाथ में हाकी-स्टिक थी । महाशयजी को इस गीत पर टीका-टिप्पणी करने का साहस न हुआ ।

मुझे उस मोटरकार का ध्यान आ गया जो पहले-पहल हमारे गाँव के सरदार हरचन्दसिंह ने खरीदी थी और जो कच्चे रास्तों पर धूल उड़ाती हुई चलती थी । फिर मैंने सोचा कि आखिर रेल ने भी गीतों को छू लिया । गीत में नहर की चर्चा भी मुझे अच्छी लगी । अन्तिम बोल में किसी किसान-स्त्री के दर्द की ओर संकेत किया गया था जिसे अपने जेठ की गालियाँ सहनी पड़ रही थीं ।

राधाराम वड़े जोश में आकर बोला, "महाशयजी, यह मत सोचिए कि पढ़े-लिखे लोग ही कविता का रस लेते हैं । साधारण लोगों को भी कविता में रस आता है ।"

"मुझे तो ग़ालिब की शायरी में ही मज़ा आता है !" महाशयजी ने चुटकी

---

१. अब ज्योणा मौड़ लौटकर नहीं आयगा । ओ शीशम पर बैठे तोते, आँसू बहा ।

२. तार, तार, तार । गीतों का कुआँ भर दूं यहाँ युवतियाँ पानी भरने आयें । गीतों की सड़क बना दूं जहाँ मोटरकारें चला करें । गीतों की रेल भर दूं, जहाँ हजारों लोग सवार हुआ करें । गीतों की नहर भर दूं, जिसमें से मोघे और नालियाँ निकला करें । तू जीते-जी मर गई, तेरे जेठ ने तुझे गालियाँ दीं ।

ली, "गँवारों के ये ऊट-पटाँग-से गीत मुझे अच्छे नहीं लगते।"

"महाशयजी को अपनी कापी लाकर दिखाओ, देव !" राधाराम ने मेरे पैर को अपनी हाकी स्टिक से छूते हुए कहा।

मैं गीतों वाली कापी की बात महाशयजी से छिपाकर रखना चाहता था। लेकिन राधाराम के हाथ में हाकी की स्टिक थी। उसकी बात को टालना सहज न था।

"कौन-सी कापी ?" महाशयजी ने पूछा, "वह कापी हमें क्यों नहीं दिखाते, देव ?"

"रहने दीजिए, महाशयजी !"

"अब तो हम ज़रूर देखेंगे।"

मैंने उठकर ट्रंक से वह कापी निकालकर महाशयजी के हाथ में थमा दी। महाशयजी इसे देर तक उलट-पुलट कर देखते रहे।

"ये गीत तुमने क्यों लिख रखे हैं, देव ?"

"आप ही सोचकर बताइए, महाशयजी !" राधाराम ने हाकी स्टिक हिलाते हुए उनके समीप होकर कहा।

"अब हम क्या बतायें ?"

"अजी बताने को गोली मारिए," राधाराम बोला, "हर बात बताने के लिए ही नहीं होती, सुनने के लिए भी होती हैं बहुत-सी बातें। यह कापी बन्द कर दो, देव ! इससे ज्यादा गीत तो मुझे ज़बानी याद हैं।"

महाशयजी मन्त्रमुग्ध-से बैठे थे। राधाराम बोला, "सुनिए, महाशयजी ! छुट्टियों में देव अपनी यह गीतों वाली कापी मुझे सौंप गया था, क्योंकि उसे पिताजी का डर सता रहा था। छुट्टियों में मैंने इस कापी में पूरे सौ गीत और लिख डाले थे। छुट्टियों के बाद यह कापी मैंने देव की अमानत के तौर पर उसे लौटा दी। इस कापी के शुरू के गीत देव ने कहाँ-कहाँ जाकर लिखे थे छुट्टियों से पहले, वह कहानी भी कुछ कम दिलचस्प नहीं है। याद रहे महाशयजी, कि ग़ालिब अपनी जगह है और देहात के गीत अपनी जगह।"

महाशयजी बड़ी तन्मयता से राधाराम की बातें सुन रहे थे। बीच-बीच में महाशयजी मेरी ओर देखने लगते, जैसे कह रहे हों— यही हालत रही तो पढ़ाई तो हो ली ! इतने में राधाराम ने गाना शुरू किया :

ढै जाना ताँ जूआ खेड़दा
बैल करेंदा भारे
कल्ह ताँ मेरीयाँ डण्डीयाँ हार गिया
परसों हार गया बाले
हस्स ते गोखरू लै गिया मंग के

कर गिया घाले माले
बीहाँ दा हस्स धरता पंजाँ विच्च
देख पट्टू दे कारे
मापियाँ वाहरी ने
लेख लिखा लये माड़े ।[1]

मैंने कहा, "जुआरी की पत्नी की यह आपबीती हमारी किसी किताब में तो नहीं मिल सकती, महाशयजी ! हाँ, एक बात याद आ रही है । स्वामी गंगागिरि जी ने अपनी कथा में एक बार बताया था कि वेद में भी जुआ खेलने की निन्दा की गई है, लेकिन जुआरी की पत्नी का ऐसा गीत तो शायद वेद में भी न मिले ।"

उस समय डारमैट्री में और कोई लड़का न था । महाशयजी ने उठकर मेरी अलमारी की एक-एक किताब को ध्यान से देखा । शाम हो रही थी । सन्ध्या की घंटी में अभी देर थी ।

राधाराम ने जाने क्या सोचकर कहा, "मैं तो हाकी का खिलाड़ी हूँ, खुशी-रामजी ! अपनी स्टिक के साथ जिस तरह मैं गेंद को दूर फेंकता हूँ वैसे ही मैं इन गीतों के साथ खेलता हूँ । मुझे ये गीत अच्छे लगते हैं । पढ़ाई में भी मैं किसी से पीछे नहीं हूँ, यह तो आप भी देख चुके हैं । कम-से-कम सैकण्ड मास्टर साहब को मैंने कभी मौका नहीं दिया कि वे मेरा कान मरोड़ें या मेरे हाथों पर बेंत बरसायें ।"

"वे तो वैसे ही तुम्हारा लिहाज़ करते हैं," महाशयजी ने सतर्क होकर कहा, "अच्छे खिलाड़ियों को कौन पीटने का साहस कर सकता है ?"

"किसी परीक्षा में मुझे कम नम्बर भी तो नहीं मिले ।" राधाराम ने ज़ोर देकर कहा ।

"लेकिन मैं सोचता हूँ देव को भी पढ़ाई में तेज़ होना चाहिए ।"

"तो देव की कमज़ोरी तो महज़ हिसाब में ही है ।"

"हिसाब के अलावा वह कुछ-कुछ ज्योमैट्री और अलजब्रा में भी कमज़ोर है, यह क्यों भूल रहे हो ?"

---

१. मर जाय यह मेरा पति, यह जुआ खेलता है । उसमें भारी ऐब हैं । कल तो वह मेरी डंडियाँ (कान का भूषण) हार गया था, परसों हार गया था 'वाले' (कान का एक और भूषण), 'हस्स' (गले का भूषण) और 'गोखरू' (हाथ का भूषण) माँगकर ले गया, उन्हें वह हज़म कर गया । बीस रुपये का 'हस्स' पाँच में गिरवी रख दिया । लफंगे के लच्छन तो देखो । मैं अनाथ अपना भाग्य कितना बुरा लिखा कर लाई !

"अपनी पढ़ाई का मुझे भी तो फिक्र है।" मैंने हँसकर कहा, "वैसे इस चेतावनी के लिए धन्यवाद, महाशयजी !"

उस दिन हम सन्ध्या की घंटी तक बैठे बातें करते रहे। सन्ध्या करते समय भी महाशयजी के ये शब्द मेरे कानों में गूँजते रहे—देव को भी तो पढ़ाई में तेज़ होना चाहिए !

खेमे और ताजमहल

मथुरा में दयानन्द जन्म-शताब्दी होने वाली थी। मैंने फ़ैसला किया कि दुनिया इधर-से-उधर हो जाय मैं इस शताब्दी के अवसर पर मथुरा अवश्य जाऊँगा। इसके लिए पिताजी से पूछने की ज़रूरत न थी। अभी चार-पाँच महीने बाक़ी थे। मैंने अभी से खर्च का प्रबन्ध कर लिया। रात को दूध पीना बन्द कर दिया और स्कूल के हलवाई से यह साँठगाँठ कि वह पिताजी को खबर न होने दे और मुझे मथुरा जाने के लिए वे सब रुपये दे दे जो पिताजी ने उसके पास जमा करा रखे थे।

हैडमास्टर साहब स्कूल के लड़कों से मथुरा चलने के लिए कह चुके थे। कुछ लड़कों ने अपने नाम लिखा दिये थे। राधाराम इस शर्त पर मेरे साथ चलने के लिए तैयार हुआ कि अगर उसका खर्च कम पड़ गया तो मुझे ही उसकी कमी पूरी करनी होगी।

मथुरा पहुँचकर देखा कि शताब्दी के लिए खुले मैदान में खेमों का नगर बसाया गया है। इतने खेमे मैंने कभी नहीं देखे थे। खेमों पर अलग-अलग स्थानों के नाम लिखे थे। हमारे स्कूल का खेमा अलग था। लड़कों के साथ कुछ अध्यापक भी आये थे, लेकिन लड़के शताब्दी के मुक्त वातावरण में स्कूल का-सा अंकुश मानने के लिए तैयार न थे।

खुशीराम का ख़्याल था कि हमें कोई ऐसी बात नहीं करनी चाहिए जिससे हमारे स्कूल के नाम को बट्टा लगे। "अजी महाशयजी, आपके दिमाग पर तो मथुरा आकर भी मोगा का मथुरादास स्कूल ही सवार रहा!" राधाराम व्यंग्य कसता, "यही बात थी तो मथुरा न आये होते।"

लम्बे भाषण सुनते-सुनते राधाराम का मन ऊब गया। उसके मन पर तो मथुरा के मन्दिर अंकित हो गये थे। वे मन्दिर मुझे भी कुछ कम सुन्दर न लगे, पर मेरा मन हमेशा यमुना की तरफ़ लपकता। राधाराम भी यमुना की सैर करने के लिए राज़ी हो जाता। एक दिन तो सुबह से शाम तक यमुना के किनारे घूमते रहे।

एक दिन रात के समय हम अपने ख़ेमे की तरफ़ जा रहे थे। मुझे सिद्धवाँ का

ख़ेमा नज़र आ गया। राधाराम को थोड़ा रुकने के लिए कहकर मैंने ख़ेमे के पीछे की दरज़ से झाँककर देखा कि मौसी के पास सावित्री बैठी है और माँजी सावित्री से कह रही हैं कि वह उठकर लालटेन की बत्ती उकसा दे। मैं लपककर पीछे हट आया। राधाराम देर तक पूछता रहा कि क्या बात है। मैंने उस पर यह रहस्य प्रकट न होने दिया। सावित्री और माँजी से मिलने के लिए मेरा मन व्याकुल हो उठा था, पर साथ ही यह भय भी तो लगा था कि पिताजी को मेरे बिना पूछे मथुरा आने की खबर मिल जायगी और वे मुझे कभी क्षमा नहीं करेंगे।

ख़ेमे ही ख़ेमे। इतने ख़ेमे देखने और इनमें से एक ख़ेमे में रहने का हमारे लिए यह पहला अवसर था। बड़ी तरकीब से ख़ेमों की यह नगरी बसाई गई थी। कतार-की-कतार ख़ेमे। दो-दो कतारों के बीच मज़े से गलियाँ छोड़ी गई थीं। बड़े-बड़े पण्डालों के लिए अलग प्रबन्ध किया गया था। बड़े-बड़े शामियाने तानकर पण्डाल बनाये गये थे। राधाराम को ये ख़ेमे और पण्डाल पसन्द हैं या नहीं, इसका मुझे ठीक-ठीक पता न चल सका। कभी तो वह इनकी प्रशंसा करने लगता, कभी कह उठता, "यह सब फ़ज़ूल है। रुपये की बरबादी है। यह दयानन्द जन्म-शताब्दी तो सब दिखावा है, सब ढोंग है।"

ख़ेमों की इस नगरी की सबसे बड़ी घटना थी एक व्यक्ति का मंच पर आकर यह घोषणा करना कि वह नेपाल से आ रहा है और उसी ने अज्ञानवश स्वामी दयानन्द को दूध में ज़हर मिलाकर दिया था। महाशयजी तो चकाचौंध-से देखते रह गये। राधाराम ने मेरे कान में कहा, "इस आदमी ने ख्वाह-म-ख्वाह लोगों का ध्यान खींचने के लिए यह बात बनाई है!" लेकिन मेरे ज़ोर देने पर वह जाकर उस आदमी से मिला और अपनी तसल्ली कर आया कि उसका नाम जगन्नाथ है और सचमुच वही वह आदमी है जिसने अज्ञानवश स्वामीजी को ज़हर देने का पाप किया था और इसके उत्तर में स्वामीजी ने इस आदमी को किराये के लिए रुपये देकर यह ताकीद की थी कि वह भागकर अपनी जान बचा ले।

मथुरा से लौटते हुए राधाराम और मैं अपने स्कूल के लड़कों से अलग हो गये। उनका प्रोग्राम था कि फतहपुर सीकरी, ताजमहल, दिल्ली का लालकिला और कुतुबमीनार देखकर मोगा पहुँचेंगे। हमने अपनी जेब देखते हुए ताजमहल देखकर ही मोगा चले जाने का फ़ैसला कर लिया।

एक दिन मथुरा से चलकर हम आगरा पहुँचे और भीड़ के रेले में आगरा स्टेशन के फाटक से बाहर निकलने में हमें कोई दिक्कत न हुई। फाटक से बाहर निकलकर राधाराम ने खुशी से ताली बजाकर बताया, "मैंने मथुरा से आगरे के टिकट नहीं लिये थे!"

मैंने कहा, "राधाराम, तुमने अच्छा नहीं किया। तुम साफ़-साफ़ बता देते तो टिकट मैं ले लेता। मास्टर महँगाराम को पता चल गया तो वे हमें कभी क्षमा

नहीं करेंगे।"

राधाराम ने हाकी-स्टिक घुमाते हुए कहा, "यहाँ भी तुम्हें मास्टर महँगाराम का डर सता रहा है, यह तुम्हारी बदक़िस्मती है।"

ताजमहल देखकर मेरा दिल खुशी से नाच उठा। एक तरफ़ ताजमहल का सफ़ेद संगमरमर था, दूसरी तरफ़ राधाराम का काला-कलूटा चेहरा। शायद इसी-लिए राधाराम को ताजमहल एक आँख न भाया। वह तो अपनी हाकी-स्टिक घुमा-घुमा कर यही रट लगा रहा था, "रेलवे के किसी टिकट-चैकर ने मुझसे टिकट माँगा होता तो छूटते ही मेरी हाकी स्टिक उसके सिर पर बरसती !"

मैंने कहा, "राधाराम, छोड़ो यह किस्सा ! ताजमहल देखो।"

"मैं शाहजहान होता तो कभी ताजमहल बनवाने पर इतना संगमरमर ज़ाया न करता !" राधाराम ने पलटकर कहा, "मैं यह बात नहीं समझ सका कि लोग ताजमहल की खूबसूरती का ढोल इतना ज़ोर-ज़ोर से क्यों पीटते हैं।"

"ताजमहल तुम्हें क्यों पसन्द नहीं आया, राधाराम ?" मैंने हँसकर कहा, "शायद तुम्हें भूख लगी है और मैं जानता हूँ कि भूख पर खूबसूरती ग़ालिब नहीं आ सकती।"

राधाराम ने हाकी-स्टिक परे रखकर मुझे अपनी बाँहों में भींचते हुए कहा, "बहुत नेक खयाल है। पहले पेट-पूजा की जाय।"

कुछ खा-पीकर हम फिर से घूम-घूम कर ताजमहल देखने लगे। मैंने कहा, "राधाराम, जब ताजमहल भी तुम्हें अच्छा नहीं लगा तो दयानन्द जन्म-शताब्दी के ख़ेमे तो तुम्हें बिलकुल अच्छे नहीं लगे होंगे ?"

राधाराम बोला, "दयानन्द जन्म-शताब्दी का तो सिर्फ़ बहाना था, मेरे भाई ! असल चीज़ तो है यह सफ़र। और शुरू से ही मेरा यह ख़याल रहा है कि सफ़र से आदमी बहुत-कुछ सीखता है।"

"सफ़र में जो कुछ भी हम देखते हैं उसका हमारे दिल और दिमाग़ पर असर होता है, राधाराम !" मैंने राधाराम की आँखों में झाँककर कहा, "खूबसूरत चीज़ें देखकर हमारे अन्दर खूबसूरती उभरती है और इससे भी हमें बहुत लाभ होता है।"

मेरे लाख ज़ोर देने पर भी राधाराम यह न समझ सका कि ताजमहल का स्थान दुनिया की सबसे खूबसूरत इमारतों में है।

एक नया ब्याहा जोड़ा भी ताजमहल देखने आया था। राधाराम ने कई बार मेरे कान में कहा, "दुलहन बुरी नहीं है !" मैंने आँखों-ही-आँखों में उसे इस किस्म की बातों में उलझने से मना किया।

दुलहन के माथे पर टिकुली चमक रही थी। राधाराम ने मेरे समीप होकर

कहा, "यह लड़की भी किसी शाहजहान की मुमताज़ महल से कम नहीं, लेकिन इसका शाहजहान इसके लिए कोई ताजमहल तो बनवाने से रहा।"

मैंने कहा, "राधाराम, ताजमहल तो पुकार-पुकार कर कह रहा है कि वह औरत के लिए मर्द द्वारा बनाया हुआ स्मृति-चिह्न है, वह किसी एक शाहजहान की चीज़ नहीं है, न वह किसी एक मुमताज महल तक सीमित है।"

"तब तो यह दूल्हा भी अपनी दुलहन के कन्धे पर हाथ रखकर यह दावा कर सकता है कि वह उसे किसी मुमताज महल से कम नहीं समझता और इसीलिए वह आज यह एलान भी कर सकता है कि यह ताजमहल उसी ने बनवाया है—अपनी मुमताज महल की यादगार में !" यह कहते हुए राधाराम ने ज़ोर का क़हक़हा लगाया। उसके काले-कलूटे चेहरे पर सफ़ेद दाँत यों चमक रहे थे जैसे वे ताजमहल के संगमरमर से होड़ ले रहे हों।

राधाराम की आँखों में शरारत नाच रही थी। वह लपककर नये ब्याहे जोड़े के करीब चला गया; फिर पीछे पलटकर बोला, "जन्म-शताब्दी में तो ज़रा भी मज़ा नहीं आया था। ताजमहल जिन्दाबाद ! ताजमहल से कहीं खूबसूरत है यह दुलहन। मुझे भी ऐसी दुलहन मिल जाय तो उसे यहाँ जरूर लाऊँ और ताजमहल दिखाते हुए यह दावा भी ज़रूर करूँ कि इसे शाहजहान ने नहीं बनवाया, इसे तो मैंने बनवाया है अपनी दुलहन की यादगार में !"

मैंने राधाराम की बातों की तरफ़ अधिक ध्यान देने की ज़रूरत न समझी। मैं ताजमहल की ओर विभोर दृष्टि से देखता रहा। मुझे यह न लगा कि मैं पहली बार ताजमहल देखने आया हूँ। जैसे मैं वर्षों से इसे देखता आया था। ताजमहल का चित्र पहले-पहल अपने गाँव के स्कूल में इतिहास की पुस्तक में देखा था, तभी से मेरे मन पर ताजमहल की छाप थी।

राधाराम ने मेरा कन्धा झँझोड़कर कहा, "क्या सोच रहे हो, हज़रत ? हमें आज ही यहाँ से चल देना चाहिए। इससे पहले कि हमारे स्कूल के लड़के फतहपुर सीकरी से लौटकर यहाँ आ पहुँचें, हमें मोगा के लिए चल देना चाहिए।"

राधाराम की यह सलाह मुझे बहुत बेहूदा प्रतीत हुई, लेकिन उसे हाकी-स्टिक घुमाते देखकर मैंने ताजमहल से विदा ली और दोपहर ढलने से पहले ही उसके साथ रेलवे स्टेशन की ओर चल पड़ा।

गाड़ी के लिए स्टेशन पर काफ़ी इन्तज़ार करना पड़ा। मैं पछता रहा था कि यही बात थी तो एक-आध घंटे तक ताजमहल का रस और क्यों न ले लिया।

राधाराम अब के फिर बिना-टिकट मोगा तक सफ़र करने की सलाह देता रहा। मैंने उसकी एक न सुनी। आख़िर उसे मेरी बात माननी पड़ी और वह भी

इस शर्त पर कि दोनों टिकट मैं लेकर आऊँ और दोनों टिकटों के रुपये भी मैं ही दूं।

गाड़ी के एक डिब्बे में घुसते हुए मैंने कहा, "ताजमहल-जैसी खूबसूरत चीज़ देखने के बाद कोई आदमी बिना-टिकट रेल का सफ़र करे और वह भी उस अवस्था में कि जेब में रुपये मौजूद हों, यह तो बहुत बड़ी कमीनगी होगी।"

खोलो मन की खिड़की

मथुरा यात्रा की स्मृतियाँ बहुत मधुर थीं। मुझे विश्वास हो गया कि मनुष्य यात्रा से बहुत-कुछ सीख सकता है। राधाराम हमेशा अपने हाथ में हाकी-स्टिक हिलाते हुए कहता, "तुम्हारा वह ताजमहल तो बेकार की चीज़ है। लोगों की यह आदत मुझे नापसन्द है कि ख्वाह-म-ख़्वाह तारीफों के पुल बाँधे जायँ।"

हम नौवीं में फेल हो जाते तो सारा दोष अपनी मथुरा-आगरा यात्रा पर ही मढ़ते। दसवीं की पढ़ाई शुरू हो चुकी थी। डारमैट्री से हटकर हम कमरों में आ गये थे जहाँ तीन-तीन विद्यार्थी रहते थे।

नौवीं की वार्षिक परीक्षा से पहले ही मुझे बरनाला वाले चाचा पृथ्वीचन्द्र के लड़के इन्द्रसेन के विवाह में बाराती बनना पड़ा। बारात मोगा आई थी और मैं वहीं से शामिल हो गया था। बारात के साथ खाना खाते समय मैं देखता कि एक साँवली-सी लड़की मुझे घूर-घूरकर देखती रहती है। एक दिन इन्द्रसेन से पता चला कि वह साँवली-सी लड़की उसकी छोटी साली है। एक दिन वह मुझे अपने ससुराल वाले घर भी ले गया जहाँ उस लड़की ने व्यंग्य-सा कसते हुए पूछ लिया था, "तुम्हारा ब्याह भी मोगा में ही करा दें।" उसके सम्बन्ध में मैं राधाराम को बता चुका था। वह कई बार हाथ में स्टिक हिलाते हुए कहता, "मुझे क्यों नहीं ले गये थे अपने साथ। काश! उस साँवली लड़की ने यही बात मुझसे कही होती।"

मेरे कमरे में दूसरे साथी थे निहालचन्द और अमीचन्द। राधाराम का कमरा पाँच-छः कमरे छोड़कर था। राधाराम ने इसे भी हमारी मित्रता के लिए शुभ मान लिया।

जिस डारमैट्री में मैं पहले रहता था, वहाँ अब मेरा बचपन का मित्र बुद्धराम आ गया था। योगराज तो अब के फिर आठवीं में फेल हो गया था। बुद्धराम को आठवीं से नौवीं में होने की खुशी थी, साथ ही इस बात का दुःख था कि वह नौवीं में है और मैं दसवीं में। अब मैं उसकी खातिर नये मित्रों को तो नहीं छोड़ सकता। राधाराम से तो उसे घृणा थी। वह कई बार मुझसे कहता, "तुम्हारे इस राधाराम से तो भगवान् बचाये। सूरत तवे से भी ज़्यादा काली, आँखें वह-शियों की-सी। मैं कहे देता हूँ कि बड़ा होकर राधाराम डाकू बनेगा।"

निहालचन्द बरनाला से आया था और अमीचन्द कोटकपूरा से। अमीचन्द हिस्ट्री और अंग्रेज़ी में बहुत होशियार था, निहालचन्द हिसाब, ज्योमैट्री और अलजब्रे में हमेशा दूसरे नम्बर पर रहता था। यह मेरा सौभाग्य था कि मुझे निहालचन्द और अमीचन्द के साथ रहने का अवसर मिला।

हमारे हैडमास्टर साहब मेरे दूर के सम्बन्धी थे, इसलिए वे मेरी पढ़ाई का बहुत ध्यान रखते थे और अब तो हैडमास्टर साहब का सम्बन्धी होने के कारण सैकण्ड मास्टर साहब भी मुझे अपनी क्लास में हमेशा सामने वाले बेंच पर बिठाते और पढ़ाते समय देखते रहते कि मैं पूरे ध्यान से उनकी बातें सुन रहा हूँ या नहीं।

खुशीराम का कमरा बोर्डिंग हाउस में मेरे कमरे से छः-सात कमरे छोड़कर था। मेरी पढ़ाई की उसे सबसे ज्यादा फिक्र रहती। कभी-कभी वह ग़ालिब का दीवान खोलकर बैठ जाता और किसी-किसी शेर की बारीकियाँ बताने लगता।

वह ग़ालिब की जितनी प्रशंसा करता, उतना ही उसका मतलब होता कि मेरी कापी के देहाती गीत छिछले हैं, फ़ज़ूल हैं।

खुशीराम गालिब का शेर अपने विशिष्ट तरन्नुम के साथ पढ़ता, "रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं कायल, जो आँख से ही न टपका तो फिर लहू क्या है !" मैं कहता, "अब पंजाबी गीत का यह बोल सुनिए—बहुटी सिपाही दी, अग्ग बाल के धुएँ दे पज्ज रोवे।"[1] खुशीराम नाक सिकोड़ कर कहता, "तुम ग़ालिब की गहराई में जाने की कोशिश क्यों नहीं करते ? ग़ालिब ने क्या खूब कहा है—नींद उसकी है, रातें उसकी हैं, चैन उसका है, जिसके बाज़ू पर तेरी जुल्फ़ें परेशाँ हो गईं !" मैं कहता, "माफ कीजिए। पंजाबी गीत का यह बोल भी कुछ कम नहीं—सुफने च' पैण जपफ़ीयाँ, अख्ख खुल्ली ते नजर न आया।"[2] खुशीराम को यह नापसन्द था कि ग़ालिब का तीर छूटते ही उधर से पंजाबी गीत का तीर छोड़ दिया जाय।

खुशीराम अपने हाथ से ग़ालिब का दीवान परे रखते हुए कहता, "तुम इस दीवान को समझने के अहल ही नहीं हो। अरे मियाँ, ग़ालिब को समझना बच्चों का खेल नहीं है।" मैं मन ही मन खुश होता कि खुशीराम मेरे व्यंग्य का ठीक उत्तर न देकर यों ही झुंझला रहा है। ग़ालिब को छोटा करके दिखाना तो मुझे दिल से स्वीकार न था, लेकिन यहाँ मुकाबिला ग़ालिब और पंजाबी गीत का नहीं था, खुशीराम का और मेरा था।

एक दिन मैंने कहा, "देखिए खुशीराम जी, अगर ग़ालिब दोबारा ज़िन्दा

---

१. सिपाही की पत्नी आग जलाकर धुएँ के बहाने रो रही है।

२. सपने में तो हम आलिंगन कर रहे थे, आँख खुली तो तुम नजर न आये।

होकर यहाँ आ सकता और मैं उन्हें कुछ चुने हुए पंजाबी गीत सुना सकता तो ग़ालिब इनकी प्रशंसा किए बिना न रहते।"

खुशीराम हँसकर बोला, "इसका मतलब है तुम ग़ालिब को बहुत घटिया शायर समझते हो। अरे मियाँ! ग़ालिब तो चचा ग़ालिब थे, वे तो सब शायरों पर ग़ालिब थे, उन्होंने जो भी लिखा उससे नुक्ता पैदा किया। अगर कोई सोचे कि मिर्ज़ा ग़ालिब गँवारू गीतों की तारीफ कर सकते थे, तो इससे बड़ी हिमाकत और क्या होगी।"

राधाराम हमेशा यही कहता, "मिर्ज़ा ग़ालिब देहाती गीतों की प्रशंसा कर सकते थे या नहीं, इससे तो हमें कोई ग़र्ज़ नहीं। मैं तो यही अर्ज़ करता हूँ कि इन गीतों में भी रस है, इनमें भी बहुत-सा कीमती मसाला भरा हुआ है और हम इसे देखा-अनदेखा न करें।"

मेरे साथी निहालचन्द के बारे में राधाराम हमेशा हँसकर कहता, "निहालचन्द इतना ख़ामोश क्यों रहता है? ज़रा-सा मुसकराता है और उसकी आँखें पुस्तक पर झुक जाती हैं। मैं कहे देता हूँ कि तुम्हारा निहालचन्द 'दो जमा दो चार' और 'तीन जरब दो छः' किस्म का इन्सान है। मुझे तो उसके मुस्कराने में भी हिसाब, ज्योमैट्री या अलजब्रे के किसी प्रश्न का हल नज़र आता है। निहालचन्द की पगड़ी का रंग भी कभी नहीं बदल सकता। उसके पास एक कोट गरमियों के लिए है एक सरदियों के लिए। क्या मजाल कि उसकी पोशाक में ज़रा-सा भी फ़रक़ नज़र आ सके। यह किताबों का कीड़ा तो बस इसी तरह रेंगता रहेगा। उसकी दुनिया उसी के गिर्द घूमती है। इससे ज़्यादा तो वह सोच ही नहीं सकता।"

मेरे कमरे का दूसरा साथी अमीचन्द, जिसे अपनी पढ़ाई की उतनी फ़िक्र न थी जितनी मेरी पढ़ाई की, राधाराम को बहुत पसन्द था। वह हर मज़मून में मुझसे होशियार था, वह मेरे साथ पढ़ते समय कभी यह ज़ाहिर न होने देता कि मैं उससे कमज़ोर हूँ; स्कूल में लिये हुए अपने नोट्स मेरे सामने रख देता और मेरे नोट्स स्वयं देखता। कई बार वह मेरी प्रशंसा करते हुए कहता, "जब तुम बड़े आदमी बन जाओगे, उस वक्त मुझे भूल जाओगे।" मैं मुस्कराकर उसकी तरफ देखता, फिर मैं आँखें झुका लेता।

निहालचन्द को यह नापसन्द था कि अमीचन्द मुझे अपने साथ सरपट दौड़ाकर ले चले। अपनी मेज़ से आँखें उठाकर वह हमें तो घूरता हुआ कहता, "तुम्हारी मेज़ पर इतना शोर क्यों होता है?" निहालचन्द को तो हमारा मिल बैठना और एक-दूसरे को अच्छा समझना भी बुरी तरह अखरने लगा। अमीचन्द जितना मेरे करीब आ रहा था, निहालचन्द उतना ही परे हट रहा था।

एक दिन निहालचन्द ने हैडमास्टर साहब तक शिकायत पहुँचा दी कि अमी-

चन्द जान-बूझकर पढ़ते समय देव से बातें करने लगता है और इससे उसका एक-मात्र उद्देश्य यही है कि निहालचन्द की पढ़ाई में विघ्न पड़े। हैडमास्टर साहब ने सुप्रिटेंडेंट को बुलाकर समझाया और अगले दिन से ही निहालचन्द को राधाराम की जगह दे दी गई और राधाराम हमारे कमरे में आ गया।

राधाराम के आने की जितनी खुशी मुझे हुई उतनी ही अमीचन्द को हुई। अमीचन्द अकेले में कई बार मुझसे कहता, "राधाराम के काले-कलूटे चेहरे पर तेल की दो बूँदों से भी एक खास चमक आ जाती है। इन्सान की खूबसूरती उसके रंग में नहीं है, बल्कि उसके स्वभाव में घुली हुई सहानुभूति और सचाई में है।" मैं हमेशा यही कहता, "राधाराम हाकी का खिलाड़ी है। एक अच्छे खिलाड़ी में मिलकर खेलने की बात ही सबसे पहले हमारा ध्यान खींचती है। मिलकर खेलने की ही तरह मिलकर पढ़ने में भी एक खिलाड़ी अपने उसी खिलाड़ीपन का प्रमाण देता है।"

राधाराम अपने बचपन की कहानी बड़े मज़े से सुनाता। किस तरह गरीबी के चंगुल में उसका जन्म हुआ, यह बात उसे कभी न भूलती। एक भंगी का बेटा होकर वह दसवीं में पढ़ रहा था, यह बात स्वयं उसके लिए भी कुछ कम आश्चर्य-जनक न थी। अपने गाँव के स्कूल में उसने पहली क्लास से ही पढ़ाई और खेलों में बहुत दिलचस्पी ली थी। पहले पाँच क्लास तक तो गाँव के एक सेठ से उसे पढ़ाई का खर्च मिलता रहा था, फिर पाँचवी से आठवीं तक उसे सरकारी वजीफ़ा मिलता रहा, और अब मैट्रिक में उसकी फ़ीस माफ़ थी और डाक्टर मथुरादास उसे बाकी खर्च अपनी तरफ़ से दे रहे थे।

एक दिन अमीचन्द ने पूछा, "बड़े होकर तुम क्या करोगे, राधाराम?"

राधाराम ने हँसकर कहा, "भंगियों की हालत सुधारने के लिए ही मुझे सारा जीवन लगा देना होगा, तुम लोग तो यही सोचते होगे। लेकिन मैं अभी से जानता हूँ कि मैं भी खुदग़र्जी की दलदल में धँस जाऊँगा। सभी लोग इसी तरफ़ चल रहे हैं। मेरा भी इसी तरफ़ रुख होगा। मैं भी कहाँ दूध का धोया हूँ?"

राधाराम की हर बात में बाहर और भीतर में गहरा मेल नज़र आता था। वह त्याग और बलिदान की डींग मारने के विरुद्ध था। जब कभी वह घर की बात छेड़ देता, उसकी आँखों में वेदना की बदली उमड़ आती। यह बदली कभी न बरसती। बड़े मज़े से वह बात का रुख बदल देता। जैसे उसकी हॉकी स्टिक ने गेंद को दूर धकेल दिया हो।

एक दिन अमीचन्द ने रात की पढ़ाई खत्म करने के बाद किताब परे रखते हुए कहा, "एक बार बचपन में, जब मैं अपने गाँव में रात को आँख-मिचौली खेल रहा था, मैं उधर को ही भाग निकला था जिधर हमारी गली की तारो भाग निकली थी। साथ वाले वाड़े में जाकर तारो भूसे वाले कोठे में छिप गई थी और

मैं भी तारो के पास जाकर उससे सटकर खड़ा हो गया था। मुझे तारो का वह स्पर्श आज तक याद है। तारो आज भी मेरी कल्पना की सबसे सुन्दर मूर्ति है।"

राधाराम ने हँसकर कहा, "मेरी भी एक तारो थी। वह थी तरखानों की सोभी। उसके माथे पर सिर के बाल झुके रहते थे। पिछले गरमी की छुट्टियों में मैं घर गया तो मैंने सोभी को देखा। अब तो वह विवाह के योग्य हो गई है। उसने मुझे देखा तो उसकी आँखें झुक गईं। मैं कब उसकी रूप-माधुरी के धोखे में आने वाला हूँ। उसका विवाह हो जाएगा तो वह मुझे भूल जाएगी। हालाँकि उस दिन उसकी झुकी हुई निगाहें साफ कह रही थीं कि वह मुझसे विवाह कराने के लिए भी राज़ी हो सकती है। अब मैं ठहरा एक भंगी का बेटा और सोभी है एक तरखान की बेटी। हमारा विवाह नहीं हो सकता।"

अमीचन्द ने सतर्क होकर कहा, "क्यों नहीं हो सकता? हिम्मत चाहिए।"

"अभी इसमें देर लगेगी।" मैंने चुटकी ली।

राधाराम बोला, "तुम क्यों चुप हो, देव? उस दिन अपने भाई इन्द्रसेन की बारात में तुम अमीचन्द को तो ले गये थे, मुझे तो तुमने भुला ही दिया था! वह तुम क्या कह रहे थे उस दिन? तुम कह रहे थे न कि तुम्हारे भाई की साली ने तुम्हें छेड़ते हुए कहा था—कहो तो तुम्हारा विवाह भी मोगा में ही करा दें। मेरे भाई, पास होने की नीयत है तो अभी से विवाह के चक्कर में मत फँस जाना।"

मेरे जी में तो आया कि राधाराम और अमीचन्द को अपने गाँव के हैडमास्टर भक्त जी की लड़की मूर्ति की कहानी सुना डालूँ। फिर मैं यह सोचकर खामोश रहा कि जिस राह पर चलने का इरादा ही न हो उसका ज़िक्र फिजूल है।

मुझे ख़ामोश देखकर राधाराम बोला, "मैं कहता हूँ तुम आज चुप-चुप से क्यों हो, देव? तुम भी खोलो मन की खिड़की!"

साहब खुश थे। अध्यापक खुश थे। लड़के खुश थे।

अब साहित्य-समाज का आरम्भ करते हुए महाशय खुशीराम ने उठकर घोषणा की, "सबसे पहले ठाकुरदास उर्दू कवि ग़ालिब पर तकरीर करेंगे।"

ग़ालिब की तारीफ़ में ठाकुरदास रटी-रटाई बातें सुनाता रहा। यों लग रहा था जैसे कोई रिकार्ड बज रहा हो। एक जगह ठाकुरदास अपनी बात भूल गया और वह हकलाकर बोलने लगा, जैसे ग्रामोफ़ोन की सूई रिकार्ड पर अटक गई हो और एक ही बात दोहराई जा रही हो।

मैंने राधाराम की तरफ देखा। राधाराम ने आँखों-ही-आँखों में कुछ कहना चाहा।

मैंने चूहड़राम के कान में कहा, "क्या बात है?"

राधाराम बोला, "हौसला हो तो हम कुछ गीत ही सुना डालें!"

"ज़रूर।"

राधाराम उठकर लड़कों को चीरता हुआ मंच पर जा पहुँचा। उसने खुशी-राम के कान में कुछ कहा। खुशीराम ने सिर हिलाकर स्वीकृति दे दी।

राधाराम और खुशीराम ने संकेत से मुझे बुलाया। मैं भी लड़कों को चीरता हुआ मंच पर जा पहुँचा।

ठाकुरदास ने हमारी तरफ मुड़कर देखा। खुशीराम ने उठकर ठाकुरदास के कान में कुछ कहा।

ठाकुरदास ने अपना भाषण खत्म कर दिया। सबने तालियाँ बजाईं।

खुशीराम ने उठकर घोषणा की, "अब आपके सामने हमारे स्कूल के दो लड़के राधाराम और देवेन्द्र पंजाबी गीत सुनाएँगे। आप देखेंगे कि हमारे देहाती गीतों में भी शायरी की कितनी मिठास है।"

राधाराम ने मेरा हाथ पकड़कर मुझे उठाया तो मैं संकोच से दबा जा रहा था। अगले ही क्षण मैं साहसपूर्वक खड़ा हो गया।

इससे पहले कि राधाराम कुछ कहना शुरू करता, श्रोताओं ने तालियों से उसका स्वागत किया।

राधाराम ने गीत शुरू करने से पहले कहा, "ये गीत शायद आप लोगों को पसन्द न आयें, फिर भी इतनी मेहरबानी तो कर ही सकते हैं कि मेरे दो बोल ध्यान से सुन सकें। जैसे मैं अपने गाँव में एक भंगी का बेटा हूँ और गाँव के लोग मुझे छूने में संकोच करते हैं, यह और बात है कि यहाँ इस स्कूल में मेरे साथ अधिक छूतछात का व्यवहार नहीं किया जाता, वैसे ही ये गीत, जो मैं आज आपके सामने पेश करने जा रहा हूँ, साहित्य-समाज के अछूत हैं, आज तक हमारे पढ़े-लिखे लोग इन्हें हाथ लगाते डरते रहे हैं। फिर भी मैं आशा करता हूँ कि इस सभा में साहित्य जगत् के इन अछूतों का प्रवेश निषिद्ध नहीं समझा जाएगा, जैसे

इस सभा में एक भंगी के बेटे का प्रवेश निषिद्ध नहीं समझा गया।"

राधाराम को अब तक सब लड़के हाकी के कैप्टन के रूप में ही जानते थे। हमने एक के बाद एक प्रश्नोत्तर के रूप में पंजाबी गीत सुनाने शुरू किये।

मैं राधाराम के साथ मंच पर खड़े-खड़े शुरू में तो बहुत सकुचाता रहा था और मुझे भय था कि कहीं मैं मंच पर खड़ा-खड़ा गिर न जाऊँ। मंच पर आने का यह मेरा पहला अवसर था। मेरे साथ राधाराम न होता तो मैं इस कला में एक-दम असफल सिद्ध होता।

गीत गा चुकने के बाद मैंने साहसपूर्वक कहा, "इन गीतों की पहली कापी मैंने अपने गाँव के मिडल स्कूल में आसासिंह की मदद से तैयार की थी, जिसे आसासिंह के बाप ने चूल्हे में जला दिया था, क्योंकि आसासिंह उस साल आठवीं में फेल हो गया था। यहाँ आते ही मैंने इन गीतों की कापी फिर से तैयार करनी शुरू की। पहले मैंने वे गीत लिख डाले जो मुझे याद थे; फिर दूसरे लड़कों से पूछ-पूछकर लिखने लगा। इस बीच में मैं आस-पास के कई गाँवों में भी घूम आया। अब मजा तो यह है कि राधाराम मुझे हाकी का खिलाड़ी न बना सका, मैंने उसे गीतों का खिलाड़ी बना दिया। हमारे गीत आपने सुन लिये, ये गिद्धा नृत्य के गीत है। मुझे पक्का गाना नहीं आता, लेकिन मैं अपने गाँवों के गीत मज़े से गा सकता हूँ।"

कमिश्नर साहब ने हमें पास बुलाकर ख़ास तौर पर पहले राधाराम से और फिर मुझसे हाथ मिलाया।

यह मेरी पहली विजय थी। कई दिन तक मुझे फिरंगी के हाथ का स्पर्श महसूस होता रहा—'कालड़ीए कलबूतरीए !' वाले फिरंगी का स्पर्श।

बाँसुरी के सात छेद

कमिश्नर साहब के सम्मान में मनाये गये उत्सव में मेरी विजय पर बुद्धराम बहुत खुश हुआ। गरमी की छुट्टियाँ हुईं तो हम इकट्ठे भदौड़ के लिए चले; रास्ते-भर वह यही कहता रहा कि उस दिन कमिश्नर साहब के सामने मैंने मोगा के मथुरादास स्कूल का ही नहीं अपने गाँव के स्कूल का भी नाम रौशन कर दिया था।

भदौड़ पहुँचकर पता चला कि आसासिंह के घर वालों ने उसे योगराज से मिलने से मना कर रखा है। योगराज भी आसासिंह से बोलना नहीं चाहता था। मैंने यही मुनासिब समझा कि बचपन के मित्रों में फिर से प्रेम स्थापित किया जाए। इसके लिए मैंने बुद्धराम से भी प्रार्थना की और उसने आँखें मटकाते हुए कहा, "मैं यह काम कर दिखाऊँगा। यह तो मेरे बायें हाथ का खेल है।"

फिर एक दिन मैं योगराज से मिला तो पता चला कि बुद्धराम ने झूठ-मूठ उसे हमारे स्कूल के उत्सव का हाल सुनाते हुए बताया था कि मुझे उस दिन कमिश्नर साहब के सामने मुँह की खानी पड़ी थी। लगे हाथ बुद्धराम ने योगराज को यह भी कह दिया था कि चूहड़ों का लड़का राधाराम ही मेरा सबसे बड़ा मित्र है और मुझे उसके साथ एक ही थाली में खाना खाते संकोच नहीं होता। उसने योगराज से यहाँ तक कह पूछ लिया था, "योगराज, तुम देव को अपना दोस्त समझने की कब तक ग़लती करते रहोगे?"

मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि बुद्धराम इतना कमीना है। योगराज और आसासिंह के बीच की आग बुझाने की बजाय वह तो उलटा मेरे और योग-राज के बीच भी वही आग भड़काने का यत्न कर रहा था।

मैंने बुद्धराम के पास जाकर पूछा तो वह बोला, "योगराज बकता है। मैंने तो उससे कुछ भी नहीं कहा।"

फिर एक दिन आसासिंह से पता चला कि बुद्धराम उससे साफ़-साफ़ कह चुका है, "योगराज और देव दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। दोनों को घमंड हो गया है। उन्हें न आसासिंह पसन्द है न बुद्धराम।" फिर आसासिंह ने हँसकर

कहा, "बक़ौल बुद्धराम, मोगा में तुम हर किसी के सामने मुझे बुद्धू बनाया करते हो।"

बुद्धराम की कमीनगी पर मुझे बड़ी झुँझलाहट हुई। जी में तो आया कि उसी समय बुद्धराम के यहाँ पहुंचकर उस पर झपट पड़ूँ और घूँसे मार-मारकर उसका मुँह सुजा दूँ। लेकिन आसासिंह ने मुझे शान्त करते हुए कहा, "मैंने बुद्धराम की बात पर बिलकुल यकीन नहीं किया था। ज़रा सोचो तो। मैं यह कैसे मान लेता कि देव को अपने बचपन के दोस्त आसासिंह से नफ़रत हो गई है। तुमने यह कैसे सोच लिया कि बुद्धराम ने जो कहा मैंने उस पर यकीन कर लिया!"

मैंने कहा, "बुद्धराम की बात छोड़ो, आसासिंह! जैसे पत्ते-पत्ते की कतरन न्यारी है वैसे इन्सान-इन्सान का स्वभाव भी न्यारा होता है। तुम ही सोचो। एक यह बुद्धराम है कि मुझसे हमेशा जलता रहता है, एक हमारे स्कूल के बोर्डिंग हाउस का चौकीदार बंसी है कि बात-बात में मुझ पर अपना स्नेह उँडेलता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि टिकी हुई रात में बंसी बाँसुरी खूब बजाता है।"

"जिसका नाम ही बंसी है, वह अगर बाँसुरी भी बजा लेता है तो इसमें ख़ास बात क्या हुई?" आसासिंह ने चुटकी ली।

मैंने कहा, "आसासिंह, काश तुम बंसी की बाँसुरी सुन सकते। काश तुम बाँसुरी के बारे में बंसी की बातें सुन सकते। गरमी की छुट्टियाँ होने से पहली रात उसने अब के मुझे बाँसुरी सुनाकर चारों तरफ़ जादू-सा कर दिया। अन्त में अपने होंठों से बाँसुरी हटाते हुए उसने कहा था—एक बाँसुरी कन्हैया बजाइन, गोपी का मन हर लिहिन, बाबू! एक बाँसुरी हम हूँ बजाई, चाहे हमार गोपी नाहीं, बाबू! बाँसुरी हमार गोपी। इहै हमें दुलार करत। हमारे बच्चापन की सुधि देत है इहै बाँसुरी, माई की निंदिया आई जा रे की सुधि देत है, माई के दूध की सुधि देत है। इहै बाँसुरी पर बाजत है खेत की बात, पहाड़ की बात, वन की बात। दुनिया सोवत है, हमरी बाँसुरी जागत है, बाबू! दुनिया की हमरे पीड़ा की खबर नाहीं न, बाबू! हमार पीड़ा यही बांसुरी के सात छेद से निकरत है, बाबू! बाँसुरी के सात छेद। जैसे जीवन के सात भेद, बाबू! जैसे गाय-भैंस का गारत हैं[1] वैसे बाँसुरी के गारत हैं। बाँसुरी का राग तो जैसे अब ही जल्दी का निकारा दूध है, बाबू! बाँसुरी नाहीं होय तो हम मरि जाई। केकरे साथ बात करी? के हमार पीरा दिल से बाहर निकारे? बाँसुरी हमारे मन की गाँठ खोलत है, सबका प्रेम का राग सुनावत है, बाबू? बाँसुरी के सात छेद, जीवन के सात भेद! बाँसुरी

१. गारत हैं = दुहते हैं।

के सात छेद सबका एक्के बनावत है, बाबू ! बाँसुरी सब बाजा से अच्छी। यह माँ से भगवान् की वाणी निकरत है !"

आसासिंह भौंचक्का-सा मेरी ओर देखता रहा। मेरे कल्पना-पट पर बंसी का चेहरा मुस्करा रहा था। जैसे बंसी कह रहा हो—बुद्धराम बुरा लड़का नहीं है। आख़िर वह तुम्हारा बचपन का मित्र है। बचपन के मित्र तो ऐसे ही होते हैं जैसे बाँसुरी के सात छेद !

मैं कोरा काग़ज़ नहीं हूँ !

मौसी भागवन्ती उन दिनों अपने मायके में थी । पिताजी से पूछकर मैं भी वहाँ जा पहुँचा । छुट्टियाँ खत्म होने में पन्द्रह दिन रहते थे । मेरा कार्यक्रम यह था कि ये दिन दौलतपुरे में गुज़ारकर वहाँ से सीधा मोगा पहुँच जाऊँगा ।

दौलतपुरे तो मैं पहले भी हो गया था । अब के यह गाँव मुझे और भी प्रिय लगा । मौसी मुझे देखकर फूली न समाती थी । अपनी माँ के सामने उसने कई बार मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बड़े प्यार से कहा, "देव तो मुझे शुरू से ही पसन्द है । बचपन में वह मेरे लहँगे का अंचल थामे मेरी तरफ़ देखता रहता और मैं सोचती - हे भगवान्, यह बच्चा कितना प्यारा है !" और यह कहते हुए मौसी मेरी तरफ़ यों देखती जैसे अपनी बात का समर्थन चाहती हो । नानी कहती, "देव तो बहुत भोला है !" मौसी कहती, "देव का मन भदौड़ में न लगा, इसीलिए वह दौलतपुरा चला आया ।" नानाजी कहते,"हम देव को अब कहीं नहीं जाने देंगे ।" मौसी फिर कहती, "छुट्टियाँ खत्म होने तक तो हम उसे बिलकुल नहीं जाने देंगे । छुट्टियाँ खत्म होने पर तो उसे मोगा पहुँचना ही होगा ।"

दौलतपुरा मुझे भदौड़ से भी अच्छा लगा । कई बार मैं नानाजी के साथ खेतों में चला जाता । नानाजी का हल मुझे अपना हल प्रतीत होता; उनके बैल जैसे मेरे बैल हों । दौलतपुरे की सुबह-शाम से मैं इतना हिल गया कि मुझे इसमें एक नये छन्द और स्वर का आभास होने लगा । दौलतपुरे के मेघ जैसे भदौड़ के मेघों से अधिक कजरारे हों ! यहाँ का सूरज-चाँद, यहाँ के सितारे, यहाँ के पशु-पक्षी, यहाँ के वृक्ष, यहाँ की लताएँ—प्रकृति की एक-एक रूप-रेखा जैसे बड़ी आत्मीयता लिये हुए हो । यहाँ की हवाएँ जैसे मेरा आलिंगन कर रही हों । खेतों में चली जा रही किसान स्त्रियाँ, घास चरती गाय-भैंसें, पौधों पर मुह मारती बकरियाँ—सब मुझे अपनी तरफ़ बुलाती प्रतीत होतीं । मेरे मन में एक उत्सुकता अपना अंचल पसा-रती रहती, चारों ओर एक खुशबू-सी उठती रहती जो वर्षा के पहले मेघ की रिमझिम के पश्चात् धरती की पगडण्डियों पर सरकती चलती हैं, एक खुशबू, जो गाय-भैंस के ताजा दूध से उठती है जब दूध की दोहनी पर दूध की धार पड़ती है और झाग यों उठती है जैसे अभी नीचे गिरकर धरती का स्पर्श कर लेना चाहती

हो। यहाँ कुछ भी शोभाहीन न था, कुछ भी निष्प्राण न था, जैसे प्रकृति नई फ़सलों की आशा में मुस्करा रही हो, जैसे प्रकृति की मुस्कान भदौड़ की प्रकृति की मुस्कान से एकदम अछूती हो।

घर में मौसी के पास बैठे-बैठे मैं उदास हो जाता। मौसी पूछती, "तुम्हें क्या चाहिए?" अब मैं क्या बता सकता था? मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिए था। मैं खामोश रहने लगा था। मौसी को मेरी ख़ामोशी अच्छी नहीं लगती थी। मुझे तो दूर-दूर अकेले घूमना ही पसन्द था। यहाँ न बुद्धराम था, न आसासिंह, न योग-राज। बुद्धराम यहाँ नहीं था, यह तो अच्छा था। लेकिन कभी-कभी योगराज और आसासिंह का अभाव मुझे बुरी तरह खटकने लगता। इसका इलाज यही था कि मैं मज़े से उनका स्मरण करता, उनकी अच्छी-अच्छी बातें याद करता। कभी-कभी बुद्धराम की पुरानी हँसी-दिल्लगी याद आती, तो हृदय पुलकित-सा हो उठता, लेकिन उसकी हाल की कमीनगी की याद आते ही जैसे मेरे मुँह का जायका खराब हो जाता। इसकी याद आते ही मेरे मन पर चोट लगती। इसलिए मैंने मौसी से भी बुद्धराम के बारे में कुछ नहीं कहा था, हालाँकि वह कई बार भदौड़ वाले मित्रों के बारे में पूछ चुकी थी।

प्रकृति की रूप-माधुरी में मेरा मन खिंचता चला गया। कई बार मैं सोचता कि मुझे तो भदौड़ की बजाय दौलतपुरे में ही जन्म लेना चाहिए था। दौलतपुरे में न मिडिल स्कूल था, न अस्पताल, न थाना; न यहाँ सात किले थे, न यहाँ सर-दार थे। यहाँ नई सभ्यता का गुल-गपाड़ा कहीं न था। कई बार खेतों से दूर निकल जाता तो मुझे चूहड़राम की याद आती। वह यहाँ होता तो मेरे मन की वेदना समझ सकता। कभी-कभी मैं सोचता कि यह भी तो हो सकता था कि चूहड़राम हाकी स्टिक हिलाकर कहता—चलो यहाँ से भाग चलें, यहाँ हमारे लिए क्या रखा है?

कई बार चलते-चलते मैं पीछे मुड़कर देखता, जैसे चूहड़राम मेरे पीछे चला आ रहा हो। मैं सोचता कि चूहड़राम तो यहाँ मेरी अवस्था देखकर यही कहता—हिरनी के बच्चे, ये तुम्हारे सींग कब से निकलने लगे? अरे भई, यों हर झाड़ी की जड़ में, हर वृक्ष के तने पर क्यों सींग मारते फिरते हो? इसके लिए तुमने दौलतपुरा ही क्यों चुना?···और मैं सोचता कि यदि चूहड़राम सचमुच यहाँ आ निकले और मुझसे यह प्रश्न करे तो मैं इसका क्या उत्तर दे सकता हूँ।

छुट्टियाँ खत्म होने में तीन दिन रह गये थे और मैंने अभी तक मोगा जाने का प्रसंग न चलाया था। मौसी मुझे खाना खिलाते समय बार-बार कहती, "अब फिर कब आओगे दौलतपुरे?" मैं कुछ उत्तर न देता। वैसे मैं कहना चाहता था—तुम मुझे यहाँ से भेजने पर क्यों तुली जा रही हो, मौसी? मान लो मैं यहाँ से न जाऊँ तो तुम क्या कर सकती हो?

एक दिन मैंने तय किया कि मैं दौलतपुरे से कभी नहीं जाऊँगा। भाड़ में जाय मोगा, भाड़ में जाय भदौड़। मैंने सोचा कि पढ़ना-लिखना भी महज़ मग़ज़पच्ची के सिवा कुछ नहीं। दौलतपुरे में न अखबार की बकवास थी, न सन्ध्या की घण्टी बजती थी, न बोर्डिंग हाउस का कोई सुपरिण्टेण्डेण्ट किसी के हाथ पर बैंत बरसाता था, न कोई सेकण्ड मास्टर किसी लड़के के कान मसलता था। न पास होने की खुशी, न फेल होने का ग़म। यहाँ सब कुछ मुक्त था, प्रकृति के समान ही मुक्त और आत्मीयता से परिपूर्ण। मैं भी मुक्त रहना चाहता था।

जिस दिन छुट्टी का आखिरी दिन था, मौसी ने ज़ोर देकर कहा, "मोगा जाने की तैयारी कब करोगे, देव ?"

"आज नहीं, मौसी !"

"तो कल जाओगे ?"

"कल भी नहीं।"

"वहाँ जुर्माना कौन भरेगा ?"

"मौसी, मैं अभी नहीं जाऊँगा।"

"छुट्टियाँ खत्म होने पर भी यहाँ कैसे रहने देंगे तुम्हारे पिताजी ?"

मैंने इस प्रश्न का कुछ उत्तर न दिया। वैसे मेरे चेहरे पर इस प्रश्न का उत्तर साफ लिखा हुआ था जिसे मौसी ने पढ़ लिया।

नानी ने मौसी को खूब आड़े हाथों लिया, "तुम लोगों को हो क्या गया ? बच्चा है, दौलतपुरे आया है, चला जायगा जब उसका जी चाहेगा।"

मौसी चुप रहो। नानी मुझे पुचकारती रही, "बेटा, मैं तो कहती हूँ, तुम यहीं रहो। यह भी तुम्हारा घर है। तुम भी हल चलाया करो अपने नानाजी के साथ।"

"पढ़ना-लिखना भी तो हल चलाने के समान है, माँ।" मौसी ने व्यंग्य कसा।

"मैं पढ़ना नहीं चाहता, मौसी !" मैंने ज़ोर देकर कहा।

"पढ़ोगे नहीं तो ढोर रहोगे ?"

"तो ये लोग जो पढ़े हुए नहीं हैं सब ढोर हैं, मौसी ?"

"हाँ, ये सब ढोर हैं !"

मैं कहना चाहता था—इस हिसाब से तो तुम भी ढोर हो, मौसी ! लेकिन मैं खामोश रहा।

मौसी ने नानी के कान में कुछ कहा। नानी ने उसे हाथ से परे करते हुए कहा, "इसके पिताजी का हमें कोई डर नहीं सताता। लड़का जैसा उनका वैसा हमारा। वह खुद समझदार है। वह जब तक चाहेगा यहाँ रहेगा।"

उस दिन मैं नाराज़ होकर खेतों की तरफ़ निकल गया। मुझे लगा कि मौसी से तो नानी ही ज्यादा अक्लमन्द है और मैं अब तक मौसी को ही अक्लमन्द समझता रहा। मैंने तय किया कि कई दिन तक मौसी से बोलूँगा नहीं, मौसी खुद ही

सीधी हो जायगी। मौसी के मुँह से निकला हुआ हर शब्द मेरे अपमान का सूचक था। यह सोचकर मैं खेतों में चलता गया, चलता गया। उस दिन मैं घर लौटा तो मेरे पैर दर्द करने लगे।

कई दिन तक मैंने मौसी से कोई बात न की, न मौसी ही मुझसे बोली। नानाजी को मेरी नाराज़गी का पता चला तो वह हर तरह से मुझे खुश रखने का यत्न करने लगे। कभी वे मुझे कुश्तियाँ दिखाने ले जाते, कभी वे मुझे अपने साथ 'हीर' सुनवाते। मैं ख़ामोश रहता। एक दिन वे बोले, "क्या भदौड़ में भी कोई 'हीर' पढ़ने वाला है ?"

"वहाँ कोई इतने मीठे स्वर में हीर पढ़ना नहीं जानता।"

"वहाँ कुश्तियाँ होती हैं ?"

"बिलकुल नहीं।"

नानाजी यह सुनकर बहुत हैरान हुए। इतना तो वे भी जानते थे कि मैं तो मोगा को भी अच्छा नहीं समझता, भदौड़ तो फिर चीज़ ही क्या है।

एक दिन नानाजी मुझे एक नचार का नाच दिखाने ले गये। देखने में अखाड़े के अन्दर एक स्त्री नाच रही थी, लेकिन नानाजी ने बता दिया कि मक्खन नचार ने स्त्री का रूप धारण कर रखा है।

मक्खन नचार बिलकुल किसी स्त्री की तरह नाच रहा था। मुझे लगा कि भदौड़ में तो क्या, मोगा में भी ऐसा कोई नचार न होगा। बिलकुल स्त्री की-सी सलवार कमीज़ थी, वैसे ही सिर पर सोने के फूल पहन रखे थे, वैसा ही सोने का चौंक। आँखों में काजल के डोरे। दर्शकगण मन्त्रमुग्ध-से बैठे थे; उनमें से कुछ मक्खन को संकेत से अपने पास बुलाते और जब वह घुँघरुओं की झंकार के साथ अपने किसी प्रशंसक के पास आता तो वह उसके हाथ में एक रुपया थमा देता। मक्खन उन्हीं पैरों पर पीछे मुड़ जाता; उस रुपये को हाथों पर उछालता, जैसे उसे दुनिया-भर की दौलत मिल गई हो।

मक्खन नचार का नाच देखते-देखते मुझे लगा कि उसका नाच तो सचमुच उन नर्तकियों से भी अच्छा है जिनका नाच मैंने मौसी बुद्धां की लड़की के विवाह में तलवण्डी में देखा था। भदौड़ में सरदारों के किले में नर्तकियों का जो नाच देखा था, उससे भी तो यह नाच होड़ ले रहा था। हाव-भाव एकदम नर्तकी के-से। मैंने नाना जी से कहा, "मक्खन पिछले जन्म में स्त्री रहा होगा।"

"इस जन्म में भी तो मक्खन किसी स्त्री से कम नहीं।" नानाजी ने हँसकर कहा।

नाच के घेरे में मक्खन ने सभी को मुग्ध कर रखा था। सत्य तो यही था कि मक्खन पुरुष था, लेकिन जैसे उससे भी बड़ा सत्य यह हो कि वह स्त्री है।

ऐसा नाच मैंने कभी नहीं देखा था। मैं हर किसी से कह सकता था कि दौलत-

पुरे का मक्खन नचार सबसे अच्छा नचार है। यह बात मेरे मन पर अंकित हो गई थी।

मैं खुश था, भले ही मौसी मुझसे नहीं बोलती थी। मैं सोचता कि नानी तो हँसकर बात करती है। कभी-कभी मैं सोचता कि मैं मौसी की क्या परवाह करता हूं, नानी मुझे यहाँ रखने को तैयार है, तो मौसी कैसे मुझे दौलतपुरे से निकाल सकती है।

स्कूल की छुट्टियाँ खत्म हुए बीस दिन हो चुके थे और मैंने मोगा जाने का नाम तक न लिया। अब तो मैंने समझ लिया कि मेरी जीत हो गई।

नानाजी ने एक दिन सवेरे-सवेरे कहा, "देव, हल चलाना कब सीखोगे ?"

"जब आप सिखायेंगे, नानाजी !"

उस दिन से मैं सचमुच हल चलाने का अभ्यास करने लगा। कई बार बैल आगे बढ़ जाते और मैं उनके पीछे यों भागता, जैसे नौसिखिया गायक रागिनी के पीछे भागता है। मेरा विश्वास था कि अब मैं यहीं रहूँगा और दौलतपुरे की धरती कभी मेरा तिरस्कार नहीं करेगी।

एक दिन अचानक मित्रसेन आ पहुँचा। मौसी उसके स्वागत में फूली न समाती थी।

मेरी नमस्ते का मित्रसेन ने कुछ उत्तर न दिया। वह मुझसे नाराज़ मालूम होता था।

अगले दिन उसने लाल आँखों से मेरी तरफ़ देखते हुए कहा, "आराम से स्कूल चले चलोगे, या कहो तो वह वारंट निकालकर दिखाऊँ जो मैं भदौड़ से ले आया हूँ।"

मैंने कहा, "भाई साहब, मैं मोगा नहीं जाऊँगा।"

"पढ़ने का इरादा नहीं है ?"

"नहीं, भाई साहब !"

"तो क्या बड़े होकर हमारे खानदान का नाम डुबाओगे ?"

अब तो नानी और नानाजी भी कहने लगे कि मुझे आराम से मोगा पहुँचकर स्कूल में हाजिर हो जाना चाहिए।

मौसी अब भी कुछ न बोली।

अगले दिन सवेरे-सवेरे मित्रसेन ने दो घोड़ियों का इन्तज़ाम किया और साथ वाली घोड़ी पर मुझे बिठाकर साथ ले लिया। डक्‍कू रेलवे स्टेशन पर पहुँचकर हमने दोनों घोड़ियाँ दो मज़दूरों के हाथ वापस कर दीं और हम मोगा की गाड़ी का इन्तज़ार करने लगे।

मुझे लगा कि दौलतपुरे ने अपनी तूलिका से मेरे मन पर जो चित्र अंकित किया है वह कभी नहीं मिट सकता। मैं मन-ही-मन गीत की टेक की तरह गुनगुना रहा था—मैं कोरा कागज़ नहीं हूँ !

गीत नहीं मरता

मित्रसेन का मुझ पर पिताजी से भी कहीं अधिक रोब था। हमारा बचपन एक साथ नहीं बीता था, जैसा मेरा और विद्यासागर का। उसे मिलने के तो मुझे गिनती के अवसर मिले थे जिनमें सबसे दिलचस्प अवसर था उसके साथ पटियाला की यात्रा। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि मित्रसेन दौलतपुरा आ पहुँचेगा और मुझे पुलिस के सिपाही की तरह कान से पकड़कर मोगा ले जायगा। उसके पास पिताजी का वारण्ट कैसे पहुँचा, मैं तो यह पूछते भी डरता था। मुझे अपने अपराध का थोड़ा आभास होने लगा था, इसलिए जब हमने मोगा रेलवे स्टेशन पर उतरकर मथुरादास स्कूल के लिए ताँगा लिया, मुझे लगा कि पिंजरे का पंछी फिर पिंजरे की तरफ़ जा रहा है।

दौलतपुरा से डक्रू तक और डक्रू से मोगा तक मित्रसेन गाड़ी में ख़ामोश बैठा रहा था। उसकी ख़ामोशी मेरे अपराध को सिद्ध करने में सफल हो चुकी थी। ताँगे में बैठते ही उसने मुझे पुचकारना शुरू किया। उस समय मुझे उसका स्वभाव बहुत प्रिय लगा। उस समय तो मुझे मित्रसेन की बाएँ हाथ से बाँधी जाने वाली पगड़ी भी बहुत अच्छी नज़र आने लगी।

अपने और मित्रसेन के बीच मैं समानता ढूँढ़ने लगा। हम दोनों का कद लम्बा था। इस लिहाज से हम माँ के ऋणी थे; विद्यासागर तो पिताजी की तरह नाटा था। मैंने सोचा कि मित्रसेन मेरी तरह हँसमुख भी होता तो वह इस दृष्टि से भी मेरी तरह माँ के अधिक समीप होता। वैसे हमारी आँखें माँ की तरह बड़ी-बड़ी थीं। मित्रसेन का स्वाभाविक भारी गला उसे पिताजी के समीप ले जाता था, मैं इस दिशा में भी माँ के समीप था। समानता और असमानता की बात छोड़कर मुझे इस परिणाम पर पहुंचते देर न लगी कि मित्रसेन ने जो-कुछ किया, मेरे भले के लिए किया।

बोर्डिंग हाउस में पहुँचकर मित्रसेन ने मुझे बताया कि पहले मौसी ने भदौड़ चिट्ठी भिजवाई, फिर भदौड़ से पिताजी की चिट्ठी बरनाला पहुँची जिसमें ताकीद की गई थी कि मित्रसेन फौरन दौलतपुरा के लिए चल पड़े और देव को समझा-बुझाकर वापस मोगा के स्कूल में छोड़ आये।

निहालचन्द को मित्रसेन के आने की सूचना मिली तो वह दौड़ा-दौड़ा मिलने आया और उसने मित्रसेन के सामने मेरी प्रशंसा करके मेरा मन फिर से जीत लिया। जब निहालचन्द चला गया तो बुद्धराम आ गया और उसने आते ही पूछा, "भदौड़ से दौलतपुरे जाकर तुम वहीं क्यों बैठे रहे? क्या तुमने अकेले-अकेले स्कूल छोड़ने का फैसला कर लिया था?"

मित्रसेन ने हँसकर कहा, "मैं न आता तो ये हज़रत दौलतपुरा में हल चलाना सीख रहे होते।"

"अच्छा तो यह बात है?" बुद्धराम ने हैरान होकर कहा, "गीतों का शौक देव को इतना गुमराह कर सकता है यह तो मैं अब समझा।"

मित्रसेन ने चौंककर मेरी तरफ़ देखा। मैंने आँखें झुका लीं। मित्रसेन ने कहा, "सच-सच बताओ, देव! बुद्धराम झूठ तो नहीं कह रहा होगा!"

बुद्धराम मित्रसेन को सम्बोधन करते हुए बोला, "मुझसे सुन लीजिए, भाई साहब! इसकी गीतों वाली पहली कापी तो भदौड़ में आसासिंह के पास रहती थी। उस कापी ने ही आसासिंह को पहली बार आठवीं में फेल कराया था। आसासिंह के बाप ने उस कापी को जला डाला था।"

"लेकिन आसासिंह तो सुना है आठवीं में दूसरी बार भी फेल हो गया था।" मित्रसेन ने गम्भीर होकर कहा।

"मज़ेदार बात तो यह हुई," बुद्धराम ने सतर्क होकर कहा, "कि आसासिंह को उस कापी के बहुत-से गीत याद हो गये थे और वह अक्सर उन्हीं के पीछे मस्त रहता था, उन्हीं गीतों ने उसे दोबारा फेल कराया।"

"लेकिन देव तो पहली बार ही आठवीं में पास हो गया था, बुद्धराम!" मित्रसेन ने हँसकर कहा, "लेकिन तुम क्यों फेल हो गये थे पहली बार आठवीं में।"

"मुझे योगराज की संगत ने फेल करा दिया था, भाई साहब!" बुद्धराम बोला, "दूसरे साल मैंने योगराज को छोड़ा तो इसका यह फल हुआ कि मैं तो आठवीं में पास हो गया, योगराज फिर फेल हो गया।"

फिर बातों-बातों में मेरी गीतों वाली कापी की चर्चा चल पड़ी, जिसके बारे में एक बार चूहड़राम ने गलती से उसे बता दिया था।

"देव ने अपने ट्रंक में कपड़ों के नीचे मोटी-सी जिल्द वाली कापी छिपा रखी है," बुद्धराम ने गम्भीर होकर कहा, "उसमें देव ने गँवारू पंजाबी गीत लिख छोड़े हैं और यदि यह कापी उससे छीन न ली गई और किसी तरह उसे इस तरफ़ से न रोका गया तो वह दसवीं में पहली बार तो फेल होगा ही, दूसरी-तीसरी बार भी फेल होता रहे तो कोई मुज़ायका नहीं।"

बुद्धराम की इस कमीनगी पर मुझे बहुत क्रोध आ रहा था। मित्रसेन की आँखें ज़रा भी लाल न हुईं। उसने उलटा हँसकर कहा, "बुद्धराम, तुम देव को अब भी

अपना दोस्त समझते हो, यह तो बहुत अच्छी बात है। तुम्हें देव की पढ़ाई की इतनी परवाह है, यह और भी खुशी की बात है। लेकिन मुझे विश्वास है कि देव पढ़ाई में किसी से कम नहीं। दौलतपुरा में जाकर उसने ये बीस दिन गँवा दिये, उसका यह कसूर अवश्य है। लेकिन वह यह कमी पूरी कर लेगा। आखिर वह बच्चा तो नहीं है कि अपनी भलाई-बुराई भी नहीं समझता।"

मैं बहुत खुश था कि मित्रसेन पर बुद्धराम की शिकायत का ज़रा असर नहीं हुआ। बुद्धराम अपना-सा मुँह लेकर चला गया।

मित्रसेन ने मुझे पुचकारते हुए कहा, "वह गीतों वाली कापी मुझे नहीं दिखाओगे, देव ?"

मैंने झट उठकर ट्रंक खोला और वह कापी निकालकर मित्रसेन के हाथ में थमा दी। वह देर तक इसके पृष्ठ उलट-पलट कर देखता रहा। "इसमें तो कोई बुराई नहीं", वह बोला, आखिर ये गीत हैं और कहीं-कहीं तो इन गीतों का मतलब बहुत अच्छा मालूम होता है।"

"बुद्धराम को तो यों ही मुझसे चिढ़ हो गई है, भाई साहब !" मैंने कहा, "वह तो बस इसी बात से जला हुआ है कि वह नौवीं में है तो मैं दसवीं में क्यों हूँ ! वह तो यही चाहता है कि मैं दसवीं में फेल हो जाऊँ और वह मेरे साथ शामिल हो जाय।"

"तो तुम उसे यह मौका ही न दो।"

"मैं तो उसे यह मौका हर्गिज नहीं दूँगा।"

"पास होकर दिखाना ही काफ़ी नहीं, अच्छे नम्बरों पर पास होकर दिखाओ।"

"बहुत अच्छा, भाई साहब !"

"ये तुम्हारी कापियाँ मैं ले जाता हूँ अपने साथ। मैं सँभालकर रखूँगा तुम्हारी यह अमानत।"

"और अगर पिताजी को इसका पता चल गया।"

"मैं उन्हें नहीं बताऊँगा।"

मित्रसेन की बात पर अविश्वास करने का तो प्रश्न ही न उठा। उसने सहानुभूति द्वारा मेरे मन पर विजय पा ली और वह मेरी कापी लेकर बरनाला चला गया।

राधाराम को मेरी गीतों वाली कापी के छिन जाने का पता चला तो वह बहुत खुश हुआ। अमीचन्द को भी इससे कुछ कम खुशी न हुई। राधाराम बोला, "अब हम तीनों के दसवीं में पास होने की गारंटी हो गई ?"

मेरे दौलतपुरा जाकर बैठ रहने की बात न अमीचन्द समझ सका न राधाराम। वे तो इस बीच में बहुत उदास रहे थे। खुशीराम भी कई बार उनसे मेरे सम्बन्ध में पूछने आता कि देव कहाँ गायब हो गया। अब मुझे देखकर बोर्डिंग हाउस और स्कूल में मेरा प्रत्येक मित्र खुश होकर मिला।

चुनौती

मैंने तय किया कि मैं दसवीं में अच्छे नम्बरों पर पास होकर दिखाऊँगा और बुद्धराम को यह अवसर न दूँगा कि वह मेरे साथ शामिल हो जाय। मन-ही-मन मैं मित्रसेन का आभार मान रहा था, क्योंकि वह दौलतपुरा न आता तो मैंने तो अपनी पढ़ाई की ओर से हमेशा के लिए मुँह मोड़ लिया होता।

गरमी की छुट्टियों में मैं घर पहुँचा तो मित्रसेन के विवाह में बाराती बनकर नाभा जाने का अवसर मिला। विद्यासागर खुश था कि जयचन्द के विवाह के बाद एक नम्बर और कम हो गया। मैं खुश था कि दो भाभियों के बाद तीसरी भाभी और आ गई।

हमारे परिवार की परम्परा के अनुसार बरनाला वाले चाचा पृथिवीचन्द्र के लड़के इन्द्रसेन का विवाह मित्रसेन के विवाह से पहले नहीं होना चाहिए था। इन्द्रसेन मुझसे एक वर्ष ही बड़ा था और मित्रसेन सात वर्ष बड़ा था। विद्यासागर कई बार मजाक करता, "हमें तो अब चौथी भाभी का इन्तजार है।" लेकिन मैं तो अभी से विवाह की बात सोचने के लिए तैयार नहीं हो सकता था।

छुट्टियों में मैंने दिल लगाकर स्कूल का काम खत्म किया और छुट्टियाँ खत्म होते ही मोगा जा पहुँचा। प्रतिपल मुझे यों लगता कि बुद्धराम मुझे चुनौती दे रहा है। मैं तो अब उसके साथ बोलता भी नहीं था।

स्कूल की पुस्तकों के इलावा स्कूल की लाइब्रेरी से लेकर भी मैं बहुत-सी पुस्तकें पढ़ चुका था। खुशीराम कई बार व्यंग्य कसता, "अब तो तुमने पुस्तकों के नीचे दब जाने की ठान ली है।" मैं कहता, "महाशय जी, आप भी तो पुस्तकों के नीचे कुछ कम दबे हुए नहीं हैं, थोड़ा हमें भी दब जाने दीजिए।" खुशीराम खुश था कि मैं छपे हुए पन्नों की शक्ति पहचान गया हूँ। मुझे वही पुस्तक अच्छी लगती जिसकी छपाई में सुरुचि बरती गई होती। जिस पुस्तक की छपाई रद्दी होती उसे देखकर लगता कि इसका लेखक रो रहा है।

किसी पेड़ के नीचे अकेले बैठकर कहानियों की कोई पुस्तक पढ़ना मुझे प्रिय था। हवा में डोलता हुआ वृक्ष चँवर झुलाता रहता। कई बार तो मैं तरंग में आकर गुनगुनाने लगता, जैसे यह कहानी न हो कविता हो। कहानी में घर-द्वार

या खेत-खलिहान का चित्र मुझे पुलकित कर देता; कहानी की जय-यात्रा मेरी जय-यात्रा बन जाती। ये कहानियाँ पढ़ते हुए मुझे लगता कि ये मेरी ताई जी की कहानियों से कितनी भिन्न हैं। किसी कहानी में झरने की चर्चा होती तो मैं झरना देखने के लिए उत्सुक हो उठता; पहाड़ की चर्चा तो जैसे मेरे मन में कोई सोता जादू जगा जाती और मैं सोचने लगता कि क्या सचमुच पहाड़ इतना ऊँचा भी हो सकता है कि आकाश से बातें करने लगे। एक कहानी में सागर-तट का चित्रण पढ़ा तो ताईजी की कहानी के सात सागर पार जाने वाले राजकुमार का ध्यान आ गया। फिर मैं सोचने लगा कि क्या मैं कभी सचमुच सागर देख सकूँगा। कहानियों में अधिक रस आने के कारण 'स्टोरीज़ फ्राम टैगोर' का अध्ययन और मनन तो ऐसा था जैसे हर कहानी मेरे सामने चित्र के समान अंकित हो गई हो।

हमारा एक सहपाठी था रामरत्न, जो पक्का गाना जानता था। एक दिन मैंने उसे स्नानागार में किसी रागिनी का आलाप करते सुना। पूछने पर पता चला कि उसके पिता अच्छे गायक हैं और उसे बचपन से ही संगीत का अभ्यास कराया गया है। रामरत्न उस दिन से मुझे अच्छा लगने लगा। वह मुझे कई राग-रागिनियों के नाम बता चुका था। उसकी हर सूचना मुझे जादू-भरी प्रतीत होने लगी। कई बार मैं अकेले में उससे किसी विशेष रागिनी का स्वर छेड़ने का आग्रह करता और वह पहले तो 'आज नहीं, कभी फिर सही' की रट लगाता रहता और फिर 'अच्छा तो लो' कहकर गुनगुनाना शुरू कर देता। उसका कंठ-स्वर अच्छा था। उसकी कोई रागिनी मैं कभी न सीख सका। फिर भी मैंने अनुभव किया कि उसकी हर रागिनी मेरा ध्यान खींचने की शक्ति रखती है। बागेश्वरी मुझे सबसे अच्छी लगती थी। एक दिन मैं अचानक बागेश्वरी की नकल उतारने में सफल हो गया। रामरत्न के सामने भी मैंने निस्संकोच बागेश्वरी गा सुनाई, तो वह बोला, "तुम कोशिश करो तो गाना सीख सकते हो।"

"अब क्या-क्या सीखे इंसान, रामरत्न?" मैंने कहा, "सबसे पहली समस्या तो दसवीं पास करने की है।"

"दसवीं पास करने के बाद ही सही, तुम्हें गाना जरूर सीखना चाहिए।"

"मैं तो कवि बनना चाहता हूँ।"

"मामूली कवि बनने से मामूली गायक बनने में ज्यादा फ़ायदा है।"

"फ़ायदा और नुकसान की बात तो नहीं जानता, यह तो अपने-अपने शौक की बात है। ख़ैर यह सब तो बाद में होगा, पहले दसवीं तो पास कर लें।"

हमारे जमा-खर्च के खाते में नफ़े का मीलान केवल दसवीं पास करने पर निर्भर था। इधर मैंने लाइब्रेरी के नशे से बचना शुरू कर दिया था। लेकिन रामरत्न मुझे किसी-किसी दिन प्रभात समय ही गुरुद्वारे में ले जाता जहाँ 'आसा दी वार' सुनते-सुनते हमारे मन गद्गद हो उठते। आर्य समाज की साप्ताहिक

मीटिंग में कभी यह रस न आता। 'आसा दी वार' सुनते-सुनते मुझे मास्टर केहरसिंह की याद आने लगती। मैं सोचता कि मास्टर केहरसिंह ने मुझे 'आसा दी वार' का रस लेना क्यों नहीं सिखाया था। जब यह पता चला कि 'आसा दी वार' स्वयं गुरु नानक की रचना है, मेरा मन पुलकित हो उठा। जैसे गुरु की वाणी स्वयं गुरु के ओठों से ही निर्झर के समान झर रही हो। उसके बाद तो मैं कई बार अकेला भी निश्चित समय पर सवेरे-सवेरे 'आसा दी वार' सुनने जा पहुँचता।

परीक्षा समीप आ रही थी—यूनिवर्सिटी की परीक्षा। अब तो गपशप के लिए भी समय नहीं था, न रामरत्न से कोई राग-रागिनी सीखने का, न गुरुद्वारे में जाकर 'आसा दी वार' सुनने का।

परीक्षा से पहले परीक्षा की तैयारी के लिए छुट्टियाँ हुईं, तो मैं बोर्डिंग हाउस में रहकर ही तैयारी करना चाहता था। लेकिन पिताजी का आग्रह था कि मैं गाँव में आ जाऊँ जहाँ मुझे मास्टर आत्मासिंह से मदद मिल सकेगी जो ज्ञानी की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् अब एफ० ए० की अंग्रेजी की परीक्षा मे बैठने जा रहे थे। साथ ही पिताजी का यह ख़्याल भी था कि हमारे पोस्टमास्टर पण्डित आत्माराम, जो इस समय मैट्रिक की अंग्रेज़ी की परीक्षा में बैठने वाले थे, मुझसे थोड़ी मदद ले सकेंगे। मुझे यह प्रस्ताव बड़ा विचित्र-सा लगा कि एक से पढ़ा जाए, एक को पढ़ाया जाय।

रह-रहकर एक विचार आता, एक विचार जाता। कभी यह भय सामने आ जाता कि आसासिंह ख़्वाह-म-ख़्वाह मेरा समय खराब कर देगा, कभी मास्टर केहरसिंह का ध्यान आ जाता, कभी बख्शीखाँ चिट्ठीरसाँ का। कभी मैं सोचता कि वहाँ स्वाँग निकल रहे होंगे, होलियाँ खेली जा रही होंगी; मेरे साथी मुझे घसीट कर ले जाया करेंगे। मैं सोचता कि खुशीराम मुझसे आगे निकल जायगा और मित्रसेन को मैं क्या मुँह दिखाऊँगा, बुद्धराम मेरे साथ आ मिलेगा। मासी क्या कहेगी? नानाजी क्या कहेंगे? मैं इस उतार-चढ़ाव में पिताजी को कोई उत्तर न दे सका।

मैं बोर्डिंग हाउस के कमरे में बैठा पढ़ रहा था। इतने में बुद्धराम ने आकर पिताजी का दूसरा पत्र मेरे हाथ में थमाते हुए कहा, "लो देव, यह तुम्हारा दूसरा वारण्ट आ गया।"

मैंने पत्र पढ़ा। लिखा था, "अगले सोमवार को फत्तू दस बजे सुबह नीली घोड़ी लेकर बद्धनी पहुँच जायगा। भूल न जाना। ऐसा न हो कि उसे खराब होना पड़े।" इस पत्र की पहली प्रतिक्रिया तो यह हुई कि मुझे कुछ नरम होना पड़ा। सोचता था कि यदि पिताजी नाराज़ हो गये तो आगे पढ़ने का मौका नहीं मिल सकेगा। इस ख़्याल ने मुझे इस निश्चय पर पहुँचने के लिए बाध्य किया कि चाहे जो कुछ भी हो मुझे पिताजी की आज्ञा का उल्लंघन न करना चाहिए।

भदौड़ पहुँचा तो होलियों के दिन थे। दिन को रंग उछलता, रात को स्वाँग निकलते। आसासिंह मुझे स्वाँग दिखाये बिना न मानता। स्वाँग देखते समय भी मेरे सामने 'स्टोरीज़ फ्राम टैगोर' के चित्र घूमते रहते। कभी मैं सोचता कि खुशी-राम और अमीचन्द मुझसे आगे बढ़ रहे हैं। कभी मुझे राधाराम की हाकी-स्टिक का ध्यान आ जाता और मैं सोचता कि राधाराम तो कभी फेल नहीं हो सकता, वह तो हर तरह की असफलता को गेंद की तरह अपनी स्टिक से दूर फेंक सकता है।

दिन के समय मैं चौबारे के भीतर छिपकर पढ़ता रहता; लेकिन रात को आसासिंह से छिप सकना सहज न था। एक दिन स्वाँग देखते-देखते एक दुर्घटना देखकर हमारे मन पर गहरी चोट लगी। उस दिन रला मिस्त्री के दल का स्वाँग निकला था। छत से भी ऊँचे बाँस के साथ सटा हुआ एक लड़का कोट-पतलून पहने दिखाया गया था। यह नये ज़माने का स्वाँग था। स्वाँग में रला मिस्त्री ने कुछ ऐसी तरकीब निकाली थी कि यह अंग्रेज़ी लिबास वाला लड़का ऊँचाई पर बिना किसी सहारे के खड़ा नज़र आ रहा था। न उसके नीचे कोई सहारा नज़र आ रहा था, न किनारे पर। बाँस के साथ उसका बूट छू रखा था और ऊपर उसने केवल हाथ की उँगली से बाँस को छू रखा था। बधावा कलाल के दल वालों ने बहुत सोचा, लेकिन वे चकित होकर देखते रह गये। उन्हें इस स्वाँग के रहस्य का पता न चल सका। अचानक बाँस नीचे से टूट गया और वह लड़का नीचे आ गिरा। पता चला कि बाँस टूटा नहीं, बल्कि किसी शरारती ने आरी के साथ बाँस को नीचे से काट डाला था और यही बाँस के गिरने का कारण था। वह शरारती भीड़ में कहीं गुम हो गया। स्वाँग वहीं रुक गया, हमारी गली के तिराहे में जहाँ दो तरफ हमारा घर था। झट यह देखने में आया कि लड़का बेहोश हो गया।

तीसरे दिन सुना कि वह लड़का इतना दहल गया था कि यह भय उसके प्राण लेकर रहा। वह लड़का रला मिस्त्री का सबसे छोटा लड़का था। रला मिस्त्री के लड़के की मृत्यु के कारण इस साल हमारे गाँव की होलियों पर विषाद की कालिमा छा गई।

कई बार मैं सोचता कि गाँव में क्यों आया। मेरी पढ़ाई मुझे बुरी तरह खराब होती नज़र आती। लेकिन अब तो बचे हुए समय का सदुपयोग करके ही सफलता का सपना सत्य सिद्ध किया जा सकता था।

मास्टर आत्मासिंह के साथ मैं दिन के समय नहर पर पढ़ने जाता और रात को अपने पड़ोस में पण्डित आत्माराम के यहाँ पढ़ता रहता। ये दोनों अनुभव बड़े विचित्र रहे। मास्टर आत्मासिंह पढ़ते-पढ़ते पंजाबी कविता की चर्चा छेड़ देते तो मैं उन्हें टोककर कहता, "ज्ञानीजी, इन बातों के लिए तो सारा जीवन पड़ा है।"

रात को पण्डित आत्माराम के यहाँ पढ़ने जाता तो अपनी लालटेन भी साथ ले जाता जिसकी चिमनी नीले रंग की थी। एक दिन उनकी पत्नी बोली, "बाबू जी, हमारी लालटेन की चिमनी कब टूटेगी?" पण्डित आत्माराम उसके सिर पर हाथ मारकर बोले, "ओ भोली, सफेद चिमनी के टूटने से पहले भी तो नीली चिमनी डलवाई जा सकती है।" पण्डित आत्माराम उम्र में मुझसे बड़े थे। यह मेरा पहला अनुभव था कि छोटी उम्र का लड़का भी किसी बड़े आदमी का गुरु बन सकता है। उनकी पत्नी सूत की अट्टियाँ बनाती हुई पास बैठी रहती; उसे विश्वास न आता कि मैं उसके पति से अधिक अंग्रेज़ी जानता हूँ। कभी-कभी वह कोई बात छेड़ देती तो आत्माराम को कहना पड़ता, "तो तुम्हारी मरज़ी मुझे फेल कराने की है!"

छुट्टियों के बाद मैं फिर मोगा आ पहुँचा जहाँ मास्टर महँगाराम ने ज्योमैट्री की एक स्पेशल क्लास लेनी शुरू कर दी। परीक्षा से पहले के ये दिन बड़े मार्के के थे। दूसरे अध्यापकों ने भी चुने हुए नुकतों पर ज़ोर देना आरम्भ कर दिया था।

परीक्षा में बैठने से कुछ दिन पूर्व पिताजी का पत्र आया। लिखा था: "भदौड़ में प्लेग का ज़ोर है। हम लोग गाँव से बाहर आ गये हैं। नहर की कोठी में रहने का प्रबन्ध कर लिया है।" यह ख़बर मुझे झकझोर गई। लेकिन परीक्षा का आतंक भी कुछ कम न था। जैसे प्लेग का भय भी परीक्षा के भय पर हावी न हो सकता हो।

मेरे मन का समस्त भय फिर से उमड़ आया। अपनी ओर से मैंने स्वयं को पढ़ाई में डुबो दिया था; फिर भी परीक्षा-हाल में बैठते समय मुझ पर परीक्षा का बहुत आतंक था।

गाँव का नया जन्म

मैट्रिक की यूनिवर्सिटी परीक्षा के पश्चात् मैं गाँव के बाहर नहर की कोठी में आ गया जहाँ हमारा परिवार आकर ठहरा हुआ था। गाँव में प्लेग होने के कारण गाँव के लोग घर छोड़कर गाँव से बाहर डेरे डाले पड़े थे।

मास्टर आत्मासिंह का परिवार समीप ही एक खेमे में रहता था। मास्टर जी मेरे साथ घूमने जाते तो हमेशा पंजाबी कविता की बात छेड़ देते। इस पर मैं बुरी तरह खीझ उठता। मास्टरजी को उन लोगों की जरा चिन्ता न थी जो प्लेग में चल बसे थे; उन पर तो कविता का भूत सवार था।

एक दिन मास्टर आत्मासिंह और मैं मास्टर केहरसिंह के कोठे में गए, तो वे हँसकर बोले, "प्लेग तो अब पड़ी है और लोग तो अब घर छोड़कर गाँव से बाहर आकर रहने लगे हैं, पर मैंने तो पहले ही बनवास ले रखा है। खैर छोड़िए प्लेग का किस्सा, मेरा शब्दकोश देखिए। अभी यह शब्दकोश अधूरा है। जब यह तैयार हो जाएगा तो दुनिया हैरान रह जाएगी। सबसे ज्यादा हैरानी तो मास्टर रौनकराम को होगी, हालाँकि मैं रौनकराम को कभी नज़र में नहीं ला सकता। उसकी शायरी में कदम-कदम पर कमज़ोरियाँ हैं। सच पूछो तो वह कोई शायरी नहीं है।"

"रौनकराम की बात छोड़िए, मास्टर जी !" मास्टर आत्मासिंह ने चुटकी ली, "सच पूछो तो जो मज़ा पंजाबी कविता में है वह उर्दू कविता में नहीं है।"

मैंने कहा, "यह तो सरासर ज़्यादती है। हर ज़ुबान की कविता का अलग मज़ा है। हम किसी ज़ुबान की कविता के बारे में उलटा-सीधा फ़ैसला तो नहीं कर सकते। पण्डित घुल्लूरामजी से पूछो तो वे यही कहेंगे कि संस्कृत कविता में ही सबसे ज़्यादा मज़ा है।"

"मुझे तुम्हारा घुल्लूराम भी एक आँख नहीं भाता !" मास्टर केहरसिंह ने झुंझलाकर कहा, "घुल्लूराम विद्वान् तो है, लेकिन मास्टर रौनकराम का पिट्ठू है। हाँ अगर घुल्लूराम मेरे साथ मिल जाए और शब्दकोश मुकम्मल करने में सहायता दे तो उसका नाम भी दुनिया में मशहूर हो सकता है। लेकिन मैं जानता हूँ कि घुल्लूराम तो रौनकराम के चक्कर में है। वह कभी मेरे काम में हाथ नहीं

बटा सकता।"

मास्टर आत्मासिंह को मास्टर केहरसिंह के मुँह से ये जली-कटी बातें सुनने में मज़ा आता था। बल्कि वे तो मास्टर केहरसिंह को उकसाते रहते और जब तक केहरसिंह के मुँह से क्रोध की पिचकारी-सी न चलने लग जाती, वे उन्हें बराबर शह देते रहते। गाँव पर प्लेग ने धावा न बोल रखा होता तो किसी तरह मैं आत्मासिंह और केहरसिंह की इस परेशान करने वाली आदत को नज़रअन्दाज़ भी कर देता, पर वर्तमान स्थिति में मैं मन मारकर रह जाता।

धीरे-धीरे प्लेग का असर खत्म हो गया और प्लेग के चंगुल से बचे हुए लोगों ने अपने-अपने घर की खूब सफ़ाई की, और फिर से अपने घरों में आ गए। हमारा परिवार भी घर लौट आया।

प्लेग अपनी कहानियाँ पीछे छोड़ गई थी। जो लोग मर गए थे, उन्हें हमेशा दूध के धोये समझकर बात की जाती। कभी यह शिकायत की जाती कि प्लेग ने बुड्ढों को क्षमा कर दिया था और जवानों को लेकर चलती बनी। उस बुढ़िया को तो हमारी गली के लोग कई बार देखने गये थे जिसे प्लेग निकल आई थी और जिसके सिरहाने पानी का मटका रखकर उसके घर वालों ने घर छोड़कर बाहर जाते समय यह समझ लिया था कि वह अब बच नहीं सकती। उसके घर वालों के आश्चर्य की सीमा न रही जब उन्होंने प्लेग खत्म होने पर घर लौटकर देखा कि वह बुढ़िया घर में झाड़ू लगा रही है। कई बार उस बुड्ढे तरखान के दुर्भाग्य की चर्चा की जाती जिसने अपने पाँच बेटों को अपनी आँखों के सामने मरते देखा था और अपनी पाँचों पुत्रवधुओं और पौत्र-पौत्रियों का पालन करने के लिए स्वयं बचा रह गया था। वह पागलों के समान पड़ोसियों को गालियाँ देता था, जैसे पड़ोसियों ने साजिश करके उसके बेटों को मरवा दिया हो।

हमारी गली पर तो प्लेग ने बहुत दया रखी थी। गाँव में प्लेग फैलने लगी तो हमारी गली के लोग सबसे पहले घर छोड़कर भाग निकले थे।

कहीं कोई चूहा नज़र आ जाता, तो हमें लगता कि इस चूहे पर सवार होकर प्लेग आ रही है। गली के बच्चों के लिए चूहे मारना एक मामूली शग़ल हो गया था। गली के सयाने लोगों के बार-बार मना करने पर बच्चे कहीं इस खेल से बाज़ आये।

मृत्यु के चंगुल से निकलकर हमारे गाँव ने जैसी हारी हुई बाजी जीत ली थी। रला मिस्त्री को तो प्लेग से पहले ही अपने पुत्र से हाथ धोने पड़े थे; पिछले वर्ष स्वाँगों के दिनों में हुई उस दुर्घटना का सारे गाँव पर आतंक था। लोग कह रहे थे—इस बार होली के दिनों में स्वाँग नहीं निकलेंगे।

जब भी मैं अपनी गली में किसी बुड्ढे को चलते देखता तो मुझे लगता कि उसने बहुत बहादुरी दिखाई; मौत को धता बताकर वह अभी तक चल-फिर रहा

है, और अब मामूली बीमारी तो उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती।

बाबाजी को बैठक में बैठे देखकर मुझे लगता कि शायद हमारे गाँव का सबसे बहादुर आदमी यही है जो गावतकिये के सहारे बैठा है। कभी-कभी मैं सोचता कि अगर कहीं प्लेग में हमारे बाबाजी को कुछ हो जाता तो सबसे बड़ा घाटा मुझे ही रहता, फिर मुझे बाबाजी की बातें कहाँ सुनने को मिलतीं।

एक दिन बाबाजी ने खाँसते हुए कहा, "हमारा गाँव तो बड़ी-बड़ी बीमारियों में से गुजर चुका है। चलिए अब के प्लेग ने भी ज़ोर लगाकर देख लिया। लेकिन यह प्लेग भी कोई पहली बार नहीं आई थी, बेटा! पहले भी तो प्लेग पड़ चुकी है। बहुत बरस पहले की बात है। तब तो आधा गाँव खाली हो गया था। इस बार तो प्लेग ने चौथाई गाँव पर भी हाथ साफ नहीं किया। ज़िन्दगी मौत से जूझ रही है। न जाने कबसे हो रही है यह लड़ाई। ज़िन्दगी है कि हार नहीं मान सकती। लोग मरते रहते हैं, लेकिन साथ ही बच्चे पैदा होते रहते हैं। हर बार बच्चा यह पैग़ाम लेकर आता है कि ज़िन्दगी की जीत होकर रहेगी, ज़िन्दगी कभी हार नहीं सकती। जब भी घर में बेटा पैदा होता है, दरवाज़े पर शिरीष के पत्ते बाँधे जाते हैं। मौत दूर से इन पत्तों को देखती है और जी मसोस कर रह जाती है। मौत क्या कर सकती है? कितने बच्चों को इस धरती से उठा सकती है यह डायन मौत? बच्चे पैदा होते रहते हैं। ज़िन्दगी का पलड़ा भारी रहता है। ज़िन्दगी का मेला भरता रहता है!"

मुझे लगा कि हमारे बाबाजी कभी नहीं मरेंगे, हमेशा जिन्दा रहेंगे। मौत उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगी। मुझे खामोश देखकर बाबाजी बोले, "क्यों तुम्हें मेरी बातें अब अच्छी नहीं लगतीं, देव?"

"अच्छी क्यों नहीं लगतीं; बाबाजी?" मैंने पलटकर कहा, "मैं तो सोच रहा था कि प्लेग के बाद हमारे गाँव का नया जन्म हुआ है।"

बाबाजी ने खाँसते हुए कहा, "यही तो मैं भी कह रहा था। लेकिन बेटा, यह तो पहले भी कई बार हुआ है। हमारा गाँव बहुत पुराना है, लेकिन साथ ही हमारा गाँव नया भी है, क्योंकि बार-बार इसका नया जन्म हुआ है!"

बाबाजी का अखबार सुनने का शौक काफ़ी कम हो गया था। मैं कई बार सोचता कि यह तो इस बात का लक्षण है कि बाबाजी अब अधिक दिन जीवित नहीं रहेंगे, इस दुनिया से विदा लेने से पहले ही वे मोह का नाता तोड़ रहे हैं। लेकिन जब मैं बाबाजी के चेहरे पर नज़र जमाकर देखता, मुझे यह महसूस हुए बिना न रहता कि उनका स्थान हमारे घर में कभी खाली नहीं हो सकता। हमारी गली के लोग उनकी बहुत इज्ज़त करते थे। क्या मजाल कि गली से गुज़रते समय बाज़ार का कोई दुकानदार 'लालाजी, नमस्ते!' कहे बिना गुज़र सके। हमारी बैठक के दरवाज़े पर 'लालाजी, नमस्ते!' की थाप बराबर पड़ती रहती।

कई बार मुझे महसूस होता कि जब भी कोई आदमी 'लालाजी, नमस्ते !' कहकर बाबाजी का अभिवादन करता है, उस समय यह एक आदमी की आवाज़ नहीं होती बल्कि एक प्रकार से सारा गाँव उनका अभिवादन करता है।

हमारी गली में बराबर लोग प्लेग से हुई मौत की कहानियों में रस लेते नज़र आते। यह बात बाबाजी को नापसन्द थी। कभी कोई ऐसी बात उनके कानों तक पहुँच जाती तो वे कह उठते, "हर वक्त मौत की बातें करते रहने से भी क्या लाभ है ? हमारे गाँव का यह नया जन्म है और अभी तो कई बार उसका नया जन्म होना बाकी है। हमारा गाँव तो अमर है। मौत इसका क्या बिगाड़ सकती है ?"

कई बार फत्तू ज़ोर देकर कहता, "अल्लाह पाक के हुक्म से ज़िन्दगी कायम है, बाबाजी ! अल्लाह पाक के हुक्म से ही मौत शिकार खेलने आती है।"

मैं कहता, "फत्तू, बन्द करो ये बातें। बाबाजी को ये बातें नापसन्द हैं।"

"हाँ, हाँ, फत्तू !" बाबाजी कहते, "मुझे बिलकुल नापसन्द हैं ये बातें। ज़िन्दगी की बातें करो। ज़िन्दगी के गीत गाओ। चढ़ते सूरज का नाम है ज़िंदगी ! सूरज रोज़ चढ़ता है, रोज़ डूबता है। लेकिन सूरज फिर चढ़ता है। ज़िन्दगी मुस्कराती है। नया जन्म लेती है ज़िन्दगी !"

फत्तू कहता, "मौत ही से तो ज़िन्दगी की पहचान है, बाबाजी !"

"नहीं, फत्तू !" बाबाजी उसे पुचकारते, "बेटा, ज़िन्दगी तो खुद अपनी पहचान है। इतना तो तुम्हारी गाय-भैंसें भी जानती हैं। इतना तो हमारी नीली घोड़ी भी जानती है। ज़िन्दगी स्वयं अपनी छाप है। ज़िन्दगी स्वयं अपनी पहचान है। ज़िन्दगी की ही फ़तह होती रही है। इन्सान कभी मर नहीं सकता। बसा हुआ गाँव कभी उजड़ नहीं सकता। बीज तो क़ायम रहता है ?"

तीसरी मंज़िल

गहरी जड़ें

प्लेग के हाथों बुरी तरह पिटने के बाद हमारा गाँव किसी तरह फिर से सिर उठा रहा था—नई खुशियों की पगडण्डी पर चलता, झकझोले खाता, नई उमंगों से होड़ लेता, नये परिश्रम का अंचल थामता। व्यक्तिगत खुशी से कहीं अधिक सामूहिक खुशी ही मुख्य वस्तु बन गई थी।

जब एक दिन हमारी गली के लोगों को मालूम हुआ कि मैं बहुत अच्छे नम्बर लेकर मैट्रिक की परीक्षा में पास हो गया, तो बारी-बारी आसपास के घरों के लोग हमारे यहाँ बधाई देने आये।

अभी तक यह फ़ैसला तो नहीं हो पाया था कि कालिज में दाख़िल होने के लिए मुझे पटियाला भेजा जाएगा या लाहौर, पर इतना तो तय था कि मुझे आगे अवश्य पढ़ना चाहिए और कालिज में दाख़िल होने के लिए मोगा जाकर सर्टिफिकेट अवश्य ले आना चाहिए।

जब मैं मोगा पहुँचा तो मास्टर महँगाराम ने मुझे अपने पास वाली कुरसी पर बिठाकर मेरा सम्मान किया। स्कूल के दफ़्तर से सर्टिफिकेट लेकर मैं बाहर निकला तो राधाराम ने आकर मुझे भींच लिया। फिर अमीचन्द और खुशीराम ने मुझे अपनी बाँहों पर उठा लिया। पास होने की तरंगों में हम बहे जा रहे थे।

फिर स्कूल के हाल के दरवाज़े पर खड़ा बुद्धराम मुझे मिल गया। उसे नौवीं से दसवीं में होने की खुशी न थी, जितना यह ग़म कि मैं दसवीं से निकल गया। मैंने उसे अपनी बाँहों में भींचते हुए कहा, "हमारी बधाई भी स्वीकार नहीं करोगे, बुद्धराम? चलो आज तो हम तुमसे जलेबियाँ खाएँगे दूध में डलवाकर।" और कुछ ही क्षणों में हम स्कूल के अहाते में हलवाई की दुकान पर जा पहुँचे।

मोगा से गाँव में लौटकर मैंने देखा कि मैट्रिक में पास होकर मैंने अपने परिवार के सम्मुख एक समस्या खड़ी कर दी है। मेरे मन पर गाँव और परिवार की समस्याओं का बहुत प्रभाव पड़ा था। गाँव की मुसीबतों की छाया में मुझे अपने परिवार की स्थिति बहुत असन्तोषजनक प्रतीत होने लगी। पिताजी का ठेकेदारी का काम पिछले दो साल से बिलकुल बन्द था। सब आमदनी ठप हो गई थी। घर का खर्च ज़रा भी कम न हुआ।

"नहर के महकमे में ऐसे अफसर आ गये जो खाऊ यार हैं !" पिताजी बार-बार कहते, "ऐसी हालत में मेरे लिए काम करना आसान नहीं। मैंने बहुत अच्छे दिन देखे हैं। बड़े-बड़े एस० डी० ओ० मेरे इशारों पर नाचते रहे हैं। इसलिए नहीं कि मैं उन्हें रिश्वत देता था, बल्कि इसलिए कि वे ईमानदार ठेकेदार की ही क़दर करते थे। अब ज़माना दूसरी किस्म का आ गया। ईमानदारी मर रही है। चार सौ बीस किस्म के ठेकेदारों की चाँदी है।"

मैं पिताजी की बातें सुनता और खामोश रहता। एक दिन पिताजी बोले, "नारायण चूहड़ा, जो कल तक हमारा मेट था, अब ठेकेदार बन गया है।"

माँ जी ने कहा, "नारायण को भी अच्छी रोटी खाने को मिलने लगी है, तो हमें क्यों ईर्ष्या हो ?"

"ईर्ष्या तो नहीं है। लेकिन मैं पूछता हूँ हम कहाँ से रोटी खायें।"

"हमारा भी भगवान् है।"

"दो साल से तो भगवान् चुप हैं। सब काम ठप पड़ा है। कब तक उधार-खाते में चलेगा हमारा जीवन ? और फिर अब देवेन्द्र की पढ़ाई का सवाल सिर पर आ गया। हम पर दो साल का कर्ज़ पहले ही कुछ कम भारी नहीं है।"

"अब देव को पढ़ाना तो होगा।"

"मैं कहता हूँ उसे ठेकेदारी में डाल लें।"

"जैसे-तैसे लड़के की पढ़ाई तो आगे बढ़ाइए।"

"अच्छा सोचूँगा।"

बैठक में बाबाजी के पास बैठे-बैठे मैंने पिताजी और माँ जी की बातें सुनीं, तो मेरे दिल पर गहरी चोट लगी।

बरनाला वाले चाचा वकील थे। बड़ा भाई मित्रसेन अर्ज़ीनवीस था। जयचन्द गाँव के किले की नौकरी छोड़कर भटिण्डा में नौकर हो गया था। हमारा सम्मिलित परिवार था। एक कमाये, दस खायें, यही हमारे परिवार की परम्परा थी। अब तो तीन आदमी कमाने वाले थे। क्या उनमें से कोई भी मेरी पढ़ाई का खर्च नहीं दे सकता था ? यह सोचकर मैं बेचैन हो जाता। यही बात थी तो जयचन्द और मित्रसेन के विवाह पर कम खर्च किया होता। कर्ज़ की बात पर तो मुझे ज़रा विश्वास न होता। जिस घर में तीन-तीन आदमी कमाने वाले हों, उस पर कर्ज़ होने की बात तो सिरे से फ़ज़ूल थी। लेकिन मैं तो इस सम्बन्ध में ज़ुबान न खोल सकता था।

"मेरी भी यही राय है कि देव को कालिज में ज़रूर भेजा जाय।" एक दिन बाबाजी ने ज़ोर देकर कहा, "इतने होनहार लड़के को किसी काम पर लगाने के लिए बी० ए० तो कराना ही चाहिए, क्योंकि अब पहला ज़माना तो नहीं है जब अंग्रेज़ नया-नया आया था और रोज़गार का यह हाल था कि मामूली पढ़े-लिखे

लड़के को ही उठाकर पटवारी बना दिया जाता था। जब मैं पटवारी बना, मैं कौनसा ज्यादा पढ़ा हुआ था।"

"सवाल तो ख़र्च का है," पिताजी बोले, "घर का हाल तो बेहाल-सा हो रहा है। कालिज की पढ़ाई तो बहुत महँगी पड़ती है। कालिज के ख़र्च से पार पाना तो आसान नहीं।"

बाबाजी और पिताजी में यह वार्त्तालाप बैठक में हो रहा था। मैंने पास वाले कमरे में खड़े-खड़े ये बातें सुनीं, तो मैं फिर उदास हो गया।

मैं दौड़ा-दौड़ा मास्टर रौनकराम की दुकान पर पहुँचा और मैंने उनसे कहा, "मुझे कालिज में दाखिल कराने में मदद दें, मास्टरजी ! पिताजी आपका कहना तो टाल नहीं सकेंगे।"

"मैं तुम्हारे पिताजी से जरूर कहूँगा !" मास्टरजी ने अख़बार से निगाह हटाकर कहा, "और मुझे आशा है वे मेरी राय को ठुकरायेंगे नहीं।"

फिर मैं मास्टर केहरसिंह से मिला तो मैंने अपनी ओर से कालिज का ज़िक्र बिलकुल न छेड़ा। पहले वे शब्दकोश की कठिनाइयों का ज़िक्र करते रहे, फिर बोले, "सच पूछो तो भदौड़ स्कूल का हर एक मास्टर हराम की तनख्वाह खा रहा है।"

"शायद यह ठीक है !" मैंने हँसकर कहा।

मास्टर केहरसिंह ने पूछा, "अब तुम्हारा क्या इरादा है ? आगे पढ़ोगे ?"

"हाँ, मास्टरजी।"

"क्या पढ़ोगे ?"

"कालिज में जाऊँगा, मास्टरजी !"

"कालिज में जाने से क्या लाभ होगा ? आजकल के कालिज भी बस ऐसे-वैसे ही रह गए हैं।"

"यह बात तो नहीं है, मास्टरजी !"

"स्कूलों का हाल बुरा है तो कालिजों का हाल भी बुरा होगा !"

मैंने बताया कि मोगा के मथुरादास स्कूल का हाल तो बहुत अच्छा है। इसी तरह कोई अच्छा कालिज भी अवश्य होना चाहिए। लेकिन मास्टर केहरसिंह सिर हिलाकर मेरी बात से इन्कार करते रहे। बहुत देर तक वे मुझे यह समझाने का यत्न करते रहे कि अच्छा कवि बनने के लिए बहुत बड़े विद्वान् होने की ज़रूरत नहीं है। मेरा कवि बनने का पुराना उत्साह फिर उमड़ आया और मैं सोचने लगा कि क्या कवि बनने के लिए विद्वान् होना सचमुच आवश्यक नहीं। चुपके से कल आने की बात कहकर मैं उठ आया।

मास्टर केहरसिंह के कोठे से लौटते समय मैं कई बार मुड़-मुड़कर उनके कोठे की तरफ़ देखता रहा। मेरे जी में आया कि शायद मास्टरजी ठीक कह रहे हैं और अच्छा हो कि मैं उन्हें ही अपना गुरु धारण कर लूँ और फिर घर पहुँचकर

पिताजी से कह दूँ— पिताजी, मैं कालिज में नहीं जाना चाहता। मैं तो यहीं गाँव मे रहूँगा, आपके साथ मिलकर ठेकेदारी का काम करूँगा···लेकिन यह सोचकर कि ठेकेदारी के काम में भी क्या रखा है, मैं तेज़-तेज़ डग भरता हुआ घर की तरफ़ चलता रहा।

यह नहर मैं बचपन से देखता आया था। इस नहर में बहता हुआ जल मुझे सदैव प्रिय रहा था। यहाँ के खेतों के साथ मैं स्नेह-डोर में बँधा हुआ था। पैर से जूता निकालकर मैं नहर के किनारे बैठ गया, नंगे पैरों से पानी के किनारे हरे घास को मसलता रहा। मुझे उस लड़के का ध्यान आया जो 'स्टोरीज फ्राम टैगोर' की सुभा नामक कहानी में मछली पकड़ा करता था और गूँगी सुभा उसके पास बैठी रहती थी। यहाँ जैसे गूँगी प्रकृति स्वयं मेरे लिए सुभा बन गई थी। वहाँ बैठे-बैठे मुझे अपने स्कूल के हैडमास्टर लाला मिलखीराम का ध्यान आया जिन्होंने टैगोर पर भाषण देते हुए बताया था : "टैगोर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उठते यौवन में एक बार उनके मन पर यह सनक सवार हुई कि बैलगाड़ी में बैठकर ग्रैंड ट्रंक रोड से कलकत्ते से पेशावर तक यात्रा की जाय। आगे चलकर टैगोर ने लिखा है कि उनके इस प्रस्ताव को सबने नापसन्द किया; एक बस उनके पिताजी ने बेटे का प्रस्ताव सुनकर कहा था, 'यह तो बहुत अच्छी बात है। रेलगाड़ी की यात्रा को क्या यात्रा कहते हैं ?' और टैगोर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उनके पिताजी ने अपने बेटे को वे सब कहानियाँ सुना डालीं कि किस तरह कहीं पैदल और कहीं घोड़ा गाड़ी पर उन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की थी।" मैं सोचने लगा कि मेरे पिताजी ने तो कभी कोई यात्रा नहीं की होगी, इसीलिए तो उन्होंने मुझे कभी अपनी किसी यात्रा की कहानी नहीं सुनाई। उस समय मथुरा-यात्रा की स्मृतियाँ मेरी कल्पना में घूम गईं।

मुझे याद आया कि हमारे गाँव में एक ज्योतिषी ने मेरा हाथ देखकर माँ को बताया था—माई, तुम्हारे बेटे के पैर में तो चक्कर है!···और यह सुनकर माँ किसी कदर चिन्तित-सी नज़र आने लगी थी।

क्या सचमुच मेरे पैर में चक्कर है? यह प्रश्न मेरे चिन्तन का विषय बन गया। मैं नहर के किनारे से उठा और घर की तरफ चल पड़ा। घर पहुँचने पर मैंने माँ जी को यह कहते सुना, "दसवीं पास कर ली तो क्या हुआ, भागवन्ती! देव तो वैसे-का-वैसा बग़लोल है। मोगा तो फिर भी नजदीक था, कालिज में पढ़ने के लिए न जाने कितनी दूर जाना होगा।"

मौसी ने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "मिलसेन आकर इसे दौलतपुरे से न ले जाता तो देव दौलतपुरे में हल चला रहा होता। क्यों मैं कुछ झूठ कह रही हूँ, देव?"

"मैं सोचती हूँ ताँगों-मोटरों वाले शहर में देव कैसे सड़क पार किया करेगा?"

माँ ने सहमी-सी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा, "मोगा में तो ताँगे-मोटरें फिर भी थोड़ी हैं और वहाँ तो मैं भी सड़क पार करते डर जाती हूँ। यह हमारा बग-लोल तो हमेशा मुँह ऊपर उठाकर चलता है। मैं तो डरती थी कि वह मोगा में कैसे दो साल पूरे करेगा। और अब वह और भी बड़े शहर में जा रहा है।"

मैं कालिज में जा भी सकूँगा या नहीं, इसका मुझे अभी तक पता न चला था। फिर भी हर घड़ी मुझे इसी का ख़्याल रहता था। एक तरफ़ हमारा गाँव था जो मुझे छोड़ना नहीं चाहता था, दूसरी तरफ़ मेरी आगे बढ़ने की इच्छा थी जो मुझे कालिज में दाख़िल होने के लिए उकसा रही थी।

कभी मैं फत्तू से बातें करते-करते कह उठता, "मैं अब कहीं नहीं जाऊँगा, फत्तू! जितना पढ़ना था पढ़ लिया। अब तो कुछ काम करूँगा।"

फत्तू कहता, "यह तो बहुत खुशी की बात है। हमारा गाँव तो यह कभी नहीं चाहता कि तुम इतना पढ़ जाओ कि फिर गाँव में रहना पसन्द ही न करो। हमारे लिए थोड़ा पढ़ा हुआ देव ही अच्छा है जो हमारे पास रहे।"

"यही तो मैं भी चाहता हूँ, फत्तू!" मैं ऊपरी मन से कहता, "बल्कि इसमें तुम मेरी मदद कर सकते हो। पिताजी मुझे पढ़ने के लिए बाहर भेजना भी चाहें तो तुम उन्हें यही सलाह देना कि देव को हरगिज़ बाहर नहीं भेजना चाहिए।"

फत्तू हँसकर मेरी तरफ़ देखता। जैसे वह मेरे दिल का राज समझ रहा हो। वह जानता था कि मैं सचमुच आगे पढ़ना चाहता हूँ।

शाम को मैं खेतों में टहलने निकल जाता तो मेरा छोटा भाई विद्यासागर मेरे साथ होता। वह लुधियाना के आर्य हाई स्कूल में भरती होने के स्वप्न देख रहा था। मेरी बात छोड़कर वह अपनी ही बात छेड़ देता। उसे विश्वास था कि उसके आठवीं पास करते ही जयचन्द उसका मैट्रिक का ख़र्च उठा लेगा, जैसा कि जयचन्द उससे वायदा कर चुका था। मैं सोचता कि मेरे कालिज का खर्च मेरे बड़े भाई मित्रसेन को उठा लेना चाहिए। इस बारे में मैं मुँह से कुछ न कहता, लेकिन चारों तरफ फैली हुई ज़मीन मुझे पुकारती नज़र आती। जैसे धरती पुकार-पुकारकर कह रही हो—मैं तुम्हारी माँ हूँ। तुम्हारी जड़ें गहरी हैं। मैंने ही तो सम्हाल रखी हैं तुम्हारी गहरी जड़ें।

'फर्स्ट ईयर फूल'

मेरी इच्छा थी कि मुझे लाहौर के डी० ए० वी० कालिज में भेजा जाए, पर वस्तु-स्थिति यह थी कि पटियाला के महेन्द्र कालिज का ख़र्च देना भी पिताजी के लिए कठिन हो रहा था। फिर भी वे बार-बार ज़ोर देकर कहते, "पटियाला में कालिज की फ़ीस नहीं लगेगी, वैसे भी ज़्यादा ख़र्च नहीं बैठेगा। मित्रसेन ने हामी भर ली तो सब बात ठीक हो जाएगी।"

अखिर बरनाला से मित्रसेन का पत्र आ गया और उसने पटियाला में मेरी पढ़ाई का खर्च देना स्वीकार कर लिया।

"मुझे लाहौर क्यों नहीं भेज देते, बाबाजी ?" मैंने आख़िरी सहारा पाने का यत्न किया।

"सारा मामला तो पैसे का है, बेटा !" बाबाजी बोले, "घर का ख़र्च ज़्यादा है। दो साल से तुम्हारे पिताजी का काम बन्द है। बस ख़ाली लिफ़ाफ़ा रह गया है। यह तो मित्रसेन की हिम्मत है कि तुम्हें पटियाला का ख़र्च देने के लिए राज़ी हो गया।"

मुझे लगा कि पटियाला का कालिज, जहाँ फीस भी नहीं ली जाएगी, एकदम रद्दी कालिज होगा। कालिज ही क्या जहाँ फीस न लगे।

पिताजी को पता चल गया कि मैं पटियाला जाने के लिए राजी नहीं हूँ। वे नाराज़ होकर बोले, "अब तुम्हारी मरजी हो तो कल मेरे साथ बरनाला चलो, नहीं तो यहीं रहकर डण्डे बजाना।"

मैं खामोश रहा।

दूसरे दिन सवेरे ही पिताजी अपनी घोड़ी पर सवार हुए और मैं नीली घोड़ी पर। हम बरनाला के लिए चल पड़े। मेरा ख़्याल था कि बरनाला वाले चाचाजी कभी मुझे पटियाला भेजने की राय न देंगे और अगर उन्होंने आधा ख़र्च देना स्वीकार कर लिया तो अब भी यह असम्भव नहीं कि मैं पटियाला की बजाय लाहौर चला जाऊँ।

बरनाला पहुँचकर पता चला कि मित्रसेन ने चाचाजी को भी अपने साथ सहमत कर लिया है। कालिज के चुनाव की बजाय चाचाजी यह प्रसंग ले बैठे कि

मैं कौन-कौन-से मज़मून लूँ ।

"तुम्हें फिलासफी तो ज़रूर लेनी चाहिए," चाचाजी बोले, "बड़ा ही दिल-चस्प मज़मून है।"

"आपने भी फिलासफी ली होगी, चाचाजी !" मैंने सतर्क होकर कहा, "आपके अनुभव से मुझे भी फ़ायदा उठाना चाहिए।"

जब हम रात को रेलवे स्टेशन पर पहुँचे, तो पटियाला की गाड़ी में चढ़ने तक मुझे यह आशा थी कि चाचाजी लाहौर की बात शुरू करेंगे और मैं जिद करके पटियाला जाने से इन्कार कर दूँगा ।

"हिसाब भी लोगे, देव ?" मित्रसेन ने पूछा ।

चाचाजी बोले, "हिसाब लेना ज़रूरी नहीं है । देव चाहे तो हिसाब की बजाय संस्कृत ले सकता है।"

चाचाजी की यह बात सुनकर मैं खुशी से उछल पड़ा । इस खुशी में मैं यह भी भूल गया कि मुझे लाहौर नहीं पटियाले भेजा जा रहा है । मुझे इस बात की चिन्ता न थी कि हिसाब छोड़ने के लिए संस्कृत लेनी पड़ेगी जो मेरे लिए एकदम नया मज़मून होगा । किसी तरह हिसाब से तो पीछा छूटेगा, इस तसल्ली से जैसे मेरा आने वाला विद्यार्थी-जीवन सुखद नज़र आने लगा । चाचाजी की राय से मैंने हिस्ट्री, फिलासफी और संस्कृत का कम्बीनेशन चुना ।

पटियाला में हम अपनी बिरादरी के लाला आसाराम के यहाँ ठहरे । पिताजी का ख़्याल था कि मैं कालिज-होस्टल की बजाय इसी परिवार में रह जाऊँ तो और भी थोड़ा ख़र्च उठेगा । लेकिन मैंने साफ इन्कार कर दिया । आखिर उन्होंने मुझे महेन्द्र कालिज के होस्टल में भरती करा दिया ।

होस्टल में मुझे अलग कमरा मिला; यह मौज तो मोगा में भी नहीं मिली थी।

मैंने पिताजी से कहा, "होस्टल के इस शानदार कमरे में तो मेरे लिए नवाड़ी पलंग होना चाहिए।"

"अभी नवाड़ी पलंग खरीदने की क्या ज़रूरत है ?" पिताजी बोले, "लाला आसाराम जी ने तुम्हारे लिए एक चारपाई निकाल रखी है।"

अगले दिन जब पिताजी ने लाला आसाराम के घर पर मुझे छत से मूँज की खाट नीचे गली में ले जाने को कहा तो मेरे मन पर गहरी चोट लगी ।

ताँगे में बैठकर इस खाट को पीछे से मुझे ही सँभालना पड़ा । पिताजी ताँगे में अगली सीट पर बैठे थे ।

होस्टल में पहुँचकर मैंने अपने कमरे के सामने ताँगे वाले को रोका, तो पिता जी ताँगे से छलाँग लगाकर झट पीछे आ गये और उस मूँज की खाट को उठाकर बरांडे में ले गए ।

पिताजी को मूँज की खाट उठाते देखकर बरांडे के परले सिरे पर खड़े कुछ

लड़के कहकहे लगाते रहे। मैं मन-ही-मन शरमिन्दा हो गया।

'फर्स्ट ईयर फ़ूल' का कालिज और होस्टल में बुरी तरह मज़ाक उड़ाया जाता। लड़के हमें चिढ़ाने के नये-नये उपाय ढूँढ़ते। फर्स्ट ईयर के रंगरूटों की पूरी पलटन पर प्रहार किया जाता, तो किसी एक सिपाही को यह सोचने का अवसर ही न मिलता कि उसके साथ ज़्यादती हो रही है।

हमें 'फर्स्ट ईयर फ़ूल' बनाने वालों में प्रोफ़ेसर मुखर्जी ने तो कमाल कर दिया। पहले ही दिन, जब हम उनकी क्लास में पहुँचे, तो उन्होंने हर एक लड़के के चेहरे को ग़ौर से देखा और बारी-बारी किसी को 'चाँद का टुकड़ा' की उपाधि से भूषित किया तो किसी को 'भोर का तारा' कहकर क़हक़हा लगाया। हर लड़के के लिए एक-न-एक नाम घड़ा गया। मेरे साथ की सीट पर बैठे एक लड़के को सम्बोधित करते हुए प्रोफ़ेसर मुखर्जी बोले, "हैलो मिस्टर मून ! हाऊ डू यू डू !"

'मिस्टर मून' ने अपनी सीट से उठकर कहा, "थैंक यू !"

यह लड़का था रूपलाल। हमारी क्लास के लड़के हर रोज़ क्लास-रूम में आते ही 'चन्द्रमुखी' कहकर चिढ़ाने लगते। फ़र्स्ट ईयर वाले स्वयं एक-दूसरे को फ़ूल बनाएँ, यह मुझे बहुत विचित्र लगा।

एक दिन रूपलाल ने मुझसे कहा, "मैं चन्द्रमुखी हूँ, तो तुम क्या हो ?"

"मैं हूँ सूरजमुखी !" मैंने हँसकर कहा।

हमारी क्लास के लड़कों को पता चला तो उन्होंने मुझे 'सूरजमुखी' कहकर चिढ़ाना शुरू कर दिया।

रूपलाल कसूर से आया था। होस्टल में हमारे कमरे साथ-साथ थे। मैं कई बार सोचता कि कसूर तो लाहौर के टिकट है; रूपलाल सचमुच बहुत अभागा है कि इतना निकट रहने पर भी लाहौर न जा सका।

रूपलाल पक्के गाने का शौक़ीन था। किसी-न-किसी रागिनी के स्वर उसके ओठों पर थिरकते रहते। बरांडे में टहलते हुए मुझे लगता कि रूपलाल के कमरे के बन्द किवाड़ों की दर्ज़ों में से बाहर निकलने के लिए कोई रागिनी घायल कोयलिया की तरह पंख फड़फड़ा रही है।

एक दिन मैंने पूछा, "रूपलाल, तुम पटियाला कैसे चले आये ?"

"इसकी भी एक कहानी है।" रूपलाल सँभलकर बोला, "पिताजी को सट्टे में घाटा पड़ गया था और वे इस स्थिति में नहीं थे कि मुझे कालिज में भरती करा सकें। मुझे किसी दुकान पर बिठाना चाहते थे। भला हो चौधरी कर्मचन्द का जिन्होंने पिताजी को बताया कि पंजाब में पटियाला का महेन्द्र कालिज ही ऐसा कालिज है जहाँ किसी विद्यार्थी से फ़ीस नहीं ली जाती। पिताजी बोले—यह कैसे हो सकता है ? पटियाला वालों के लिए फ़ीस माफ़ होगी। सभी के लिए फीस कैसे माफ़ हो सकती होगी ?···फिर चौधरी जी के विश्वास दिलाने पर पिताजी

बहुत खुश हुए और मुझे यहाँ भरती करा गये।"

मेरे जी में तो आया कि रूपलाल को बता दूँ कि हमारे परिवार की हालत भी पतली हो गई है और मेरे लिए भी वह कालिज सिर्फ़ सस्ता होने के ख़्याल से ही चुना गया है,पर मैंने ख़ामोश रहना ही उचित समझा।

"सपने में हमेशा मुझे मेरी नानी नज़र आती है!" एक दिन बातों-बातों में रूपलाल ने बताया, "नानी मुझे चारपाई से उठाकर ले जाना चाहती है। इसलिए मैं अन्दर से दरवाज़ा बन्द करके सोता हूँ।"

"तुम्हारी नानी को मरे हुए कितने दिन हो गए?" मैंने झट पूछ लिया।

"ऐसा मत कहो!" वह बोला, "मेरी नानी तो अभी ज़िन्दा है। लाहौर में रहती है।"

फिर रूपलाल ने बताया, "अपनी नानी की मैं जितनी तारीफ़ करूँ थोड़ी है। नानी का चरित्र मुझे सदा प्रेरणा देता है। नानी कभी झूठ नहीं बोलती। नानी झूठ बोलने वाले के पास खड़ा होना भी पसन्द नहीं करती। नानी का चेहरा ऐसा है जैसे किसी ने संगमरमर की मूर्ति घड़कर खड़ी कर दी हो। वह सदा भगवान् से यही प्रार्थना करती है कि उसकी सन्तान पर आँच न आये, हालाँकि वह जानती है कि हमारे मामाजी तो एकदम मामीजी के हाथ में बिके हुए हैं। मुझे तो इस बात पर आश्चर्य है कि ऐसी साध्वी का बेटा इतना नास्तिक कैसे हो गया। हमारे मामाजी देव समाजी हैं और भगवान् को बिलकुल नहीं मानते। नानी बचपन में मेरा कितना लाड़ करती थी, यह मैं कभी नहीं भूल सकता। लेकिन अब जब नानी ग़रीब है, मैं उसके पास जाकर उसे मानसिक पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहता। वैसे मामीजी मुझे बहुत चाहती हैं, लेकिन उनके पास जाकर रहने के लिए ज़रूरी है कि मैं नानीजी को जली-कटी सुनाऊँ जिसके लिए मैं कभी तैयार नहीं हो सकता।"

"कभी तो अपनी नानीजी से मुझे भी मिलवाइए!" मैंने सतर्क होकर कहा।

रूपलाल कुछ भी छिपाकर न रखता। कभी वह कहता कि बड़ा होकर वह अपनी नानी को हर एक तीर्थ में घुमा लाएगा, कभी कहता कि माँ से कहीं अधिक वह अपनी नानी को ही माँ समझता है जिसके पास उसने होश सँभाली। कभी वह रावी का चित्र खींचकर रख देता जहाँ नहाने के लिए वह पहली बार किसी मेले के दिन नानी के साथ गया था।

एक दिन रूपलाल ने बताया, "लाहौर में रावी रोड पर 'विष्णु दिगम्बर संगीत विद्यालय' है जहाँ मैं मामा जी के साथ जाया करता था। हमारे मामाजी को संगीत का बहुत शौक है।"

कालिज की पढ़ाई तो नाम-मात्र को ही चल रही थी, क्योंकि कालिज में दाखिल होते ही हमें पता चल गया था कि कोई बीस-पच्चीस दिन बाद ही गरमी

की छुट्टियाँ हो जाएँगी। कालिज का दाखिला भी देर से हुआ था और अब छुट्टियाँ होने में मुश्किल से तीन-चार दिन रहते थे।

इन बीस-इक्कीस दिनों में ही रूपलाल जैसे मेरी रूह पर छा गया था। रह-रहकर मुझे यही विचार आता—अब छुट्टियाँ होंगी। कालिज बन्द हो जाएगा। हम यहाँ नहीं रह सकेंगे। क्या बनेगा ? क्या ही अच्छा होता कि मेरे ननिहाल भी लाहौर में होते। मैं भी रूपलाल के नास्तिक और संगीत-प्रेमी मामा को देख लेता और साथ ही उसकी नानी को भी। सम्भव होता तो रावी रोड वाले संगीत विद्यालय में रूपलाल के साथ ज़रूर हो आता। लेकिन यह सब कैसे होगा ? हम अलग-अलग कैसे रहेंगे ? यह भी तो नहीं हो सकता कि हम यहीं होस्टल के बाहर कोई मकान किराये पर ले लें। मगर यह सब होगा कैसे ? इतना खर्च कहाँ से आएगा ? फिर पिताजी को भी तो मालूम है कि छुट्टियाँ होने वाली हैं। उनसे पूछ देखूँ। शायद वे मुझे रूपलाल के साथ कसूर या लाहौर जाने की आज्ञा दे दें।

एक दिन शाम को रूपलाल हाथ में एक पत्र लिये हुए मेरे कमरे में आया। बोला, "मैं तो आज ही कसूर जा रहा हूँ। तो लो नमस्ते !"

चाचीजी

रूपलाल के यों एकाएक चले जाने से मेरे मन पर चोट लगी। पहले तो मेरे जी में आया कि मैं भी अभी गाड़ी पकड़कर बरनाला के लिए चल पड़ूँ। लेकिन मैंने छुट्टियाँ होने से पहले घर जाना मुनासिब न समझा।

छुट्टियाँ हुई तो बरनाला पहुँचकर मैंने देखा—चाचा जी का मकान उसी तरह खड़ा है। चाचाजी उसी तरह नहा-धोकर सवेरे ही कचहरी जाने की तैयारी करने लगते हैं। मित्रसेन उसी तरह अर्जीनवीसी का काम करता है। चाचीजी उसी तरह घर पर हुकूमत करती हैं। उनका लड़का इन्द्रसेन उसी तरह उनके सामने बोलता है और यह बिलकुल वर्दाश्त नहीं कर सकता कि वे अपनी बहू के सामने अपने बेटे की डाँट-फटकार करें।

कई बार तो चाचीजी मित्रसेन की तारीफ़ करके इन्द्रसेन को चिढ़ातीं, "मित्रसेन भी तो तुम्हारा भाई है। वह हर रोज़ कचहरी से जेब गरम करके लाता है।" कभी चाचीजी मेरा ज़िक्र ले बैठती, "देव भी तो तुम्हारा भाई है। आज मन लगाकर पढ़ रहा है, कल मन लगाकर कमायेगा।"

इन्द्रसेन को कमाने की कुछ ज़रूरत न थी। चाचाजी ने बरनाला वाले मकान की रजिस्ट्री उसी के नाम करा रखी थी। रायसर में उसकी नानी ने भी घर-ज़मीन उसी के नाम लिखवा दी थी, क्योंकि चाचीजी के सिवा नानी की दूसरी सन्तान नहीं थी।

मैं कई दिन तक बरनाला से भदौड़ न जा सका। दिन-भर चाचाजी की बैठक में बैठा कुछ-न-कुछ पढ़ता रहता।

चाचाजी की बैठक बहुत बड़ी थी जहाँ दो अलमारियों में कानून की पुस्तकें सजा कर रखी हुई थीं, तो तीन-चार अलमारियों में साहित्य की पुस्तकें मौजूद थीं। वहाँ रोशनी और हवा की कमी न थी। 'सरस्वती' और 'माधुरी' की फाइलें देखते-देखते मुझे खाने-पीने की सुधि न रहती। कैसे होंगे वे लोग जो इन पत्रिकाओं में लिखते हैं, यह सोचते ही मन पुलकित-सा हो उठता। मेरे पास तो कोई ऐसी रचना न थी जिसे मैं इन पत्रिकाओं में छपने के लिए भेज सकता।

"तुम कैसे घंटों बैठे पढ़ते रहते हो, देव?" इन्द्रसेन कहता, "मेरा तो सिर

दीवारें काँप उठीं

गाँव में पहुँचकर मुझे लगा कि छुट्टियों के दस दिन मैंने व्यर्थ ही बरनाला में गुज़ार दिये थे। मित्रों ने जवाब तलब किया तो मैं खिसियाना-सा होकर रह गया। माँ कहती, "तुम पटियाला से सीधे यहाँ क्यों नहीं चले आये थे?" बाबाजी पूछते, "तो तुम्हें भदौड़ से बरनाला अच्छा लगता है?" मैं हँसकर कहता, "यह कैसे हो सकता है, बाबाजी? भदौड़ तो मेरी जन्मभूमि है। भदौड़ तो मुझे कभी नहीं भूलता। उठते-बैठते, सोते-जागते भदौड़ की छाप तो मेरे मन पर लगी ही रहती है।"

माँ जी कई बार चाचीजी की शिकायत करने लगतीं। अपनी शिकायत में माँ जी सच्ची थीं। फिर भी मुझे यह अच्छा न लगता कि चाची जी को बुरा समझा जाए। मुझे मालूम था कि इन्द्रसेन के लिए माँ जी अपनी बहन की लड़की का रिश्ता लाई थीं और इसमें उनका एकमात्र दृष्टिकोण यही था कि परिवार में आपसदारी की जड़ और भी मजबूत हो जाए। सगाई के बहुत दिनों बाद चाचीजी ने रिश्ता छोड़कर मोगा से नया रिश्ता ले लिया था और इससे माँ जी के दिल पर गहरी चोट लगी थी।

माँ जी की दृष्टि में यह मेरा अपराध था कि पटियाला से आकर मैंने बरनाला में दस दिन गुज़ार दिए। मैं जान-बूझकर चाचीजी की प्रशंसा करने लगता। माँ जी चिढ़कर कहतीं, "तो तुम फिर बरनाला चले जाओ। मुझे मालूम नहीं था कि तुम्हें अपनी चाची के हाथ के पराउँठे ही अच्छे लगते हैं।" यह देखकर कि माँ जी को चाचीजी की प्रशंसा एकदम असह्य है, मैं ख़ामोश रहता।

एक दिन मैं शाम को नहर से घूमकर घर पहुँचा तो पता चला कि बरनाला से मित्रसेन आया है।

"देख ली न तुमने अपनी चाची की करतूत!" माँ जी ने मुझे सम्बोधित करते हुए कहा, "उसने मित्रसेन को घर से निकाल दिया। जाओ, जाकर मित्रसेन से पूछ लो। वह बैठक में बाबा जी के पास बैठा उन्हें अपनी कहानी सुना रहा है।"

"यह कैसे हो सकता है, माँ जी?" मैंने कहा, "मैं अभी जाकर मित्रसेन से

पूछता हूँ ।"

"अब क्या होता है ?" माँ जी ने जैसे चिढ़कर कहा, "तुम्हारी चाची ने तो आख़िरी तीर छोड़ दिया जो निशाने पर आकर लगा ।"

"तो अब कुछ नहीं हो सकता, माँ जी ?" मैंने कहा, "मुझे तो विश्वास नहीं होता कि चाचीजी मित्रसेन से इतना बुरा सलूक कर सकती हैं। आखिर हमारा परिवार तो सम्मिलित परिवार है ।"

माँ जी ने गुस्से में आकर मुँह फेर लिया। मैं वहाँ से उठकर बैठक में चला आया जहाँ मित्रसेन बाबाजी को अपनी दुःखभरी कहानी सुना रहा था।

बाबाजी बोले, "मैं तो यही कहूँगा मित्रसेन, कि सारा क़ुसूर पृथ्वीचन्द्र का है। इस चंडाल को मैं पहले से जानता हूँ। जब भी मैं बरनाला जाता था, मैं जान-बूझकर फटी-पुरानी धोतियाँ लेकर जाता था। नहाने के बाद मैं अपनी धोती किसी दूसरे आदमी को निचोड़ने नहीं देता था। मेरा यही तकाज़ा रहता था कि पृथ्वीचन्द्र खुद इसे अपने हाथों से निचोड़े। वह चंडाल मेरी फटी हुई धोती को निचोड़कर उसी तरह सूखने के लिए डाल देता था। अपने मुँह से कभी मैंने यह नहीं कहा था कि बेटा, मेरे लिए एक नई धोती मँगवा दो और बेटे का भी मुँह ही टूट जाए अगर कभी उसके मुँह से यह बात निकली हो—पिताजी, आपके लिए नई धोती मँगवा दी जाए।"

मैंने कहा, "बाबाजी, हमारी चाचीजी तो बहुत अच्छी हैं ।"

"ये सब गुल चाचीजी के ही खिलाये हुए हैं, देव !" मित्रसेन ने झुँझलाकर कहा, "चाचीजी ने ही साँपिन की तरह फुँकारते हुए मुझे हुक्म दिया है कि मैं घर से निकल जाऊँ। यह तो ग़नीमत हुई कि तुम्हारी भाभी नाभा में अपने मायके गई हुई है, नहीं तो मैं शायद उसे बरनाला में अकेली छोड़कर दौड़ा-दौड़ा भदौड़ न आ सकता ।"

"जब तुम्हारा चाचा पृथ्वीचन्द्र ही चंडाल है तो तुम्हारी चाची परमेश्वरी कैसे चंडालिन नहीं होगी !" बाबाजी ने ज़ोर देकर कहा।

पिताजी रात को काम से लौटे तो उन्हें भी वस्तुस्थिति से परिचित कराया गया। पहले तो वे खामोश रहे। फिर जब बाबाजी ने राय दी कि हमें अगली सवेर तक बरनाला अवश्य पहुँच जाना चाहिए, तो दो बैलगाड़ियों का प्रबन्ध किया गया। चाचा लालचन्द की भी यही राय थी कि इस मामले में देर करना ठीक न होगा।

एक बैलगाड़ी में बाबाजी, पिताजी, चाचा लालचन्द और मित्रसेन बैठ गए दूसरी बैलगाड़ी में माँ, माँ जी, मौसी भागवन्ती और मैं।

मैं रास्ते-भर बड़ा चिन्तित रहा। मैं कहना चाहता था कि कोई किसी से ज़बरदस्ती कुछ नहीं ले सकता। सम्मिलित परिवार की दीवारों को जब एक

वार किसी भूकम्प का झकझोर जाने वाला धचका लगता है तो उन्हें फिर कोई शक्ति क़ायम नहीं रख सकती। माँ, माँ जी और मौसी के मुँह में जैसे ज़बान न हो, दूसरी बैलगाड़ी से चाचा लालचन्द की आवाज़ तेज़ी से आ रही थी, जैसे वे बरनाला पहुँचते ही चाची परमेश्वरी पर टूट पड़ेंगे और चाचा पृथ्वीचन्द्र को भी खरी-खरी सुनायेंगे।

मित्रसेन की आवाज़ भी बीच-बीच में हमारे परिवार के क्रोध को भड़का रही थी। बाबाजी की आवाज़ एकदम खामोश थी, लेकिन मैं जानता था कि मित्रसेन की आवाज़ बराबर बाबाजी के दिल की आग पर पंखा कर रही है।

बरनाला पहुँचकर हम सीधे चाचाजी के मकान पर चले आये। 'नमस्ते पिताजी !' चाचाजी ने बाबाजी के पास आकर कहा।

बाबाजी ने कुछ जवाब न दिया।

एक तरफ़ से पिताजी ने बाबाजी को सहारा दिया, दूसरी तरफ़ से चाचा लालचन्द ने उन्हें बैलगाड़ी से उतारा। कन्धे का सहारा देते हुए मैं बाबाजी को बैठक में ले आया। चाचा पृथ्वीचन्द्र ने उन्हें सहारा देकर गावतकिये के सहारे तख़्तपोश पर बिठा दिया।

माँ, माँ जी और मौसी भीतर चाचीजी के पास चली गईं।

पिताजी और चाचा लालचन्द बाबाजी के पास कुरसियों पर बैठ गए। मित्रसेन तख़्तपोश से सटकर खड़ा रहा।

चाचा पृथ्वीचन्द्र अन्दर जाकर चाचीजी के पास देर तक खुसर-फुसर करते रहे। वहीं इन्द्रसेन भी खड़ा था—ख़ामोश और घबड़ाया हुआ-सा।

मैंने आँगन में जाकर कहा, "नानीजी, नमस्ते !" लेकिन नानीजी ने मुँह फेर लिया।

आँगन के परले सिरे पर कुएँ के पास पाँच-सात देहाती युवक बैठे थे। उनके हाथों में लाठियाँ थी। नानी उनके पास जाकर खुसर-फुसर करती रहीं।

चूल्हे में आग नहीं जल रही थी। माँ, माँजी और मौसी को रसोई में जाते संकोच हो रहा था।

मैं बैठक में चला आया। वातावरण में पहले से अधिक तनाव नज़र आ रहा था। चाचा पृथ्वीचन्द्र ने आकर पिताजी को सम्बोधित करते हुए कहा, "आप लोग मेरी कमाई से खड़े किए हुए इस मकान में से हिस्सा बँटाने आये हैं ?"

पिताजी खामोश रहे।

"हम मित्रसेन के लिए इस घर में से हिस्सा माँगने आये हैं।" चाचा लाल-चन्द ने ज़ोर देकर कहा।

"लेकिन इस घर की रजिस्ट्री तो इन्द्रसेन के नाम हो चुकी है।"

चाचा लालचन्द ने ऊँची आवाज़ से बाबाजी के कान में चाचा पृथ्वीचन्द्र के

शब्द दोहराये ।

"ओ चंडाल, मैं देखूँगा कि तू मुझे यहाँ से कैसे निकालता है।" बाबाजी ने आग-बबूला होकर कहा ।

चाचा पृथ्वीचन्द्र को जैसे काठ मार गया ! भीतर से नानी आकर बैठक के दरवाज़े में खड़ी हो गई। मैंने पिताजी के समीप होकर उनके कान में कहा, "भीतर कुएँ के पास कुछ लठैत बैठे हैं, पिताजी !"

मित्रसेन ने मेरी आवाज़ सुन ली । उसने पास आकर पिताजी को राय दी, "हमें यहाँ से चले जाना चाहिए।"

"हम यहाँ से बिलकुल नहीं हिलेंगे !" चाचा लालचन्द ने तैश में आकर कहा ।

पिताजी ने मुझे भीतर भेजकर माँ, माँ जी और मौसी को बुलवाया और वे उनके साथ घर से बाहर निकल गये । जाते हुए पिताजी बोले, "देव, हम आर्य समाज मन्दिर में जा रहे हैं । तुम बाबाजी को लेकर वहाँ आ जाना।"

मुझे लगा कि महाभारत का युद्ध होते-होते रुक गया । फिर भी मैं हतप्रभ-सा खड़ा रहा ।

मित्रसेन भी पिताजी के पीछे-पीछे चला गया। लेकिन चाचा लालचन्द, बाबाजी के समीप डटकर बैठे रहे।

वक्त की नज़ाकत देखते हुए मैं भी बाबाजी के पास खड़ा रहा।

चाचा पृथ्वीचन्द्र और नानी देर तक खुसर-फुसर करते रहे। फिर चाची परमेश्वरी भी आकर उनकी बातों में शामिल हो गईं।

"देव, तुम पिताजी को यहाँ से ले जाओ !" चाचा पृथ्वीचन्द्र ने पास आकर कहा ।

"देव पिताजी को हाथ नहीं लगा सकता !" चाचा लालचन्द ने अपने स्थान से उठकर कहा ।

नानी ने चिल्लाकर कहा, "हमारे घर में इतनी जगह नहीं है ।"

"मेरे लिए यहाँ जगह न सही, पिताजी तो यहाँ रह सकते हैं।" चाचा लालचन्द ने झुँझलाकर कहा ।

"यहाँ किसी भी बुड्ढे या जवान के लिए जगह नहीं है !" नानी ने दोबारा गरजकर कहा।

"सुन रहे हो, भाई साहब ?" चाचा लालचन्द ने चाचा पृथ्वीचन्द्र को पुकारा, "क्या तुम्हारा न्याय भी यही कहता है ?"

"हाँ, मेरा न्याय भी यही कहता है।" चाचा पृथ्वीचन्द्र ने दबी जबान में कहा।

चाचा लालचन्द उसी समय यह कहते हुए बाहर निकल गये, "तुम अकेले ही

इस घर में टाँगें पसारकर सो जाओ !"

मैंने अपने बाजू का सहारा देकर बाबाजी को तख्तपोश से उठाया और उनके कान में कहा, "अब यहाँ से चलने का समय आ गया, बाबाजी !"

"ओ चंडाल, सँभाल ले अपना घर !" बाबाजी ने पीछे मुड़कर कहा ।

मैं सहम गया कि कहीं इस चुनौती पर फिर से युद्ध की आग न भड़क उठे ।

चाचाजी ने पीछे से आकर बाबाजी के चरण छू लिये और मेरे कान में कहा, "बाबाजी से कहो देव, कि उनके लिए तो इन्द्रसेन और मित्रसेन बराबर होने चाहिए । मैंने तो अपने मुँह से कभी यह नहीं कहा कि बाबाजी यहाँ न रहें, मेरी तो जुबान ही झड़ जाय अगर मैं यह बोल मुँह पर लाऊँ । तुम्हारी नानी तो बाबा जी की समधिन है, वह तो गुस्से में आकर कुछ भी कह सकती है ।"

मैंने बाबाजी के कान में ऊँची आवाज़ से चाचीजी की बात हू-ब-हू उसी तरह दोहरा दी ।

फिर पीछे से इन्द्रसेन ने आकर बाबाजी को बैठक में ले जाने का यत्न किया, लेकिन बाबाजी बोले, "अब मैं कभी इस घर का पानी नहीं पी सकता ।"

बाबाजी को साथ लिये मैं आर्य समाज मन्दिर में पहुँचा । "मैं तो उस चंडाल को हमेशा के लिए छोड़ आया !" बाबाजी ने पिताजी को सम्बोधित करते हुए कहा ।

"यों मत कहिए, पिताजी !" पिताजी ने शान्ति का स्वर छोड़ते हुए कहा, "आपके लिए तो जैसे हम, वैसा पृथ्वीचन्द्र !"

बाबाजी बराबर बुड़बुड़ाते रहे । उनका मानसिक सन्तुलन एकदम डोल गया था । चाचा लालचन्द बीच-बीच में उन्हें उकसाने लगते । पिताजी कभी बाबाजी को शान्त रहने के लिए कहते, कभी चाचा लालचन्द को । मित्रसेन के मुँह में जैसे जुबान ही न हो, उसके सम्मुख जैसे भविष्य बहुत बड़ी समस्या बनकर खड़ा हो, जैसे समय की बागडोर उसके हाथ से एकदम निकल गई हो ।

कई दिन तक चाचा पृथ्वीचन्द्र की बैठक में सन्धि-चर्चा चलती रही । चाचाजी मित्रसेन के लिए मकान का बाईं तरफ़ वाला छोटा-सा हिस्सा देने को तैयार भी हुए, लेकिन इस स्थिति में मित्रसेन ने कोई हिस्सा लेने से साफ़ इन्कार कर दिया ।

मित्रसेन के इस निश्चय से बाबाजी बहुत खुश हुए । उनके मुख पर पहली-सी शान्त मुद्रा तो नजर नहीं आ रही थी, फिर भी वस्तुस्थिति सुधार की ओर थी ।

एक दिन मैं शाम को बाबाजी को बाहर घुमाने ले गया, तो वे मेरे बाजू के सहारे चलते-चलते बोले, "जब भी लड़का पैदा होता है तो घर की दीवारें काँपती हैं, क्योंकि दीवारें सोचती हैं कि बरखुरदार तशरीफ़ लाया है, देखें वह हमें उठाता है या गिराता है ।"

बाबाजी का यह खयाल कि दीवारें भी सोच सकती हैं, मुझे मुग्ध करने के लिए काफ़ी था। खामोशी को चीरते हुए बाबाजी बोले, "पृथ्वीचन्द्र के जन्म पर भी हमारे घर की दीवारें काँप उठी होंगी, मेरा तो ख़्याल है कि उन्हें तभी पता चल गया होगा कि आज एक चण्डाल का जन्म हुआ है!"

"अब यह तो वक्त का रुख है, बाबाजी!" मैंने कहा, "चाचाजी पर आपका क्रोध इतना तो नहीं भड़कना चाहिए। चाचाजी के जन्म पर भदौड़ में हमारे घर की दीवारें काँप उठी होंगी, तो आज से सात दिन पहले बरनाला में चाचाजी की बैठक की दीवारें भी काँप उठी थीं।"

लाहौर का टिकट

छुट्टियों के बाद पटियाला पहुँचने पर पता चला कि रूपलाल अभी तक नहीं आया। मैं अभी तक अपने सम्मिलित-परिवार में फूट पड़ जाने का सदमा भूल नहीं सका था। अब यह खबर मिली कि रूपलाल ने महेन्द्र कालिज से माइग्रेशन सर्टिफिकेट मँगवा लिया है और वह लाहौर के डी० ए० वी० कालिज में भरती हो गया है। यह चोट मुझे असह्य हो उठी।

रूपलाल पटियाला आता और मुझे बिलकुल न मिलता, यह तो मैं मान ही नहीं सकता था। उसका माइग्रेशन सर्टिफिकेट लेने के लिए उसके पिताजी पटियाला आये थे और उन्होंने कालिज के हैडक्लर्क को बताया था कि उनका लड़का लाहौर के डी० ए० वी० कालिज में जाना चाहता है।

इस सम्बन्ध में रूपलाल ने मुझे पत्र क्यों न लिखा, यह मैं बिलकुल न समझ सका। होस्टल में मेरे कमरे से तीन कमरे छोड़कर देशराज रहता था। उसके पास रूपलाल का पत्र आया जिसमें उसने लिखा था कि उसकी नानी और मामाजी में सुलह हो गई है और दोनों ने उसके पिताजी पर ज़ोर डालकर उसे लाहौर बुला लिया है और वह लाहौर पहुँच गया है। देशराज ने मुझे यह पत्र दिखा दिया था। गीत की टेक के समान यह बात बार-बार मेरे मस्तिष्क के प्रवेश-द्वार पर टकराती रही—यह पत्र तो मेरे नाम होना चाहिए था।

फिर एक दिन सहसा मेरे मन में यह विचार आया कि मैं भी पटियाला छोड़कर लाहौर चला जाऊँ।

अगले दिन मैंने मित्रसेन को पत्र में लिखा—"मुझे महेन्द्र कालिज की पढ़ाई एकदम नापसन्द है और हमारी क्लास के कई लड़के माइग्रेशन सर्टिफिकेट लेकर लाहौर के डी० ए० वी० कालिज में चले गये हैं।"

एक लड़के के स्थान पर 'कई' लड़कों की बात खाली अपनी बात को ज़ोरदार बनाने के लिए लिख दी थी। मेरी दृष्टि में यह झूठ बहुत बड़ा अपराध न था, क्योंकि इससे किसी का कुछ नहीं बिगड़ता था और मेरा काम बन सकता था।

मित्रसेन का कोई उत्तर न आया। मैंने दूसरे पत्र में उसे लिखा—"पटियाला का पानी मुझे बिलकुल मुआफ़िक़ नहीं आया। मेरे चेहरे का रंग पीला पड़ता जा

रहा है।" था तो यह भी झूठ, यह और बात थी कि पटियाला के पानी के बारे में यह बात बिलकुल सत्य थी और यह बात मैं कई लड़कों से सुन चुका था।

मित्रसेन इस पत्र के उत्तर में भी टस-से-मस न हुआ। तीसरे पत्र में मैंने उसे लिखा—"मैं माइग्रेशन सर्टिफिकेट लेकर अगले हफ़्ते बरनाला पहुँच रहा हूँ, क्योंकि न मैं अपनी पढ़ाई ख़राब करना चाहता हूँ, न मुझे अपनी तन्दुरुस्ती से ही दुश्मनी है। आप पिताजी की भी सलाह ले लें, हर हालत में मुझे लाहौर के डी० ए० वी० कालिज में दाख़िल कराने का प्रबन्ध कर दें।"

मित्रसेन का पत्र आया जिसमें लिखा था—"यह ग़लत क़दम हरगिज़ न उठाना।" लेकिन मैं कब सुनने वाला था। मैंने कालिज से माइग्रेशन सर्टिफिकेट ले लिया और पटियाला से हमेशा के लिए बिदा लेकर बरनाला आ पहुँचा।

मित्रसेन मुझे देखकर बहुत नाराज़ हुआ। भाभी हुक्मदेवी ने भी मेरी 'नमस्ते' का कोई उत्तर न दिया। पिताजी भी बरनाला आए हुए थे। माँ तो पहले से बरनाला में थी। मित्रसेन और पिताजी की यही सलाह थी कि मुझे पटियाला में ही पढ़ना चाहिए। मैंने साफ़-साफ़ कह दिया, "मैं तो पटियाला से हमेशा के लिए अपना नाम कटवा आया हूँ। अब तो मुझे लाहौर जाना ही होगा।"

आधी रात तक पिताजी और मित्रसेन मुझे समझाते रहे। फिर माँ भी मुझे यही उपदेश देती रही कि मैं ज़िद छोड़कर पटियाला लौट जाऊँ और मुफ़्त में अपना जीवन ख़राब न करूँ।

मित्रसेन ने धमकी देते हुए कहा, "अगर देव लाहौर जाने की ज़िद नहीं छोड़ेगा, तो मैं तो उसकी पढ़ाई पर धेला भी ख़र्च करने से रहा।"

मैंने कहा, "मैं लाहौर ज़रूर जाऊँगा।"

"तो ख़र्च कौन देगा?" पिताजी ने पूछा।

"मेरा भी भगवान् है।" मैंने दबी ज़ुबान से कहा।

"ज़िद अच्छी नहीं होती," पिताजी ने समझाया, "हम तो ख़र्च भेज नहीं सकेंगे, मित्रसेन को नाराज़ करके तुम उससे ख़र्च लेने से भी जाओगे।"

"मैं तो लाहौर ही जाऊँगा, पिताजी!" मैंने अपनी ही रट लगाई।

"लाहौर में ऐसी क्या चीज़ है?" माँ ने पूछा, "तुमने तो पढ़ना ही है, लाहौर में भी वही पढ़ाई होगी जो पटियाला में है।"

"नहीं, माँ!" मैंने कहा, "मैं तो लाहौर जाऊँगा।"

मित्रसेन उठकर भाभी हुक्मदेवी के पास चला गया। पति-पत्नी में खुसर-फुसर की आवाज़ आती रही।

"तुम यह ज़िद छोड़ दो, देव!" माँ ने पुचकारा।

"मेरी ज़िद से किसी का तो कुछ बिगड़ता नहीं, माँ!" मैंने ज़ोर देकर कहा।

"मैं कहता हूँ इससे मित्रसेन को तो तक़लीफ़ होगी !" पिताजी ने कहना शुरू किया, "मित्रसेन को नाराज़ करके तुम कालिज में पढ़ने का सपना भी नहीं देख सकते।"

"मित्रसेन मेरा भगवान् तो नहीं है, पिताजी !"

पिताजी ने क्रुद्ध होकर कहा, 'आज तुम बड़े भाई का अपमान कर सकते हो, कल मेरा भी कहाँ लिहाज करोगे ?"

मैं ख़ामोश रहा।

"तो आप ही जिद छोड़ दीजिए !" माँ ने पिताजी को समझाया, "जब देव को पढ़ना ही है तो उसे लाहौर में ही पढ़ने दीजिए।"

"दस रुपये का तो कम-से-कम फ़र्क़ होगा।" पिताजी कह उठे।

"तो यह झगड़ा सिर्फ़ दस रुपये माहवार का है ?" माँ ने पूछ लिया।

"दस रुपये का फर्क नहीं होगा, पिताजी !" मैंने कहा, "कोई सात एक रुपये का फ़र्क होगा। फीस ही का तो मामला है।"

"तो सात रुपये के लिए मित्रसेन भी क्यों ज़िद कर रहा है ?" माँ ने कहा और वह उठकर मित्रसेन के पास चली गई।

पिताजी खामोश बैठे थे। मित्रसेन, माँ और हुक्मदेवी की खुसर-फुसर पहले से ऊँची उठ गई थी। मैं कहना चाहता था कि यह झगड़ा फ़जूल है, लेकिन मुझे यह आशा थी कि माँ मित्रसेन और हुक्मदेवी को रज़ामन्द कर लेगी।

थोड़ी देर बाद माँ ने आकर कहा, "मित्रसेन इतना तो मंजूर करता है कि वह उतना ही ख़र्च देता रहेगा जितना पटियाला में देता था।"

"अच्छा तो वह उतना ही खर्च देता रहे !" मैंने कहा, "मैं उतने में ही गुज़र कर लूँगा।"

"अच्छा तो जैसी देव की मरज़ी !" पिताजी बोले, "इसी की जीत सही।"

मैं अपनी चारपाई पर लेट गया। माँ और पिताजी उठकर मित्रसेन के पास चले गए। मुझे नींद नहीं आ रही थी। मेरी कल्पना में लाहौर का चित्र उभरने लगा। वहाँ रावी बहती है। वहाँ डी० ए० वी० कालिज है। वहाँ रावी रोड पर संगीत विद्यालय है। वहाँ रूपलाल होगा। हम इकट्ठे पढ़ेंगे। एक-दूसरे से होड़ लेंगे। वहाँ रूपलाल की नानी है। वह मुझे भी रूपलाल से कम नहीं समझेगी !··· फिर एक झटके के साथ यह कल्पना बीच से टूट गई। ख़र्च की कमी कैसे पूरी हुआ करेगी ? मित्रसेन तो एक धेला भी ज्यादा देने से रहा। पटियाला का ख़र्च भी तो नपा-तुला ही देने के लिए राज़ी हुआ था। देख लेंगे, जो सिर पर आएगी उसे सह लेंगे। कोई ट्यूशन करनी पड़ेगी तो कर ली जाएगी। लाहौर जाना जो ठहरा। मैं करवट बदलता रहा। मेरी आँखों में नींद नहीं थी।

उन लोगों की खुसर-फुसर का भी कोई अन्त न था। बीच-बीच में मित्रसेन

की आवाज़ उभरती, जैसे वह अब तक किसी बात पर रज़ामन्द न हो सका हो।

थोड़ी देर बाद माँ ने आकर कहा, "मित्रसेन तुम्हारा लाहौर का खर्च देना मान गया यानी पटियाला के खर्च से सात रुपये ज्यादा। लेकिन वह कहता है कि ज्यादा फ़ज़ूलख़र्ची की इजाज़त नहीं होगी।"

"फ़ज़ूलखर्ची का तो सवाल ही नहीं उठता, माँ!" मैंने खुशी से उछलकर कहा।

फिर पिताजी मित्रसेन को लेकर आ गए। मित्रसेन कुछ न बोला। वह खामोशी से मेरे सिरहाने बैठ गया।

मैंने उठकर मित्रसेन के पैर छू लिये और गिड़गिड़ाकर कहा, "मुझे क्षमा कर दीजिए, भाई साहब! मैं लाहौर जा रहा हूँ तो सिर्फ़ पढ़ाई के लिए, फ़ज़ूलखर्ची के लिए नहीं, मौज उड़ाने के लिए नहीं!"

अगले दिन लाहौर की गाड़ी पकड़ने के लिए रेलवे स्टेशन जाने लगा तो भाभी हुक्मदेवी ने हँसकर कहा, "हम भी तुमसे मिलने आयेंगे लाहौर। चलो इस बहाने हम भी देख लेंगे तुम्हारा लाहौर!"

गाड़ी में बड़ी भीड़ थी। मेरी जेब में लाहौर का टिकट था जिसे मैं देर तक मसलता रहा।

रावी बहती है

लाहौर मेरे लिए नया था। फिर भी मेरा मन जैसे यह घोषणा कर रहा हो—अजी ओ लाहौर, मैं तुम्हें खूब पहचानता हूँ !···इस विचार पर मैं मन-ही-मन मुग्ध हो उठा।

जिसे पहली बार देखा हो, उसके सम्बन्ध में यह कहना कि वह तो पहले का देखा-भाला है, नितान्त असत्य कहा जाएगा, यह मैं ठोक-बजाकर कह सकता था। फिर भी गीत की टेक के समान यह विचार बार-बार मन के वातायन से सिर निकालकर मेरा ध्यान अपनी ओर खींचता रहा—अजी ओ लाहौर, मैं तुम्हें खूब पहचानता हूँ।

यहाँ पहुँचने के लिए मुझे कितना संघर्ष करना पड़ा था। लाहौर के रंग-रूप ने मुझे विभोर कर डाला। मैं सड़कों के मोड़ देखता, सड़कों पर चलने वाले इन्सानों को पहचानने का यत्न करता, मन-ही-मन सड़कों के किनारे की बिल्डिंगों की सुन्दरता की प्रशंसा करने लगता।

रूपलाल से अभी तक भेंट नहीं हो सकी थी। वह बीमार था और स्वास्थ्य सुधारने के लिए काश्मीर चला गया था। मुझे यों लगा जैसे मन का द्रुत संगीत विलम्बित में बदल गया हो, जैसे हमारे गाँव के बामा मीरासी ने झप ताल को परे हटाकर धीमा-तिताला छेड़ दिया हो।

कालिज में पढ़ते समय, या ख़ाली पीरियड में इधर-उधर घूमते हुए, मुझे रूपलाल की बीमारी का ध्यान आ जाता जो ख़त्म होने में नहीं आ रही थी और जिसके कारण वह बार-बार छुट्टी के लिए प्रार्थना-पत्र भेजने के लिए मजबूर था।

कालिज का जीवन अपनी गति से चल रहा था, लेकिन मेरे मन की एक ही वेदना थी—रूपलाल कब आएगा ? यह प्रश्न बार-बार काँटे की तरह चुभने लगता। दफ़्तर में पूछने पर यही पता चलता कि रूपलाल ने फिर से छुट्टी के लिए प्रार्थना-पत्र भेज दिया है। मैं उसे पत्र लिखता तो वह यही उत्तर देता कि वैसे तो वह अच्छा हो गया है लेकिन थोड़ी कमज़ोरी बाकी है।

एक दिन मैं कालिज से लौटकर शाम को होस्टल में पहुँचा तो मुझे रूपलाल का पत्र मिला। यह पत्र पहलगाँव से आया था। उसने लिखा था—"सच पूछो तो

मेरा स्वास्थ्य इस योग्य नहीं है कि मैं इस साल कालिज में आ सकूँ। डाक्टरों ने मुझे कई महीनों तक लगातार पहलगाँव में रहने की सलाह दी है।"

रूपलाल का पत्र पढ़कर मेरे मन पर बड़ी ठेस लगी। अपनी मूर्खता पर मैं बहुत पछताया। मुझे तो उससे कसूर में ही मिल आना चाहिए था। लाहौर से पहलगाँव बहुत दूर था। पहलगाँव जाने की तो कोई सुविधा न थी। कई बार मैं वह गीत गुनगुनाने लगता जिसमें कसूर की चर्चा की गई थी। इस गीत में गाँव की स्त्री ने अपना रोना रोया था, लेकिन मैं तो इसके द्वारा अपनी वेदना व्यक्त करने का यत्न करने लगता :

जुत्ती कसूर दी पैरीं न पूरी
हाय रब्बा सानूँ तुरना पिया
जिन्हाँ वाटाँ दी मैं सार न जाणाँ
ओहनीं वाटीं मैनूँ तुरना पिया
बाग लवानीआँ बगीचे लवानीआँ
विच्च लवानीयाँ तोरीयाँ
निक्का जिहा मुण्डा सानूँ अक्खीयाँ मारे
निहुँ न लग्गदा ज़ोरीयाँ
बाग लवानीयाँ बगीचे लवानीयाँ
विच्च लवानीयाँ बेरीयाँ
कन्ताँ वालीयाँ सीस गुन्दावन
खुल्लीयाँ जुल्फाँ मेरीयाँ
जुत्ती कसूर दी पैरीं न पूरी
हाय रब्बा सानूँ तुरना पिया।[1]

रूपलाल से मैं काश्मीर का समाचार पूछता। एक पत्र में मैंने उसे एक गीत लिख भेजा जो मुझे अपने एक सहपाठी से मिला था। इस गीत की एक विशेषता तो यह थी कि इसमें मुल्तान, कसूर और लाहौर के अतिरिक्त काश्मीर का उल्लेख भी किया गया था। यह भी किसी ग्रामीण स्त्री का गीत था जिसमें उसने अपने प्रियतम की चिट्ठी की चर्चा की थी :

---

१. कसूर का बना हुआ जूता है। पैरों में पूरा नहीं आता। हाय, ओ खुदा, हमें पैदल चलना पड़ा। जिन रास्तों की मैं सार नहीं जानती, उन्हीं रास्तों पर मुझे चलना पड़ा। बाग लगाती हूँ, बगीचा लगाती हूँ, बीच में तोरियाँ लगाती हूँ। छोटा-सा लड़का हमें आँख मारता है, प्रेम तो जबरदस्ती नहीं लगता। बाग लगाती हूँ, बगीचा लगाती हूँ, बीच में बेरियाँ लगाती हूँ। जिनके पति हैं, वे सिर की मेंढियाँ गुंथाती हैं। मेरी जुल्फें खुली हैं। कसूर का बना हुआ जूता है, पैरों में पूरा नहीं आता। हाय ओ खुदा, हमें पैदल चलना पड़ा।

काले-काले बागाँ विच्च कोयल पई बोलदी
चिट्ठी ते आ गई मेरे बाँके ढोल दी
पाड़ लिफाफ़ा नी मैं चिट्ठी नूँ फोलदी
एह दुःख डाढा चिट्ठी मूँहों न बोलदी
घर ने तेरे जानी विच्च मुलतान दे
नेहुँ न लाईए शाला नाल नदान दे
घर ने तेरे जानी विच्च कसूर दे
धुप्पाँ ने डाढीयाँ जानी पैण्डे ने दूर दे
घर ने तेरे जानी विच्च कशमीर दे
आवीं वे आवीं ढोला बरफाँ नूँ चीर के
काले-काले बागाँ विच्च कोयल पई बोलदी
चिट्ठी ते आ गई मेरे बाँके ढोल दी ।[1]

रूपलाल के साथ मेरा पत्र-व्यवहार कायम रहा। रूपलाल ने अब यह लिखना शुरू कर दिया था कि उसका स्वास्थ्य पहले से बहुत अच्छा है। पहलगाँव से आकर वह श्रीनगर में रहने लगा था।

होस्टल और कालिज पास-पास थे; अन्दर से भी रास्ता था। वैसे कालिज की बिल्डिंग होस्टल से भी सुन्दर थी। होस्टल में मैं चाहता था 'क्यूबिकल'— अलग कमरा जिसमें मैं अकेला रह सकूँ! लेकिन मुझे तो कई लड़कों के साथ रहना पड़ रहा था। यह तो मोगा के बोर्डिंग हाउस से भी बुरी अवस्था थी। इससे मुझे बहुत असन्तोष था।

फिलास्फी के पीरियड में लॉजक पढ़ते समय मेरा मन उचाट होकर किसी गीत का रस लेने के लिए विकल हो उठता। लॉजक की देवोपासना में मुझे ज़रा रस न आता। मेरी बोध-शक्ति लॉजक के लिए अपना द्वार खोलने से बराबर इन्कार कर रही थी। लॉजक के हवन-कुण्ड में मैं एक भी आहुति डालने के लिए तैयार न हो सकता था।

संस्कृत के पीरियड में दूसरी तरह की कठिनाई का सामना करना पड़ता। वहाँ तोते की तरह सारी बात रटने की समस्या थी, क्योंकि इस भाषा का व्याकरण तो पहले कभी नहीं पढ़ा था। बस कुछ वेदमन्त्र रट रखे थे, वही मेरे संस्कृत ज्ञान

१. काले-काले बागों में कोयल बोल रही है। मेरे बाँके ढोला की चिट्ठी आ गई। लिफ़ाफ़ा खोलकर मैं चिट्ठी को पलटती हूँ! बड़ा दुःख तो यही है कि चिट्ठी मुँह से नहीं बोलती। मुलतान में तुम्हारा घर है, प्रियतम! या खुदा, नादान के साथ कोई इश्क न करे। कसूर में तुम्हारा घर है, प्रियतम! धूप तेज़ है, दूर का रास्ता है। कश्मीर में तुम्हारा घर है, प्रियतम! आओ, आओ, ओ ढोला! बर्फों को चीर कर आओ। काले-काले बागों में कोयल बोल रही है। मेरे बाँके ढोला की चिट्ठी आ गई।

की पूँजी थी। यहाँ तो कालिदास का 'कुमारसम्भव' और भास का 'स्वप्नवासवदत्तम्' पढ़ने की समस्या थी। न खाये बने, न छोड़ते बने। हिसाब की दलदल में गिरने से तो यह मुसीबत फिर भी आसान है, यह सोचकर तोते की तरह कालिदास के श्लोकों का अंग्रेज़ी अनुवाद रटता रहता। इसके साथ-साथ 'स्वप्नवासवदत्तम्' का अंग्रेज़ी अनुवाद रटते रहना भी कुछ कम कठिन न था। उस समय रूपलाल की याद आने लगती। मैं सोचता कि उसका संस्कृत का ज्ञान मेरे लिए सहायक हो सकता था। मेरा ख़्याल था कि रूपलाल लॉजिक में भी तेज़ है। मुझे हमेशा उसकी प्रतीक्षा रहती।

हिन्दी के पीरियड में भी कुछ कम कठिनाई न थी। काश मैंने हाई स्कूल में उर्दू की बजाय हिन्दी ली होती। लेकिन मेरा उर्दू का ज्ञान जैसे गर्व से सिर उठाकर कहता—उर्दू और हिन्दी का अन्तर तो केवल शब्दों का अन्तर है। हिन्दी का आरम्भिक ज्ञान तो मुझे घर पर ही प्राप्त हो चुका था। कालिज में संस्कृत के श्लोक रटते हुए हिन्दी शब्दावली की गुत्थियाँ खुद-ब-खुद खुलती गईं। फिर भी कभी-कभी लगता जैसे मज़ा न आ रहा हो, जैसे मेरा उर्दू साहित्य का बहुत-सा ज्ञान व्यर्थ जा रहा हो।

हिस्ट्री के पीरियड में ज़रा भी तो कठिनाई न होती। मुरग़ाबी की तरह मैं इतिहास की नदी पर तैरता चला जाता। बीच-बीच में उड़कर एक स्थल से दूसरे स्थल पर जा पहुँचता।

हिस्ट्री से भी ज़्यादा मज़ा अंग्रेज़ी के पीरियड में आता। मेरा अंग्रेज़ी का ज्ञान फर्स्ट ईयर के स्टैंडर्ड के अनुसार बिलकुल निर्दोष तो नहीं कहा जा सकता था, फिर भी लगता कि अंग्रेज़ी का द्वार मेरे सामने खुला हुआ है। कभी-कभी मुझे लगता कि इस देश में हम लोग अंग्रेज़ों के मानस-पुत्र बन गए हैं।

प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य ने टैगोर सर्कल की स्थापना कर रखी थी जिसमें मुझे उनकी वाणी सुनने का अवसर मिलता। वे फर-फर अंग्रेज़ी बोलते थे। सीनियर प्रोफ़ेसर होने के कारण वे हमारी क्लास को अंग्रेज़ी नहीं पढ़ाते थे। उसकी कुछ कमी मैं 'टैगोर सर्कल' में आकर पूरी करने लगा। कभी-कभी वे हमें बताते कि टैगोर की कविता का वास्तविक रस तो बँगला में ही आ सकता है। उनके मुँह से टैगोर की बँगला कविता का पाठ सुनते हुए मैं मुग्ध हो जाता। संस्कृत के पीरियड में सुने हुए अनेक संस्कृत शब्द टैगोर की बंगला कविता में जुगनुओं की तरह टिमटिमाते नज़र आते। किसी कविता की किसी पंक्ति में एक साथ तीन-चार परिचित-से शब्द सुनने को मिलते तो मुझे लगता कि मैंने दौड़कर अपने साथ खेलने वाले लड़कों को छू लिया है।

होस्टल में सन्ध्या करने का अंकुश मोगा के बोर्डिंग हाउस जैसा सख़्त तो न था, लेकिन जुर्माने की प्रथा तो यहाँ भी विद्यमान थी।

सैकण्ड और थर्ड ईयर के लड़कों में मैं मित्र ढूँढ़ने लगा, लेकिन इसमें सबसे बड़ी बाधा थी हमारी पढ़ाई के अन्तर की लम्बी-चौड़ी दीवार। किसी-किसी अंग्रेज़ी शब्द का उच्चारण उनके अट्टहास का कारण बन जाता और मुझे लगता कि मित्रता की पतंग बीच से कट गई। मुझे लगता कि 'फर्स्ट ईयर फूल' लाहौर आकर भी मज़ाक का पात्र ही बना हुआ है।

अंग्रेज़ी के पीरियड में कई बार किसी कविता में प्रकृति के मुक्त रूप का वर्णन पढ़ते हुए मुझे रावी का किनारा याद आने लगता। कई बार प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य से अंग्रेज़ी कविता पढ़ने के लिए मन लालायित हो उठता। लेकिन वे तो बी० ए० की क्लासें लेते थे।

अंग्रेज़ी के एक और सीनियर प्रोफ़ेसर थे दीवानचन्द शर्मा। वे भी बी० ए० की क्लासें लेते थे। बराण्डे से गुज़रते हुए मैं देखता कि कुरसी पर बैठकर या खड़े होकर पढ़ाने की बजाय प्रोफ़ेसर दीवानचन्द मेज़ पर नंगे सिर आलती-पालती मारे बैठे हैं। उनका यह रूप मुझे भला लगता और मैं सोचता कि हमें पढ़ाने वाले प्रोफ़ेसर लालचन्द भी इसी तरह मेज़ पर आलती-पालती मारकर क्यों नहीं बैठते।

प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य कमरे में क्लास लेने की बजाय खुली हवा में वृक्षों के नीचे क्लास लेना पसन्द करते थे। जब मैं उन्हें दूर से लड़कों के बीच खड़े हुए या कुरसी पर बैठकर पढ़ाते देखता तो उनके सिर के लम्बे बाल मुझे बहुत भले लगते। मैं सोचता कि हमारे प्रोफ़ेसर लालचन्द भी पगड़ी बाँधकर क्यों आते हैं, वे भी सिर के बाल क्यों नहीं बढ़ा लेते, वे भी खुली हवा में वृक्षों के नीचे क्लास क्यों नहीं लेते।

प्रोफेसर भट्टाचार्य के निकट-सम्पर्क की लालसा ले-देकर टैगोर सर्कल में ही पूरी होती। मैं सोचता कि प्रोफेसर भट्टाचार्य पर अभी टैगोर का पूरा असर नहीं हुआ; एक दिन वे भी सिर के लम्बे बालों के साथ दाढ़ी बढ़ा लेंगे। डॉक्टर टैगोर का चित्र मुझे प्रिय था; यह मेरे मन पर अंकित हो रहा था।

मेरे जीवन पर प्रोफेसर भट्टाचार्य की छाप लग चुकी थी। मुझे लगता कि वे किसी मायालोक से चले आए हैं। उस समय मुझे रूपलाल की याद आती। मैं चाहता था कि रूपलाल भी मेरे साथ मिलकर मायालोक से आए हुए इस विचित्र प्राणी को मेरी तरह मुग्ध होकर देखे। प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य की आवाज़ मुझे अद्भुत प्रतीत होने लगती। मैं सोचता कि इस कालिज की सबसे बड़ी विशेषता है टैगोर सर्कल और टैगोर सर्कल के प्राण हैं प्रोफेसर भट्टाचार्य।

इस बीच में एक और बात हुई। मैंने कालिज होस्टल की बजाय रावी रोड पर गुरुदत्त भवन में रहना आरम्भ कर दिया, वहाँ मुझे पूरा कमरा मिल गया जिसके लिए मैं इतने दिन व्याकुल रहा था।

लाहौर के लिए मैं एक देहाती लड़का था। फिर भी मुझे लगता कि लाहौर को मेरा मज़ाक उड़ाना स्वीकार नहीं। अनारकली में घूमते हुए मुझे अपने देहाती-पन की याद आये बिना न रहती। मालरोड की दुकानों के सामने घूमते हुए तो मुझे हमेशा लगता कि पीछे से कोई मेम या उसकी नीली आँखों वाली लड़की आ-कर कहेगी, "रास्टा क्यों नहीं छोडटा? डैम फूल!" लेकिन अगले ही क्षण मुझे लगता कि लाहौर मुझे कह रहा है—मैं तुम्हें बहुत पसन्द करता हूँ!…लाहौर की यह उदारता-भरी आवाज मेरे कानों में गूँजने लगती।

अनारकली में घूमते हुए ही नहीं, वहाँ से लौटकर भी अनारकली और जहाँ-गीर की कहानी मेरी कल्पना को बार-बार गुदगुदाने लगती। नूरजहाँ का मकबरा मैं कई बार देख आया था; सच पूछो तो उसकी कब्र पर खुदा हुआ शेर मैं एका-एक गुनगुनाने लगता :

बर मजारे मा ग़रीबाँ नै चरागे नै गुले,
नै परे परवाना सोज़द नै सदाये बुलबुले।[1]

कई बार मैं सोचता कि मरने के बाद मेरा मज़ार भी यहीं बनना चाहिए और मेरे मज़ार पर भी यही शेर खुदा रहना चाहिए।

जहाँगीर का मकबरा और शालामार बाग देखने का शौक मैं दबाकर नहीं रख सकता था। जहाँगीर के मकबरे की एक विशेषता यह थी कि वहाँ जाने के लिए रावी का पुल पार करना पड़ता था। मुझे गीत के वे बोल याद आने लगते जिनमें बहती रावी की चर्चा की गई थी :

वगदी रावी माही वे विच्च दो फुल्ल काले ढोला
इक्क फुल्ल मंगिया माही वे तुसीं बागाँ वाले ढोला
वगदी रावी माही वे विच्च दो फुल्ल पीले ढोला
इक्क फुल्ल मंगिया माही वे क्यों पिया दलीले ढोला
वगदी रावी माही वे विच्च पट्ठा चलाई दा ढोला
मैं ना जम्मदी माही वे तूँ कित्थों बियाहीदा ढोला
वगदी रावी गोरीए विच्च सुट्टाँ गंडेरियाँ ढोला
तूँ ना जम्मदी गोरीए सानूँ होर बथेरीयाँ ढोला[2]

---

१. हम गरीबों के मज़ार पर न चराग हैं, न फूल। न यहाँ परवाने के पर जलते हैं, न यहाँ बुलबुल की आवाज है।

२. रावी बहती है, प्रियतम! उसमें दो काले फूल हैं, ढोला! मैंने एक फूल माँग लिया, प्रियतम! तुम तो बागों के मालिक हो, ढोला। रावी बहती है, प्रियतम! उसमें दो पीले फूल हैं, ढोला! मैंने एक फूल माँग लिया, प्रियतम! तुम किस सोच में डूब गये, ओ ढोला? रावी बहती है, प्रियतम! उसमें चौलाई का पत्ता बह रहा है, ढोला! मैं जन्म न लेती, प्रियतम, तो तुम कैसे ब्याहे जाते, ढोला? रावी बहती है, गोरी! उसमें मैं गंडेरियाँ फेंकता हूँ। तुम्हारा जन्म न हुआ होता, ओ गोरी, तो हमारे लिए और बहुत-सी लड़कियाँ थीं।

और किस्सा शुरू हो जाता। कभी हँसी की एक गूँज पर मित्रों की टोली लोट-पोट हो जाती। कभी किसी ऐसे लड़के का जिक्र छिड़ जाता जिसका ब्याह हो गया और कालिज छूट गया; उस पर हर किसी को तरस आता। बेचारे को लाहौर छोड़ना पड़ा !—यों उसके दुर्भाग्य की ओर संकेत किया जाता।

लाहौर शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र था। एक-से-एक अच्छा कालिज, एक-से-एक अच्छी लाइब्रेरी। पंजाब यूनिवर्सिटी भी यहीं थी। पंजाब पब्लिक लाइब्रेरी भी यहीं थी जहाँ हमारे गाँव के स्वर्गीय सरदार अतरसिंह की दी हुई किताबें मौजूद थीं। पंजाब यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी भी यहीं थी। दयालसिंह लाइब्रेरी, लाजपतराय लाइब्रेरी, गुरुदत्त भवन में आर्यप्रतिनिधि सभा लाइब्रेरी। पढ़ने वाले के लिए इन लाइब्रेरियों में पुरानी और नई अनेक पुस्तकें मिल सकती थीं।

लाहौर के कालिजों में पढ़ने वाले लड़कों में ऐसे भी थे जिन्होंने एफ़० ए० में तीन-तीन, चार-चार साल लगाये थे। बी० ए० में घिसट-घिसट कर चलने वालों की भी यहाँ कुछ कमी न थी। बार-बार फेल होने वाले लड़कों की बुद्धि एकदम कुण्ठित हो गई हो, यह बात मानने के लिए मैं तैयार न था; मैं तो परीक्षा के ढंग के विरुद्ध सोचने लगता।

पहले पहल पंजाब पब्लिक लाइब्रेरी में वज़ीर ख़ान से भेंट हुई थी। मेरे साथ प्रेमनाथ भी था। वजीर खान गवर्नमेण्ट कालिज में फर्स्ट ईयर में पढ़ता था और गवर्नमेण्ट कालिज के होस्टल में रहता था। छः फुट दो इंच का लम्बा कद, बड़ा डील-डौल, बड़ी-बड़ी आँखें। सिर पर कुल्ला और लुंगी, कोट के नीचे कमीज। वज़ीर ख़ान मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने प्रेमनाथ से उसका परिचय कराया और बताया कि प्रेमनाथ एफ़० सी० कालिज में फ़र्स्ट ईयर का विद्यार्थी है और हम एक साथ गुरुदत्तभवन में रहते हैं। वज़ीर ख़ान ने मेरे कन्धे पर हाथ मार कर कहा, "ख़ो आज से हम तीनों दोस्त हैं। हम पीछे आयेगा गुरुदत्त भवन, पहले तुम आयेगा हमारे होस्टल में।"

मुझसे भी पहले प्रेमनाथ ने सिर हिलाकर उसके होस्टल में जाने का वायदा किया।

कई दिन तक वजीर खान से दोबारा भेंट न हो सकी। उसका बात करने का अन्दाज़ मैंने अपना लिया था। प्रेमनाथ को सम्बोधित करते हुए मैं अकसर यों बात शुरू करता, "खो हमें पेशावर अच्छा लगता। खो हम श्रीनगर भी देखना माँगता।" और इसके उत्तर में प्रेमनाथ कहता, "ख़ो हम तुम्हें श्रीनगर जरूर दिखाना माँगता।"

'ख़ो' शब्द का उच्चारण करते ही मेरे सामने वज़ीर खान का चेहरा घूम जाता। उससे मिलने के लिए मैं एकाएक उत्सुक हो जाता। जितना भी मैं वज़ीर खान से मिला उतना ही मैं महसूस करने लगा कि जो लोग ऊपर से किसी हद तक

डरावने लगते हैं, जरूरी नहीं कि अन्दर से भी वह उतने ही डरावने हों।

प्रेमनाथ मेरा सबसे बड़ा मित्र था। उसका पिता श्रीनगर के नार्मल स्कूल में हैडमास्टर था और यही मुझे उसकी सबसे बड़ी विशेषता प्रतीत होती थी। वज़ा-क़ता से तो प्रेमनाथ एक मामूली लड़का था। अच्छे-से-अच्छा लिबास भी कभी उसके जिस्म पर खिलता न था। तबीयत का भी बहुत हँसमुख नहीं था।

कई बार वज़ीर ख़ान से मिलने के बाद मुझे प्रेमनाथ एकदम मरदूद-सा लगने लगता। कहाँ वज़ीर ख़ान जो बहुत गरमजोशी से अलेक-सलेक करता और बेहद तपाक से मिलता, कहाँ प्रेमनाथ कि जब देखो माथे पर त्योरियाँ पड़ी हुई हैं।

एक दिन मैं वज़ीर ख़ान के होस्टल में गया तो वह बोला, "ख़ो अगले साल छुट्टियों में पेशावर चलो हमारे साथ।"

मैंने कहा, "ख़ो पेशावर में हम क्या करेगा?"

"ख़ो बहुत अच्छा मुलक है हमारा।"

"ख़ो फिर तो हम ज़रूर जाएगा।"

"ख़ो उधर अच्छा-अच्छा गाना सुनने को मिलता। साला लाहौर में क्या रखा है? लाहौर में तो खाली तालीम मिलता। ख़ो ऐसा गाना तो सुनने को नहीं मिलता जैसा हमारे मुलक में मिलता। ख़ो साला लाहौर वाला क्या खाकर करेगा पठान का मुक़ाबिला?"

"ख़ो पठान का एक गाना तो हमें भी सुनाओ, वज़ीर ख़ान!" मैंने ज़ोर देकर कहा।

"ख़ो ज़रूर सुनायेगा। हमारे गीतों में शायर अपनी महबूबा के होंठों की तारीफ़ करता नहीं थकता। ख़ो इस साला लाहौर के पास ऐसे गीत कहाँ से आयेंगे? हर पठान जानता है हमारा गीत। नसल-दर-नसल चला आता है हमारा गीत।"

"ख़ो हम भी सुनेगा एक गीत।"

"ख़ो सुनो पेज़वान का गीत!" कहकर वज़ीर ख़ान ने गा सुनाया:

> शुण्डे बए वले पस्ते नवी,
> चे ओडे जेमे द पेज़वान सोरे पेबीना।[1]

मैंने कहा, "ख़ो पेज़वान क्या होता है?"

"ख़ो पेज़वान दोनों नथनों के बीच में सुराख करके पहना जाता है और यह हमेशा होंठों को छूता रहता है।"

"ख़ो पेज़वान तो हमारे यहाँ भी पहना जाता है, लेकिन हमारे यहाँ उसका

---

१. (महबूबा के) होंठ क्यों नरम न हों जब कि गरमी हो चाहे सरदी उन पर पेज़वान का साया रहता है।

नाम है 'मछली'।" मैंने वज़ीर खान के कन्धे पर हाथ रखकर कहा।

"ख़ो मछली का कोई गीत हम भी सुनना माँगता।"

"ख़ो सुनो मछली का गीत !" कहकर मैंने गा सुनाया :

केहड़े यार दा कच्चा दुद्ध पीता ?
मछली नूँ झग्ग लग्ग गई।[1]

"ख़ो हमारा वाला मज़ा नहीं है इस गीत में।"

"ख़ो छोड़ो, वज़ीर खान ! कोई क़ब्र का गीत हो तो सुनाओ।"

"खो हम सुनायेगा !" कहकर वज़ीर खान ने गाना शुरू किया :

लहद ये ख जोड़का, उस्तादा !
जमा अशना वा पके उमर तेरवीना।[2]

"खो यह तो बहुत अच्छा तरज़ है !"

"खो तरज़ से अच्छा तो इसका मतलब है।"

मैंने वज़ीर ख़ान को क़ब्र के सम्बन्ध में वह पंजाबी गीत सुनाया जिसमें क़ब्र की उपमा माँ से दी गई थी। वह हक्का-बक्का मेरी ओर देखता रह गया।

"ख़ो हम नहीं जानता था कि पंजाबी गीत भी इतना अच्छा हो सकता।"

हम यह देखकर चकित रह गये कि पश्तो 'लण्डई' और पंजाबी 'बोली' (गिद्धा नृत्य का गीत) का रूप एक-दूसरे के कितना समीप है।

उसने मुझे 'लण्डई' के कई बोल लिखा दिये। फिर तो मैं जब भी उससे मिलता 'लण्डई' का तकाज़ा करता। कई बार तो वह भी तकाज़ा करता। मेरी भी यही कोशिश रहती कि 'लण्डई' का जवाब 'गिद्धा' की दो पंक्तियों वाली 'बोली' से ही दिया जाय।

वज़ीर खान से मिले हुए 'लण्डई' के कुछ बोल तो बहुत ज़ोरदार प्रतीत हुए। वही 'गिद्धा' नृत्य की 'बोली' की-सी चुस्त बजा-कता, वही एकदम किसी नुकते पर पहुँचने का अन्दाज़। वज़ीर खान का ख़्याल था कि पश्तो 'लण्डई' का हर बोल गज़ल के मिसरे की तरह उभरता है :

कलम द-स्तो काग़ज द-स्पिनो,
यो सो मिसरे पविनी स्ते यार ता ले गमा।[3]

---

१. किस प्रेमी का कच्चा दूध पिया था कि तुम्हारी मछली को झाग लग गई।

२. उसकी कब्र अच्छी (खुली) बनाओ, ओ उस्ताद ! क्योंकि मेरा आशना (प्रेमी) अब अपनी उमर (कयामत तक का समय) इसी के अन्दर गुजारेगा।

३. सोने की कलम है, चाँदी का कागज़। अपने यार के लिए कुछ मिसरे लिखकर भेज रही हूँ जो मेरे लहू से लथपथ हैं।

द जिनै द्रे सीजुना मजै कड़ी,
द स्त तावीज़ स्पिनै पंजै लण्ड क़दमुना ।[१]
यार मे द समे ज द सवात यिम,
समा दी वरान शी चे दुआड़ा सवात लजुना ।[२]
वतन दे स्ता त पके ओसा,
ज द मरग़ै प वूटो श्पे दरताकोमा ।[३]
ज़ाने ज़ड़ो जामो कें जोड़ कड़,
लका प वरान कली के बाग द गुलोना ।[४]
तीरा कश्मीर द नंगियालो दे,
दा बेगैरत दे दलता न ओसी मएँना ।[५]
ख़ाना ख़ादी दे मुबारक शाह,
यवा दे द सल अवया दे नोरे वी ।[६]

वज़ीर ख़ान जानता था कि मैं उसकी 'लण्डई' के पीछे पागल हूँ और इनके सामने मुझे बड़े-से-बड़े शायर का कलाम भी पसन्द नहीं आता। इसलिए वह मेरी कल्पना में रंग भरते हुए कह उठता, "ख़ो पशतो लण्डई पठानों का सबसे मज़ेदार गीत। ख़ो लण्डई पर सबका हक़ है। जैसे बन्दूक से गोली छूटता है वैसे ही गाने वाले की ज़ुबान से लण्डई का बोल छूटता है। खो लण्डई कभी बेअसर नहीं रहता। ख़ो जैसे पठान की रगों में ख़ून बहता है वैसे ही उसकी जिन्दगी में लण्डई बहता है दिन-रात।

---

१. लड़की की तीन चीज़ मज़ेदार होती हैं, गले का सोने का तावीज़, चाँदी जैसी पिण्डलियाँ ग्रौर छोटे-छोटे कदमों की चाल।

२. मेरा यार मैदान का रहने वाला है ग्रौर मैं सवात की रहने वाली हूँ। ख़ुदा करे मैदानी प्रदेश उजड़ जाय ताकि हम दोनों सवात चले जायें।

३. यह तुम्हारा ग्रपना वतन है, ख़ुदा करे तुम ग्राबाद रहो। मैं तो एक चिड़िया (मुसाफ़िर) हूँ, तुम्हारी याद में पेड़ों पर रातें गुज़ारती हूँ।

४. लड़की पुराने लिबास में बन सँवर कर निकली। यों लगा जैसे गाँव के खण्डहरों में फूलों का बाग लग गया हो।

५. तीरा बहादुरों का काश्मीर है। ग्रो मेरी महबूबा, इसमें बेग़ैरत लोगों के लिए जगह नहीं है।

६. ऐ ख़ान, तुम्हें ग्रपनी ख़ुशी मुबारक हो। ख़ुदा करे तुम्हें इस ख़ुशी के इलावा एक सौ सत्तर ख़ुशियाँ हासिल हों।

पठान को समझो, प्रेमनाथ !

प्रेमनाथ को मेरी यह आदत नापसन्द थी कि मैं किसी-न-किसी चीज के पीछे हाथ धोकर पड़ जाता हूँ और फिर मुझे और किसी चीज का खयाल नहीं रहता।

एक दिन वह रात के खाने के बाद मुझे अपने कमरे में ले गया। वहाँ हम देर तक बातें करते रहे। वह बोला, "तुम वज़ीर खान के पीछे इतने पागल क्यों हो रहे हो ? मैं कहता हूँ कि तुम वज़ीर खान के चक्कर से निकल आओ।"

"वज़ीर खान का तो कोई चक्कर नहीं।" मैंने हँस कर कहा।

"उसके गीतों में क्या रखा है ?" वह बोला, "तुम हो कि उनके पीछे दीवाने हुए फिरते हो। पढ़ना ही है तो ग़ालिब का कलाम पढ़ो। टैगोर की शायरी भी बुरी नहीं।"

मैंने कहा, "अभी अगले ही रोज़ टैगोर सर्कस में प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य ने बताया था कि टैगोर की शायरी को समझने के लिए बंगाल की देहाती शायरी को भी समझना होगा।"

"ये सब बेकार की बातें हैं।"

"प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य ने बताया था कि टैगोर की शायरी पर बंगाल की देहाती शायरी का बहुत असर पड़ा है। इकतारे पर बंगाल के बाउल आज भी जो गीत गाते हैं टैगोर को बेहद पसन्द हैं। प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य ने तो यहाँ तक बताया था कि टैगोर ने बंगाल के देहाती अदब पर एक किताब भी लिखी है।"

"एक पागल है तुम्हारा भट्टाचार्य, दूसरे पागल हो तुम। टैगोर को समझना आसान नहीं। उसे यों ही तो नोबल प्राइज़ नहीं मिल गया था। उसकी शायरी का अपना अन्दाज़ है, अपना रंग है। फिर मैं पूछता हूँ कि तुम्हें वज़ीर ख़ान के गीत कौन-सा दूध देते हैं।"

मैंने हँसकर कहा, "प्रेमनाथ, मुझे तो यह नापसन्द है कि इन्सान दुनिया की तरफ़ से दिमाग़ की खिड़कियाँ बन्द कर ले।"

मेरी दलील का प्रेमनाथ के पास कुछ उत्तर न था। एक दिन, जब कालिज में छुट्टी थी, मैं प्रेमनाथ को भी वज़ीर ख़ान के होस्टल में ले गया। वज़ीर खान मुझे देखते ही बोला, "ख़ो आज तो कोई अच्छा-सा पंजाबी गीत सुनाओ।"

प्रेमनाथ बोला, "गीतों में ऐसी क्या बात होती है जो तुम लोगों को जमकर कालिज की पढ़ाई भी नहीं करने देती ?"

"ख़ो तुम नहीं जानता, प्रेमनाथ !" वज़ीर ख़ान ने प्रेमनाथ के कन्धे पर हाथ मारकर कहा, "खो तुम वजुर्गी का जामा पहनना माँगता ? लेकिन हमारे मुलक में तो बुड्ढा लोग भी गीत सुनकर खुश होता है। वह लोग भी गीत सुनता है जिनका बीवी जान वहुत वदमिजाज़ होता और दिन मुश्किल से गुजरता, और वह लोग भी गीत सुनता जिनकी जिन्दगी में खुशी का कोई ठिकाना नहीं होता। खो तुम क्यों गीत से नफ़रत करता है, प्रेमनाथ ?"

मैंने देखा कि प्रेमनाथ खूब फँसा। वज़ीर ख़ान ने दोबारा प्रेमनाथ के कन्धे पर हाथ मारकर कहा, "खो कालिज का पढ़ाई तो चलता ही रहता, इस साल पास नहीं हुए तो दूसरे साल पास हो गये। खो हम ज़िन्दगी का मज़ा तो किरकिरा नहीं करना माँगता। खो यही हमारा बाप की भी नसीहत। हम बोलता—खुश रहो, मेहरबान ! अल्ला पाक ने यह ज़िन्दगी दी है तो इसे बरबाद मत करो। खो ज्यादा ग़म रहेगा, ज्यादा फ़िक्र करेगा, इम्तिहान के शैतान से डरेगा, तो ज़िन्दगी का मज़ा ही जाता रहेगा, प्रेमनाथ ! खो गीत हमको मज़ा देता, इसलिए हम गीत पर जान कुरबान करता, प्रेमनाथ !"

प्रेमनाथ की आँखें चमक उठीं। उसे यह आशा नहीं थी कि उसे वज़ीर खान से इतनी मजेदार बातें सुनने को मिलेंगी।

वज़ीर खान ने चाय मँगवाई, साथ में अपने लिए कबाब और हमारे लिए आलू के कटलेट। चाय पीते-पीते उसने पठानों की मेहमानबाजी पर प्रकाश डालते हुए कहा, "पठानों के यहाँ 'राशा' शब्द बहुत ही मजेदार समझा जाता है। 'राशा' का मतलब है 'आओ !' जब दो पठान मिलते हैं तो दोनों तरफ़ से 'राशा' की आवाज आती है। एक कहता है—राशा ! दूसरा कहता है—राशा ! तीसरा हो तो वह भी यही कहेगा—राशा !"

मैंने कहा, "जब मैं बच्चा था, तो हमारे गाँव में कभी-कभी 'राशे' आया करते थे।"

"राशे लोग कौन होते हैं ?" प्रेमनाथ ने झट पूछ लिया।

"यही 'राशा ! राशा !' कहने वाले," मैंने उत्तर दिया, "अब समझा कि वे लोग पठान होते थे। उन्हें आपस में 'राशा ! राशा !' कहते सुनकर ही हमारे गाँव वालों ने उन्हें 'राशे' कहना शुरू कर दिया था। माताएँ बच्चों को डराते हुए कहती थीं—राशे पकड़कर ले जायँगे।"

"खो राशा लोग तुम्हारे गाँव में कब आता था ?" वज़ीर खान ने चुटकी ली।

मैंने कहा, "जब कभी ज्यादा मेंह पड़ते और गाँव के कच्चे कोठे गिर जाते

तो कहीं से 'राशे' आ निकलते। वे लोग ठेके पर कच्ची दीवारें खड़ी कर देते। और भी कई तरह की मेहनत-मजदूरी करते थे वे लोग।"

"ख़ो छोड़ो राशा लोग की बात," वज़ीर ख़ान ने चाय का आखिरी घूंट भरते हुए कहा।

कुछ क्षणों की खामोशी के बाद वज़ीर ख़ान ख़ुशी से उछल पड़ा। बोला, "ख़ो प्रेमनाथ, तुम खुद देख सकते कि पठान और पंजाबी में कोई फ़र्क नहीं है। खो खून तो सबका एक-जैसा सुर्ख है, गीत भी सबका एक-जैसा दिल को खींचने वाला है। बस किसी का गीत जरा कम खींचता है, किसी का जरा ज्यादा। लेकिन सब फ़र्क ऊपर के हैं, अन्दर के नहीं। ख़ो इनसान हमेशा शायरी का भूखा रहेगा। खो जब हम पठानों के यहाँ कोई मेहमान आता है तो मेजबान को यह कहना पड़ता है—'हर कले राशा!' यानी तुम हर रोज आओ! अब यह जो देहाती गीतों की शायरी है, मैं इससे भी यही कहता हूँ—हर कले राशा! यानी हर रोज आओ! खो प्रेमनाथ क्या तुम भी यही नहीं बोलने सकता?"

"ख़ो हम भी जरूर बोलने सकता।" प्रेमनाथ ने किसी कदर बेदिली से कहा।

वज़ीर ख़ान बोला, "ख़ो थोड़ा और मस्ती में आ जाओ, प्रेमनाथ! सुनो हमारा गीत :

च स्परले तीरशी ब्या बराशी,
जवानई च तीरशी ब्या न राजी मइना[१]!'

वज़ीर ख़ान ने इसका मतलब समझाया तो मैंने उछलकर कहा, "खो वजीर ख़ान, एक पंजाबी गीत में भी यही बात कही गई है :

तन पुराना मन नवाँ अखखाँ ओ ही सुभा
मैं तैनूं आखाँ जोवना वे इक्क वेर फिर आ!"[२]

वज़ीर ख़ान को इस पंजाबी गीत का अनुवाद सुनाया गया, तो वह बोला, "ख़ो पशतो और पंजाबी गीत तो भाई-भाई हैं।"

अब हमने प्रेमनाथ से कोई काश्मीरी गीत सुनाने का तकाज़ा शुरू किया। उसने बड़ी मुश्किल से किसी काश्मीरी गीत का एक बोल सुनाया :

आर पोशो चेर क्यहो गोयो,
अन्दर वननय न्यंदर मा प्ययययो,

---

१. बहार चली जाती है और फिर लौट आती है। बीती हुई जवानी तो लौटकर नहीं आती, ओ मेरी प्रेयसी!

२. मेरा तन पुराना है, मन नया है, आँखों का स्वभाव पहले का-सा है। ओ यौवन, मैं तुमसे कहती हूँ कि तुम एक बार फिर आ जाओ न!

न्यरू न्यबर छुय चले जावो,
रोज बुलबुलो लोल च्योन आमो ![1]

प्रेमनाथ ने हमें इस काश्मीरी गीत का मतलब समझाया तो वज़ीर ख़ान बोला, "ख़ो प्रेमनाथ, तुम भी हमारे कबीले का आदमी निकला।"

मैंने कहा, "जिस तरह इस काश्मीरी गीत में आलू बुखारे के फूल से खिलने के लिए कहा गया है उसी तरह हम भी प्रेमनाथ से कह सकते हैं कि वह भी खिल जाय!"

प्रेमनाथ बोला, "एक काश्मीरी गीत में अलग-अलग पेड़ों ने भगवान् से शिकायत की है।"

"ख़ो वह गीत हम जरूर सुनेंगे, प्रेमनाथ!" वज़ीर ख़ान ने जोर देकर कहा। प्रेमनाथ ने धीरे-धीरे गाना शुरू किया :

बालि गोम ताशोक बाग बसनस्तय
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।
चेरि कुर फ़रियाद बार साहिबस्तय
सुलि है आयस चीर प्योम नाव
ग्रीस्यतिस यम बकार न्यंद कालस्तय
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।
फ़स्तन कुर फ़रियाद बार साहिबस्तय
फ़स्तय ओसुस त म्यव कोन द्राम
ग्रीस्यतिस हुस लगान लरि दारबस्तय
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।
वोणि कुर फरियाद बार साहिबस्तय
वूणय है आसस्तु म्यव कोन द्राम
वोणि हुद शेहजार कुलि आलमस्तय
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।
वीरि कुर फ़रियाद बार साहिबस्तय
वीर है ओसुस त म्यव कोन द्राम
वीरिहुंद द्वदुरचाम बाल पानस तय
अस्तय अस्तय नोव बहार आव।
टंगन कुर फ़रियाद बार साहिबस्तय
टंग है ओसुस त म्यव द्राम

१. ओ आलूबुखारे के फूल, तुम्हारे आने में देर क्यों हुई? वनों में तुम्हें नींद तो नहीं आ गई थी? खूब रौनक है। ठहर जा, बुलबुल, तेरे प्रेम ने मुझे बहुत सताया।

टंगकुय शेहजार वाहव खारस तय
अस्तय अस्तय नोव बहार आव ।[1]

प्रेमनाथ ने हमें इस गीत का मतलब बड़े इतमीनान से समझाया। खोवानी के बारे में उसने कहा, "खोवानी के लिए काश्मीरी शब्द है 'चीर'। चीर का दूसरा अर्थ है 'देर से आने वाली' जिसकी ओर इस गीत में संकेत किया गया है।"

वज़ीर ख़ान ने कहा, "खो प्रेमनाथ, हमारी नोंक-झोंक का बुरा न मानना। कुरेदने के बिना बात नहीं निकलती। ख़ो यह पेड़ों का गीत जितना काश्मीरी है उतना ही पंजाबी और पठान भी है। फ़र्क इतना ही है कि एक जगह के पेड़ दूसरी जगह के पेड़ों से अलग होते हैं। खो पेड़ों की ज़ुबान से इन्सान ही बोलता है। खो इन्सान का इस बात में कोई दूसरा जानदार क्या मुकाबिला करेगा? खो मैं कहता हूँ जिस तरह इन्सान ने पेड़ों के दिल की बात पढ़ने की कोशिश की है, उसी तरह अगर इन्सान अपने साथियों और पड़ोसियों के दिल की बात पढ़ने की भी कोशिश करे तो बहुत काम हो सकता है।"

मैंने कहा, "वज़ीर खान, प्रेमनाथ से मेरी एक सिफ़ारिश तो कर दो।"

"खो कैसी सिफ़ारिश?" वज़ीर खान ने मेरे कन्धे पर हाथ मारकर कहा।

"यही कि वह अगले साल गरमी की छुट्टियों में मेरे लिए कुछ काश्मीरी गीत लिखकर लाये जैसे तुम मेरे लिए पठानों के गीत लिखकर लाओगे।"

"खो प्रेमनाथ, यह काम तो बहुत ज़रूरी है।" वज़ीर खान ने प्रेमनाथ को अपनी बाँहों में उठाकर एक चक्कर देते हुए कहा।

"यह काम कॉलिज की पढ़ाई से ज़्यादा ज़रूरी तो नहीं हो सकता।" प्रेम-ने काँपती हुई आवाज़ से कहा।

"ख़ो यह काम तो उससे भी ज़रूरी है!" वज़ीर ख़ान ने प्रेमनाथ को ज़ोर से अपनी बाँहों में घुमाते हुए कहा, "हमारी बात मंजूर नहीं तो मैं तुम्हें अभी ज़मीन पर पटक देता हूँ और बस आज से हमारी दोस्ती ख़त्म होती है।"

---

१. मुझ युवती को बाग में जाने का शौक चल गया। धीरे-धीरे नई बहार आ गई। खोवानी ने अल्लाह से फरियाद की--मैं सबसे पहले आई, पर मेरा नाम पड़ा 'चीर' (देर से आने वाली)! मैं तो नलाई के समय किसान के काम आऊँगी। धीरे-धीरे नई बहार आ गई! सफेदे ने अल्लाह से फरियाद की—मैं सफेदा हूँ तो मुझे मेवा क्यों नहीं लगा? मैं तो किसान के मकान बनाने में लकड़ी के काम आता हूँ। धीरे-धीरे नई बहार आ गई! चनार ने अल्लाह से फ़रियाद की--मैं चनार हूँ, तो मुझे फल क्यों न लगा? चनार की छाया तो सारे संसार के लिए है। धीरे-धीरे नई बहार आ गई। बेद वृक्ष ने अल्लाह से फ़रियाद की—मैं बेद हूँ, तो मुझे फल क्यों न लगा? बेद की दतून तो सारे संसार के लिए है! धीरे-धीरे नई बहार आ गई। नाख के वृक्ष ने अल्लाह से फरियाद की—मैं नाख हूँ तो मुझे फल लगा। कवि वहाब खार नाख की छाया में रहता है। धीरे-धीरे नई बहार आ गई।

प्रेमनाथ चीख रहा था। उसे डर था कि वज़ीर ख़ान उसे सचमुच अपने होस्टल के बरामदे के फ़र्श पर न पटक दे।

साँझ उतर रही थी। प्रेमनाथ की चीखें सुनकर आस पास के कमरों के कुछ लड़के निकलकर वज़ीर ख़ान की तरफ लपके और प्रेमनाथ को उसकी बाँहों से आज़ाद करा दिया।

प्रेमनाथ घबराया हुआ खड़ा था। वह मेरी तरफ बड़े गुस्से से देख रहा था। जैसे यह सब हमारी साजिश का नतीजा हो।

लेकिन प्रेमनाथ की मदद को आये हुए लड़के बहुत जल्द इसे दोस्तों की छेड़-छाड़ समझकर हँसते-हँसते बाहर निकल गये।

प्रेमनाथ घबराया हुआ खड़ा था। मैंने उसे गले लगाने का यत्न करते हुए कहा, "वज़ीर खान ने आज तुम्हें अपने कबीले का आदमी बना लिया।"

"ख़ो प्रेमनाथ, क्या इरादा है?" वज़ीर खान ने उससे ज़बरदस्ती हाथ मिलाते हुए कहा, "ख़ो पठान को समझो, प्रेमनाथ!"

न खेल ख़त्म, न पैसा हज़म

फर्स्ट ईयर से सैकंड ईयर में होकर मैंने एक प्रकार से सिद्ध कर दिखाया कि अन्य दिलचस्पियों के साथ-साथ मैंने कालिज की पढ़ाई में किसी तरह की कोताही नहीं की थी। मित्रसेन से मिलने वाला खर्च लाहौर के खर्च को देखते हुए बहुत कम था, लेकिन मैं कभी इसकी शिकायत न करता। मेरी आवश्यकताएँ अपनी सीमाओं के घेरे से बाहर न निकलतीं। अपने मित्रों के सामने मैं हमेशा सादगी का उसूल पेश करता। कभी फैशन के प्रलोभन मुझे तंग करते, न कभी ऐश का ख़्याल ही मुझे सताता। मुझे यदि कोई दुःख था तो यही कि प्रेमनाथ और वज़ीर खान जैसे मित्रों के होते हुए भी रूपलाल से अभी तक भेंट नहीं हो सकी।

सहसा एक दिन यह दुखद समाचार मिला कि रूपलाल चल बसा। जैसे मेरे जीवन पर एक चट्टान आ गिरी, मैं इसके लिए तैयार नहीं था।

जब भी किसी की मृत्यु होती, मेरी आँखों से आँसू न गिरते। सब मुझे पत्थर दिल समझते। लेकिन रूपलाल की मृत्यु ने जैसे वर्षों के जमा किये हुए आँसू उँडेल दिये।

मुझे याद आया कि पटियाला में एक बार मैंने रूपलाल को वह गीत सुनाया था :

> कब्राँ उड़ीकदीयाँ,
> ज्यों पुत्तराँ नूँ मावाँ ![1]

कब्र के साथ माँ की उपमा की बहुत प्रशंसा करते हुए मैंने कहा था, "संसार के साहित्य में कहीं ऐसी उपमा नहीं मिलेगी, रूपलाल !" अब उस गीत का ध्यान आते ही मैंने सोचा कि रूपलाल ने कभी खुलकर यह क्यों नहीं बता दिया था कि उसे इस गीत में अपनी मृत्यु का संकेत प्राप्त हो गया था।

कॉलिज में मेरा जी न लगता, न गुरुदत्त भवन अच्छा लगता। रावी की सैर में भी जैसे अब कोई मजा न रह गया हो। प्रेमनाथ और वज़ीर ख़ान हमेशा मुझे समझाते कि किसी दोस्त की मौत का ग़म इतना तो नहीं छा जाना चाहिए।

---

१. कब्रें इन्तज़ार करती हैं, जैसे माताएँ बेटों का इन्तज़ार करती हैं।

लेकिन मैं तो ग़म में डूबा जा रहा था। ज़िन्दगी एक फ़रेब नज़र आती, ज़िन्दगी की अठखेलियों से मुझे नफ़रत हो गई। मित्रों के क़हक़हों के पीछे अक्सर ज़िन्दगी का खोखलापन उभरता। मुझे लगता कि मौत मेरा भी पीछा कर रही है, जैसे बिल्ली चूहे का पीछा करती है, और मैं लाख चाहूँ कि मौत को धता बता दूँ, लेकिन आख़िरी जीत मौत की ही होकर रहेगी।

मेरे मन को हमेशा उस गीत के शब्द झकझोर जाते जिसमें मौत को सबसे ज़बरदस्त सिद्ध किया गया था :

अकल कहे मैं सब तों वड्डी, विच्च कचहरी लड़दी
शकल कहे मैं तैथों वड्डी, दुनिया पानी भरदी
दौलत आखे तैथों वड्डी, मैं हुण किस तों डरदी
मौत कहे तुसीं तिन्नें झूठीयाँ, मैं चाहाँ सो करदी[1]

मैं सिर्फ़ वक़्त गुज़ारने के लिए कालिज जाता। लेकिन पढ़ाई तो पढ़ाई, मुझे तो उन दिनों जीवन ही निरर्थक प्रतीत होने लगा था; निरर्थक ही नहीं, असंबद्ध भी। कभी मैं सोचता कि कालिज से भाग जाऊँ और दुनिया का कोना-कोना छान मारूँ। कभी सोचता कि अपनी ज़िन्दगी को ख़त्म कर डालूँ और जीवन की इन सभी ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो जाऊँ। जिस मौत ने रूपलाल को डस लिया था उसी का शिकार होने के लिए मेरे मन में एक लालसा जाग उठी थी।

टैगोर का वह विचार कि 'जब भी कोई शिशु जन्म लेता है, यह सन्देह लाता है कि अभी तक भगवान् संसार की रचना से निराश नहीं हुआ, मुझे बुरी तरह चुनौती देने लगता। कहीं कोई भगवान् है भी या नहीं, मैं इस बहस में नहीं पड़ना चाहता था। मैं तो यह जानना चाहता था कि ज़िन्दगी का मकसद क्या है।'

यह सन् १९२७ की घटना है।

मैं लाहौर में अनारकली के समीप नीला गुम्बद के चौक में आकर खड़ा हो गया। रात का समय था। अधिक गहमा-गहमी न थी! मेरे सामने एक ही समस्या थी। वह थी ज़िन्दगी की समस्या। मैं सोच रहा था कि क्यों न आत्महत्या करके इस खेल को ख़त्म कर दिया जाए। रावी में छलाँग लगाकर ज़िन्दगी से छुटकारा पा लिया जाए या रेलगाड़ी के नीचे आकर जान दे डाली जाए। मैं परेशान था। रात एकदम खामोश न थी। लेकिन रात के पास भी मेरे सवाल का जवाब न था।

---

१. अक्ल कहती है—मैं सबसे बड़ी हूँ, मैं कचहरी में बहस करती हूँ। शक्ल (सुन्दरता) कहती है—मैं तुझसे भी बड़ी हूँ, दुनिया मेरा पानी भरती है। दौलत कहती है—मैं तुझसे भी बड़ी हूँ, मैं अब किससे डरती हूँ? मौत कहती है—तुम तीनों झूठी हो, मैं जो चाहती हूँ वही करती हूँ।

यूइँग हाल की तरफ़ से दो नौजवान आते दिखाई दिये । मैं सड़क के इस पार खड़ा बड़े ध्यान से उनकी तरफ़ देख रहा था । वे मुश्किल से दस-वीस कदम आगे आये होंगे कि मैं सहमा-सकुचाया उनकी तरफ़ बढ़ा । मैं कुछ कहना चाहता था । लेकिन शब्द मेरा साथ नहीं दे रहे थे । मैं उनके करीब पहुँचकर खड़ा हो गया । उनमें से एक नौजवान ने पूछा, "हमसे कुछ कहना चाहते हो ?"

मैंने कहा, "मैं सिर्फ़ यह पूछना चाहता हूँ कि ज़िन्दगी का मकसद क्या है ?"

"क्या ?" उस नौजवान ने हैरान होकर कहा ।

"मैं···सिर्फ़ यह···पूछना चाहता हूँ···" मैंने अटक-अटककर कहा, "कि इन्सान···दुनिया में·· क्यों आया है ।"

उस नौजवान ने मुझे सिर से पैर तक देखा । उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और भी फैल गईं । उसने मेरा हाथ ज़ोर से अपने हाथ में दबाया ।

"क्या तुम खुदकशी करना चाहते हो ?" यह कहते हुए उसने मेरे बाज़ू को ज़ोर से झटका दिया ।

मैं अपना हाथ छुड़ाकर भाग जाना चाहता था ।

"बताओ तुम खुदकशी करना चाहते हो ?" उसने पूछा ।

"हाँ ।" मैंने दबी ज़ुबान से कहा ।

मेरे पैरों के नीचे से जैसे ज़मीन निकल गई हो । उसने मेरी अवस्था का विश्लेषण करते हुए कहा, "यह तो तुम अच्छी तरह जानते होगे कि खुदकशी बहुत बड़ा जुर्म है ।"

"जी हाँ !" मैंने दबी ज़ुबान से कहा ।

"अब देर क्या है ?" उसने अपने साथी से कहा, "बुलाओ उस पुलिस के संतरी को, इस लड़के को अभी उसके हवाले कर दिया जाए ।"

काटो तो लहू नहीं जिस्म में । मैंने सहसा चिल्लाकर कहा, "मेरे हथकड़ी न लगवाइए । मेरी बात पूरी तरह तो सुन लीजिए, फिर जो जी में आये कीजिए ।"

उस नौजवान ने मुझे गले से लगाते हुए कहा, "घबराओ मत । तुम्हें पुलिस के हवाले करने का हमारा कोई इरादा नहीं है । बताओ तुम करते क्या हो ?"

"मैं डी० ए० वी० कालिज का सैकण्ड ईयर का स्टूडेंट हूँ ।" मैंने कहा, "मुझे इस ज़िन्दगी का कोई मकसद नज़र नहीं आता ।"

"तुम्हारे माँ-बाप ज़िंदा हैं ?"

"जी हाँ ।"

"घर से पढ़ाई का खर्च नहीं मिलता ?"

"मिलता है ।"

"तो क्या कालिज में जुर्माना हो गया है ?"

"आज तक तो मुझ पर जुर्माना नहीं हुआ ।"

"कहीं इश्क तो नहीं कर बैठे ?"

"जी नहीं।"

"इश्क का चक्कर भी नहीं तो और क्या मुसीबत आ पड़ी कि ज़िन्दगी से हाथ धोने जा रहे हो ?"

उस नौजवान के पंजे से छूटना सहज न था। मैंने कहा, "ज़िन्दगी की डोर मेरे हाथ से छूट-छूट जाती है। मैं पूछता हूँ इन्सान को क्यों पैदा किया गया ? क्या अपने बन्दों को बलाओं में फँसाकर खुदा खुश होता है ? क्या खुदा बन्दे का इम्तिहान लेना चाहता है ? ख़ुदा को इस इम्तिहान की क्या ज़रूरत है ?"

वह नौजवान अपने साथी की तरफ देखता हुआ मेरी बातें सुनता रहा। कुछ क्षणों की ख़ामोशी के बाद मैंने कहना शुरू किया, "मुझे तो दुनिया में कहीं शान्ति नज़र नहीं आती। सोचता हूँ खुदकशी करके यह खेल खत्म कर डालूं। ज़हर खा लूं, रावी में डूब मरूं, या रेल के इंजन के नीचे कट मरूँ ? इससे आगे मैं कुछ नहीं सोच सकता।"

वह देर तक मुझे समझाता रहा। ज़िन्दगी कितनी कीमती चीज़ है। इन्सान कैसे खुश रह सकता है, अपने फर्ज़ से कैसे सुबकदोश हो सकता है। इन बातों पर उसने बहुत कुछ कहा।

"मेरे सामने गहरा अँधेरा है !" मैंने जैसे गम के पोखर में डुबकी लगाते हुए कहा।

"क्यों न इसे डॉक्टर साहब के यहाँ ले चलें ?" उस नौजवान ने अपने मित्र से कहा, "डॉक्टर साहब तो इसे सही रास्ता बता सकते हैं ?"

हम ग्वालमंडी की तरफ़ घूम गये। उस नौजवान का मित्र तो ग्वालमंडी में ही रह गया। हम मैक्लोड रोड पर जा पहुँचे। चलते-चलते हम एक मकान में दाख़िल हुए। बरामदे में एक बुज़ुर्ग सूरत इन्सान कुरसी पर बैठा हुक्के के कश लगा रहा था। मेरा साथी बड़े अदब से सलाम करके एक तरफ़ बैठ गया। उस बुज़ुर्ग का इशारा पाकर मैं भी पास वाली कुरसी पर बैठ गया।

"कहो भई, क्या ख़बर है ?" बुज़ुर्ग सूरत इन्सान ने थोड़ी ख़ामोशी के बाद पूछा।

मेरे साथी ने सारा किस्सा कह सुनाया।

हुक्के की नै को परे हटाते हुए बुज़ुर्ग सूरत इन्सान ने बड़े ध्यान से मेरी तरफ़ देखा।

"क्यों भई, तुम अभी तक अपने इरादे पर कायम हो ?" बुज़ुर्ग सूरत इन्सान ने पूछ लिया।

मैं ख़ामोश रहा।

"लड़के ! मैं पूछता हूँ क्या तुम्हारा इरादा अभी तक खुदकुशी करने का

है ?" बुजुर्ग सूरत इन्सान ने फिर पूछा।

मैंने कहा, "जी हाँ, इरादा तो है।"

"हूँ-ऊँ-ऊँ-ऊँ !" बुजुर्ग सूरत इन्सान ने लम्बे स्वर में कहा :

कुरसी की पुश्त से टेक लगाते हुए उसने हुक्के के दो-तीन कश लगाकर कहा, "तुम्हारा मज़हब क्या है ?"

"मज़हब की तरफ़ से मैं बेपरवाह हूँ।" मैंने साहसपूर्वक कहा।

बुजुर्ग सूरत इन्सान ने गम्भीर होकर कहा, "भई, तुम साफ़-साफ़ नहीं बताओगे कि तुम्हारा मज़हब क्या है, तो मैं किस तरह तुम्हारी मदद कर सकता हूँ। बताओ तुम हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो, कौन हो ?"

"मेरा जन्म एक हिन्दू परिवार में हुआ था।" मैंने बेदिली से कहा।

बुजुर्ग सूरत इन्सान ने पूछा, "तो तुम तनासुख[1] के मसले पर एतकाद रखते हो ?"

"जी हाँ। एतकाद तो है।"

"बस मामला साफ़ हो गया।" बुजुर्ग सूरत इंसान ने कहना शुरू किया, "अगर तुम खुदकुशी कर लो तो तनासुख के मसले के मुताबिक मरने के बाद तुम्हारी तीन हालतें हो सकती हैं···"

यहाँ वह रुक गया। मैंने सोचा कि यह आदमी अवश्य कोई बहुत पहुँचा हुआ इंसान है और उसके चरणों में यों बैठकर जीवन और मृत्यु का गहन रहस्य प्राप्त करना मेरे लिए गर्व की वस्तु है।

बुजुर्ग सूरत इंसान ने फिर कहना शुरू किया, "एक तो यह कि आयन्दा ज़िन्दगी मौजूदा ज़िन्दगी से बेहतर हो, दूसरी यह कि आयन्दा ज़िन्दगी मौजूदा ज़िन्दगी जैसी हो, तीसरी यह कि आयन्दा ज़िन्दगी मौजूदा से भी बदतर हो।"

मैं ध्यान से सुन रहा था। हुक्के के कश लगाते हुए बुजुर्ग सूरत इंसान ने फिर कहना शुरू किया, "तीन में से दो इमकान तुम्हारे ख़िलाफ़ और एक इमकान तुम्हारे हक में है। तो ज़ाहिर है कि बेहतर ज़िन्दगी पाने की एक तिहाई उम्मीद ही रह जाती है···और फिर खुदकुशी करने की तकलीफ़ ! नहीं भई नहीं ! यह सौदा तो सौ फ़ी सदी महँगा है।"

मैं सुनता रहा।

"मैं तो ऐसा खसारे का सौदा करने पर कभी तैयार नहीं हो सकता।" बुजुर्ग सूरत इंसान ने हँसकर कहा।

बुजुर्ग सूरत इंसान इसके बाद पन्द्रह-बीस मिनट तक मुझे ज़िन्दगी की कद्रो-कीमत समझाता रहा। मैं ख़ामोश बैठा सुनता रहा।

---

१. पुनर्जन्म।

हम इजाज़त लेकर उठे। कोठी के अहाते से बाहर आकर मैंने उस नौजवान से पूछा, "आप कौन बुज़ुर्ग थे ?"

"आप हैं हिन्दुस्तान के मशहूर शायर डॉक्टर इक़बाल।" मेरे साथी ने ज़ोर देकर कहा।

मैक्लोड रोड से चलकर ग्वालमंडी पहुँचे, तो मैंने कहा, "अच्छा तो इजाज़त।"

"तुम्हें शान्ति मिल गई ?" उसने अपनी तसल्ली करनी चाही।

"मैं बच गया !" मैंने उसका आभार मानते हुए कहा, "बहुत-बहुत शुक्रिया !"

"मैं कोई मदारी होता", वह हँसकर बोला, "तो मैं कहता—खेल खत्म, पैसा हज़म ! नहीं नहीं, मैं यह नहीं कह सकता। मैं तो ज़िन्दगी का मदारी हूँ और ज़िन्दगी का खेल कभी खत्म नहीं होता। नहीं नहीं, मैं हरगिज़ मौत का मदारी नहीं हूँ। ज़िन्दाबाद डॉक्टर इकबाल ! चलो, उन्होंने आपकी तसल्ली करा दी। वही बात मैं भी कह सकता था, लेकिन मेरी कही हुई बात का तुम पर इतना असर न होता !"

गुरुकुल की रजत जयन्ती

यदि मैं सचमुच ज़हर की पुड़िया फाँक लेता, या रेल के इंजिन के नीचे कट मरता तो यह असम्भव नहीं था कि मुझे फिर भी शान्ति न मिलती, क्योंकि ग़ालिब के कथनानुसार—'अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जायँगे, मरके भी चैन न पाया तो किधर जायँगे !"

डॉक्टर इक़बाल से यों एकाएक भेंट होने की भी खूब रही। वह नौजवान फिर कहीं नज़र न आया। उसका चेहरा कई बार मेरी आँखों में घूम जाता और मैं उससे मिलने के लिए लालायित हो उठता। एक-दो बार मैंने ग्वालमण्डी जाकर उसे ढूँढने की कोशिश की, लेकिन वह कहीं नज़र न आया।

गुरुकुल काँगड़ी की रजतजयन्ती समीप थी। इस अवसर पर महात्मा गाँधी भी वहाँ आने वाले थे। मैंने सोचा कि एक साथ दो लाभ उठाए जायँ : गंगा-दर्शन और गाँधीजी से भेंट।

मैंने प्रेमनाथ से कुछ रुपये उधार लिये और हरिद्वार होता हुआ गुरुकुल काँगड़ी जा पहुँचा।

गुरुकुल की रजतजयन्ती से कहीं अधिक मुझे गंगा का दृश्य प्रिय लगा। यात्रियों की भीड़ के सम्मुख गंगा अबाध गति से वह रही थी। मैंने मन-ही-मन यह सोचकर हँस दिया कि यदि मैंने आत्महत्या कर ली होती तो गंगा कहाँ देखने को मिलती। गंगा का सन्देश तो जिन्दगी का सन्देश था। एक लहर के साथ दूसरी लहर, फिर तीसरी, फिर चौथी, फिर पाँचवीं, फिर और, फिर और—ठीक इसी तरह तो ज़िन्दगी आगे बढ़ती आई थी। रास्ते के पत्थरों और चट्टानों से जूझती गंगा आगे बढ़ रही थी।

कभी मुझे गुरुकुल काँगड़ी के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द की याद आने लगती, जिनके दर्शन मैं लाहौर में आर्य समाज के उत्सव पर गुरुदत्त भवन में कर चुका था। किस प्रकार वे पिछले वर्ष दिल्ली में रोग-शैया पर पड़े-पड़े उन्हें एक धर्मान्ध की गोली का निशाना बनना पड़ा था, यह सोचकर मेरे दिल पर चोट लगी।

एक बार पिताजी ने बताया था कि मुझे पढ़ने के लिए गुरुकुल काँगड़ी में

भेजने वाले थे; जब मैं अभी गोद का बच्चा था, गुरुकुल के उत्सव पर माँ भी पिताजी के साथ आई थी और उसकी सलाह से पिताजी ने यह फैसला किया था। लेकिन जब मुझे सचमुच गुरुकुल भेजने का समय आया तो पिताजी के मन से यह बात उतर गई थी! भेजते-भेजते विलम्ब हुआ और फिर यही सोच लिया गया कि अब तो मेरी उम्र अधिक हो गई।

मैंने गाँधीजी को निकट से देखा। लेकिन यह साहस मुझमें कहाँ था कि उनसे वार्तालाप करता। उनका भाषण सुना, जिसमें उन्होंने गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली की बहुत प्रशंसा की।

गाँधीजी ने भाषण के अन्त में गुरुकुल की सहायता के लिए चन्दे की अपील की तो स्त्रियों ने दिल खोलकर दान दिया। किसी ने एक कान की सोने की बाली दी, किसी ने एक हाथ की सोने की चूड़ी। किसी ने गले की सोने की एक माला, किसी ने एक हाथ की अँगूठी। चन्दे की झोलियाँ लिये हुए स्वयंसेवक श्रोताओं के बीच घूम रहे थे। गाँधीजी ने दोबारा भाषण देना शुरू कर दिया। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द की प्रशंसा करते हुए बताया कि आज से पच्चीस वर्ष पूर्व गुरुकुल बनाने का विस्तार उनके मन में उठा, वे यहाँ आये—महात्मा मुंशीराम के रूप में, क्योंकि उन दिनों वे वानप्रस्थी थे, बाद में संन्यास लेकर स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में प्रसिद्ध हुए। गाँधीजी ने दोबारा चन्दे की अपील की। स्त्रियों पर गाँधीजी की अपील का बहुत प्रभाव पड़ा। जिसने एक कान की बाली उतारकर दी थी, उसने दूसरी बाली उतारकर दे दी। जिसने एक हाथ की चूड़ी दी थी, उसने दूसरे हाथ की चूड़ी दे दी।

इस यात्रा के सम्बन्ध में मैंने पिताजी को सूचना नहीं दी थी। इसलिए मैं इधर-उधर घूमते डरता था कि कहीं माँ जी और पिताजी न आये हुए हों।

एक दिन एक संन्यासी से भेंट हुई जो गंगोत्री जा रहा था। "चलो तुम्हें भी गंगोत्री दिखा लायें।" संन्यासी ने सुझाव रखा, लेकिन मैं उसके साथ जाने के लिए राज़ी न हुआ।

"मेरी गंगोत्री तो लाहौर है, स्वामीजी!" मैंने हँसकर कहा।

"वह कैसे?"

"पिताजी ने बड़ी मुश्किल से लाहौर के डी० ए० वी० कॉलिज में पढ़ने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञा लिये बिना ही, और वह भी एक सहपाठी से उधार लेकर गुरुकुल की रजत जयन्ती देखने चला आया।"

"तो तुम आनन्दपूर्वक लाहौर जाओ।" संन्यासी ने मुझे आशीर्वाद दिया, "एक दिन ऐसा भी आयेगा जब लाहौर तुम्हें पीछे नहीं खींच सकेगा।"

संन्यासी का आशीर्वाद मुझे बड़ा विचित्र लगा। क्योंकि अभी तो लाहौर में मेरे हिसाब से शिक्षा के साढ़े चार साल बाकी थे।

स्वदेश और कान्ता

गुरुकुल काँगड़ी से लौटते समय हरिद्वार में स्वदेशकुमार और कान्ता से मेरा परिचय हुआ। उनका विवाह हुए बहुत दिन नहीं हुए थे और विवाह के बाद यह उनकी पहली यात्रा थी।

कान्ता हँसकर बोली, "मैं तो बचपन से ही जम्मू को छूकर बहने वाली तवी से खेलने वाली लड़की हूँ।"

"और मैं हूँ व्यास-पुत्र !" स्वदेशकुमार ने चुटकी ली।

मुझे भी अपने गाँव के पास से बहनेवाली सतलुज की पुरानी शाखा 'बुड्ढे दरिया' का ध्यान आ गया जिसने रास्ता बदल लिया था और जिसके पाट में अब खेती होने लगी थी।

"नदी, पर्वत और वन के साथ मनुष्य का पुराना प्रेम है, कान्ताजी !" मैंने बढ़ावा दिया।

"मैं तो घर से बाहर बहुत कम निकली हूँ !" कान्ता चहचहाई।

"अब तुम जितना चाहो घूमो !" स्वदेश ने चुटकी ली, "मैं तुम्हें शौक से घुमाऊँगा।"

"हमें भी साथ रखिए !" मैंने शह दी।

"ज़रूर, ज़रूर !" पति-पत्नी ने एक स्वर होकर कहा।

पति-पत्नी के व्यवहार में अधिक सुरुचि आती गई। हरिद्वार के एक होटल में खाना खाकर हम घूमने निकले। हरिद्वार के बाज़ार हमें अच्छे न लगे। बहुत भीड़ थी। बाहर से हज़ारों यात्री आ चुके थे और हर गाड़ी से सैकड़ों यात्री अभी और आ रहे थे, क्योंकि कुम्भ समीप था।

"लोग अभी आ रहे हैं !" कान्ता ने अपनी हरी साड़ी का अंचल सँभालते हुए कहा "और हमें आज रात को ही यहाँ से चल देना होगा।"

"तो श्रीमती जी, हम रुक जाते हैं।" स्वदेश ने ज़ोर देकर कहा, "हम तो आपके संकेत पर नाचेंगे।"

"यह तो मैं जानती हूँ।"

कान्ता हरे रंग की गुड़िया मालूम हो रही थी। हरी साड़ी, हरा ब्लाउज़,

हरे सैंडल, माथे पर हरी बिन्दी। स्वदेश ने हरे रंग से नीले रंग को भिड़ा रखा था। लेकिन सफेद कमीज़-पाजामे पर नीला कोट देखकर यह कहना कठिन था कि उसे रंग मिलाकर कपड़े पहनने का शौक है।

मैं खादी के सफ़ेद पाजामे पर खादी का खाकी कुरता पहने हुए था। सिर से नंगा रहना मुझे पसन्द नहीं था। चप्पल नई थी। चलते समय मुझे कई बार ख़्याल आया कि क्यों न लाहौर जाकर मैं भी यही वेश-भूषा रखा करूँ।

गंगा के किनारे टहलते हुए हम दूर निकल गये। लहरों की आवाज़ में किसी रागिनी के स्वर घुले हुए थे।

गंगा की कल-कल ध्वनि में बड़ा उत्साह था, जैसे गंगा हमारी खुशी में थिरक उठी हो।

"क्यों न हम कल तक रुक जायँ।" कान्ता ने चुटकी ली।

"कल तक कैसे रुक सकते हैं?" स्वदेश ने मेरी ओर देखते हुए कहा, "मुझे इनके साथ किया हुआ वायदा याद है।"

"और अगर मैं इन्हें भी रुकने के लिए राजी कर लूँ?"

"कर देखिये।"

मैं खामोश रहा। मेरा मन भी तो गंगा की कल-कल ध्वनि में मग्न था। देर तक मैं विभोर मन से गंगा की ओर टकटकी बाँधे रहा।

गंगा से लौटकर हम सीधे होटल पहुँचे वहाँ रात बिताकर सुबह स्टेशन का ताँगा लिया।

गाड़ी के डिब्बे में कम्बल बिछाकर बिस्तर लगा लिया। गाड़ी चली तो अपने पास बुलाकर कांता ने लड़कों की ओर इशारा किया। उसने कहा कि लड़कों को चिढ़ाने की आदत उसमें आज भी कायम है। उसने अपने समय के उन लड़कों के नाम गिनाये जिन्हें वह बुद्धू समझती थी। आँखमिचौली उसे बेहद पसन्द थी। इस खेल के लिए वह आज भी राज़ी हो सकती थी।

मैंने कहा, "देखिए कान्ताजी, कुछ लोग बड़े होकर भी बचपन में ही जीते हैं। मैं उन्हें बहुत सौभाग्यशाली समझता हूँ।"

कान्ता मुस्कराई।

"इस हिसाब से तो मैं भी उन्हीं सौभाग्यशाली लोगों में से हूँ।" उसने जैसे मैना की तरह चहककर कहा।

स्वदेश ने लेटने के लिए जगह बना ली थी। वह लेटते ही निद्राधारा में बह गया। कान्ता की आँखों में नींद नहीं थी। मुझे लगा जैसे नानी की किसी कहानी की कोई राजकुमारी सौ साल की नींद से जागकर मेरे सामने बैठ गई है।

कान्ता ने मुझे अपनी माँ के बारे में अनेक बातें सुना डालीं। मैंने कहा, "देखिए, कान्ताजी! माँ का प्रेम न मिले तो इन्सान की बहुत-सी कोमल भावनाएँ

पनप ही नहीं सकतीं। हमारे प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य ने एक बार टैगोर सर्कल में टैगोर के 'चित्रा' पर भाषण देते हुए बताया था कि किस तरह मणिपुर की राजकुमारी 'चित्रांगदा' अर्जुन के मन पर अधिकार जमाने का यत्न करते हुए कहती है कि वह बड़ी आस्था से अपने पति की सेवा करेगी और अपनी कोख से जन्मे हुए एक और अर्जुन को एक दिन अपने पति के सामने खड़ा कर देगी। अब देखिए चित्रांगदा के उन शब्दों में माँ का प्यार कितनी ऊँची आवाज़ में बोल उठा था।"

कान्ता खिड़की से बाहर देख रही थी, जैसे बाहर के साथ अन्तर का स्वर मिला रही हो।

स्वदेश सो रहा था। कान्ता का एकाएक खामोश हो जाना मुझे अच्छा न लगा। मुझे लगा कि इसमें भी नारी का दम्भ छिपा हुआ है। यह तो ठीक नहीं कि वह जब तक चाहे पुरुष को ग्रामोफ़ोन के रेकार्ड की तरह बजने दे और जब चाहे खुद ख़ामोश होकर रेकार्ड को भी ठप कर दे। कान्ता के मन में उस समय क्या विचार उठ रहे थे, यदि मेरे पास इसका पता लगा सकने का कोई उपाय होता तो शायद मुझे उसकी खामोशी इतनी न अखरती।

इस यात्रा में फिर दोबारा कान्ताजी से कोई बात न हो सकी। सहारनपुर में गाड़ी बदलने के बाद वह ऐसी सोई कि फिर जागने का नाम न लिया।

स्वदेश इधर-उधर की बातों से मेरा मन रिझाने का यत्न करता रहा। मुझे उसकी बातों में ज़रा रस नहीं आ रहा था। आश्चर्य तो यह था कि हरिद्वार में गंगा के किनारे टहलते हुए मुझे उसकी बातों में बहुत रस आया था।

"इन्सान की बातों में सबसे अधिक प्रभाव वातावरण का ही रहता है।" स्वदेश ने मेरा ध्यान खींचते हुए कहा, "सबसे बड़ी बात यह नहीं होती कि इन्सान क्या कहता है, बल्कि यह कि कहाँ बैठकर, किस आबहवा में, प्रकृति के कितना निकट होकर वह किसी सचाई से पर्दा उठाता है।"

स्वदेश ने अपनी डायरी में मेरा पता लिख लिया और मुझे भी अपना लाहौर का पता लिखा दिया। यह केवल शिष्टाचार नहीं है, इसका मुझे विश्वास था।

लाहौर रेलवे स्टेशन पर उतरकर हमने ताँगा लिया। कान्ता के होंठ जैसे किसी ने सी रखे हों। मुझे गुरुदत्त भवन के सामने उतारकर स्वदेश ने हँसकर कहा, "यह हमारा सफ़र भी खूब रहा।"

कान्ता खामोश बैठी रही। न वह कुछ बोली, न वह मुस्कराई। उसके अभिवादन में मैंने हाथ उठाये तो न जाने किस तरह मशीन की तरह उसके हाथ ऊपर उठ गये। मैंने मन-ही-मन कहा --ओ हरे रंग की गुड़िया, अपने इस हमसफ़र को भुला मत देना!

दीपचन्द और वज़ीर ख़ान

एक दिन प्रेमनाथ ने वज़ीर ख़ान तक यह ख़बर पहुँचा दी कि एक नया ब्याहा जोड़ा मुझे कई बार अपने घर बुलाकर चाय पिला चुका है; उसने उसे यह भी बता दिया कि दुलहन मटक चिड़िया किस्म की औरत है और चिड़ियाघर देखने का उसे बेहद शौक है।

वज़ीर ख़ान से मैं हफ़्ता-दस दिन से एक बार भी नहीं मिल सका था। एक दिन मुझे उसकी चिट्ठी मिली : "ख़ो हमसे नाराज़ तो होना चाहिए था प्रेमनाथ को, लेकिन वह तो कई बार मिल चुका है। तुमने शक्ल ही नहीं दिखाई। आज प्रेमनाथ ने बताया कि कोई हरी साड़ी वाली दुलहन और उसका बेवकूफ़-सा दूल्हा तुम्हें पकड़कर चिड़ियाघर ले गये। ख़ो चिड़ियाघर बुरी जगह नहीं। लेकिन कभी हमारे साथ चलिए तो मज़े से बातें हों। इन जानवरों की मिज़ाजपुरसी की जाय, उनकी हा-ओ-हू का मतलब समझा जाय। ख़ो चिड़ियाघर के जानवर हमारी तरह किसी तावीज़ की तलाश में नहीं भटकते, न उन्हें हमारी तरह इम्तिहान में बैठना पड़ता है। ख़ो हरी साड़ी वाली दुलहन का क्या नाम है? क्या उसे शायरी से दिलचस्पी है। इक़बाल और टैगोर के नाम तो उसने ज़रूर सुन रखे होंगे। उस दुलहन की सूरत कुछ काम की भी है या नहीं? किसी कैलण्डर पर छपी हुई नाज़नीन-सी तो नहीं है यह मटक चिड़िया? ख़ो सुनते हैं जन्नत में हूरें मिलती हैं। उन हूरों को भी शायद हरे रंग का लिबास पसन्द हो। ख़ो ज़िन्दा लोगों को हूरें कहाँ मिलेंगी? हम कहते हैं हूर न मिले, हूर का गीत ही मिल जाय। कोई ऐसा गीत जिसे हम सब मिलकर गा सकें। कोई रब्त-ज़ब्त का गीत जिसे गाते हुए हमें किसी ग़म की याद भी न सताये।"

इस चिट्ठी में वज़ीर ख़ान का मानसिक चित्र देखने को मिला। मैंने यह चिट्ठी प्रेमनाथ को दिखाई तो वह बोला, "वज़ीर ख़ान की शिकायत बजा है। आज उससे मिला जाय, नहीं तो अगले रविवार तक इन्तज़ार करना पड़ेगा।"

उसी समय गुरुदत्त भवन का हमारा मित्र दीपचन्द आकर हमें अपने कमरे में ले गया। उसके कमरे में तीन-चार चित्र शीशे में जड़ाकर लगाये हुए थे। एक चित्र तो अजन्ता की साँवली राजकुमारी का था। एक चित्र काँगड़ा कलम का

बहुत बढ़िया नमूना था जिसमें किसी रूपवती राजकुमारी को स्नान करते दिखाया गया था; चौकी पर बैठी राजकुमारी न जाने किन विचारों में खोई जा रही थी। तीसरा शायद किसी रागिनी का चित्र था। एक और चित्र था जिसमें किसी नर्तकी का दीप नृत्य पेश किया गया था।

प्रेमनाथ ने इन चित्रों की ओर संकेत करते हुए कहा, "क्या खूब चित्र हैं—औरत ही औरत। औरत के बिना जैसे चित्र बन ही न सकता हो। ये चित्र जैसे सिर्फ़ औरत की वजह से ही दिल को इतना खींचते हों।"

मैंने हँसकर कहा, "कला में औरत के प्रवेश पर पाबन्दी तो नहीं लगाई जा सकती। औरत इतनी बुरी चीज़ भी तो नहीं है।"

"यह बात तो नहीं है," दीपचन्द ने ज़ोर देकर कहा, "अब मेरे उस पीतल के गमले में लगे हुए पौधे को देखिए, मुझे इससे भी कुछ कम प्यार नहीं है। इस पौधे का अपना रंग है। हर रंग का दमामा बजता है, हर रंग अपनी आपबीती सुनाता है।"

"इन चार मित्रों में से एक में भी तो मरद की सूरत नहीं दिखाई गई," प्रेमनाथ ने चुटकी ली, "बेचारा मर्द इस मामले में कितना अभागा है।"

दीपचन्द ने कहा, "अजी गपशप के लिए क्या आज यही मौजूद रह गया?"

"क्यों न आज दरिया को गीत के कूज़े में बन्द किया जाय, प्रेमनाथ!" मैंने बढ़ावा दिया।

दीपचन्द बोला, "अभी गीत का प्रसंग न छेड़िए। वह जो रागिनी की तसवीर है न, ऐसी तसवीरें हमारे चाचाजी के पास बेशुमार पड़ी हैं।"

"बेशुमार कैसे होंगी?" प्रेमनाथ ने कहा, "रागिनियाँ तो छत्तीस ही होती हैं और ज़्यादा-से-ज़्यादा छत्तीस ही तसवीरें होंगी।"

"तो छत्तीस ही होंगी।"

"छत्तीस नहीं पैंतीस, क्योंकि एक तो तुम उठा लाये।"

"ख़ैर छोड़िए। मैं पूछता हूँ उन चित्रकारों की समझ-बूझ कितनी कमाल की थी जिन्होंने रागिनियों के चित्र बनाये।"

पुराने चित्रकारों ने राग-रागिनियों के चित्र बनाये थे। अब नये चित्रकार देहाती रागों के चित्र बना दें तो हमारे देवेन्द्र और वज़ीर खान खुश हो जायँ।"

"मैंने कहा, "देहाती रागों के चित्र क्यों नहीं बनाये जा सकते? चित्रकार में समझ-बूझ हो तो वह जरूर यह काम कर सकता है।"

"अब कहो, दीपचन्द!" प्रेमनाथ ने चुटकी ली, "यह हमारा देवेन्द्र तो चाहता है कि सुहाग, घोड़ी, बारामासा, ढोला और माहिया, और न जाने किस-किस देहाती राग के चित्र बनाये जायँ।"

इस पर प्रेमनाथ और दीपचन्द ने ज़ोर का कहकहा लगाया और मैं भी उनका

साथ दिये बिना न रह सका।

मैंने कहा, "आप लोग मेरा जितना भी मजाक उड़ाएँ मुझे मंज़ूर है। यह भी तो लाहौर की कॉलिज लाइफ़ का मज़ा है।"

"इसी लाहौर के निवासी छज्जू भगत ने कहा था," दीपचन्द ने ज़ोर देकर कहा, "कि जो मज़ा छज्जू के चौबारे में है वह बलख और बुखारे में भी नहीं है।"

"और हम यही बात गुरुदत्त भवन के बारे में कह सकते हैं।" मैंने चुटकी ली।

दीपचन्द ने कहा, "यह सब लाहौर का जादू है। गुरुदत्त भवन की सबसे बड़ी खूबी यही है कि यह रावी रोड पर है। पढ़ाई खत्म होते ही लाहौर छूट जायगा। फिर हमें उम्र भर लाहौर की याद आया करेगी और लाहौर के चेहरे पर गुरुदत्त भवन का चेहरा उभरता नज़र आया करेगा।"

प्रेमनाथ बोला, "अभी से लाहौर छोड़ने का ख़याल क्यों आ रहा है, जनाब? अभी तो हम सैकण्ट ईयर में ही हैं।"

दीपचन्द हँस दिया। मेरी निगाह उसके चेहरे पर जम गई। जब भी वह हँसता था उसके गालों में हलके-हलके गड्ढे-से पड़ते थे जो मुझे बहुत भले लगते थे। दीपचन्द को भी मेरी तरह टैगोर सर्कल से बहुत दिलचस्पी थी। कभी-कभी वह बहुत ग़मग़ीन नज़र आने लगता था। जैसे कई-कई दिन के लिए उस पर ग़म का दौरा पड़ गया हो। उन दिनों वह कालिज से लौटकर मुँह छिपाये पड़ा रहता और अकसर यह शेर गुनगुनाकर निराशा का प्रदर्शन करता: 'हम भी तुम्हें दिखाएँ कि मजनूँ ने क्या किया, फ़ुर्सत कशाकशे ग़मे पिनहाँ[1] से गर मिले!' मेरे लाख पूछने पर भी वह कभी राज की बात ज़बान पर न लाता। उसे घर से खर्च मिलने की कोई तंगी न थी। बड़े ठाठ से रहता था, बल्कि दोस्तों पर खर्च करने में भी उसे बेहद खुशी होती। लेकिन जिन दिनों उस पर ग़म का दौरा पड़ता, मुझे लगता कि दिया बुझने ही वाला है।

उस दिन दीपचन्द बहुत खुश था, जैसे उसने अगले-पिछले ग़म को दूर भगा दिया हो।

प्रेमनाथ को कहीं जाना था, वह चला गया। वह तो मुझे भी खींच रहा था, लेकिन दीपचन्द ने मुझे रोक लिया। इधर-उधर की बातें शुरू हो गईं।

मैंने कहा, "दुनिया में दो ही तरह के इन्सान सबसे ज्यादा खुश रह सकते हैं, एक बादशाह दूसरे फ़क़ीर।"

"यह तो दुरुस्त है।" दीपचन्द ने मेरा समर्थन किया।

मैंने कहा, "मैं सोचता हूँ कि लाहौर के कॉलिजों में पढ़नेवाले लड़के-लड़कियों की हालत चिड़ियाघर के बन्दरों से अच्छी नहीं है। हमारी खुशियाँ भी

---

१. छिपे हुए ग़म की कशाकश।

क़ैद हैं ।"

"इसमें क्या शुबा है ?" दीपचन्द ने मेरा समर्थन किया ।

"तुम्हारा इरादा दुनिया में क्या बनने का है, दीपचन्द ?"

"अभी से इसका कैसे फैसला किया जाय ?"

"तो तुम्हारी खुशियाँ ही कैद नहीं, इरादे भी कैद हैं ।"

"मैं तो अभी यह फ़ैसला नहीं कर सका कि मैं क्या चाहता हूँ ।"

"तुम फ़क़ीर बनना चाहते हो या बादशाह ?"

"अरे भई, तुम भी तो बादशाह बनना चाहते होगे, समझ लीजिए, मैं भी उसी रास्ते का मुसाफिर हूँ । मेरा तो ख़्याल है कि कॉलिज में पढ़नेवाला हर लड़का अफ़सर बनने के सपने देखता है ।"

"मैं तो इतने दिन से यही सोचता रहा कि तुम लीडर भी बनना चाहते हो ।"

दीपचन्द ने क़हक़हा लगाया जैसे मैंने उसकी दुखती रग पर हाथ रख दिया हो । उसने बात का रुख पलटते हुए कहा, 'अभी से कुछ भी कहना मुश्किल है । मैं खुद भी नहीं जानता कि मैं क्या बनना चाहता हूँ । यह तो ठीक है कि मैं मुल्क के लिए जेल जाने से डरता नहीं हूँ ।"

"जेल जाने से न डरने में कौन-सी बहादुरी है । यह कहो कि मुल्क के लिए फाँसी पर लटक जाने से भी नहीं डरते ।"

"यही समझ लीजिए । मैं सोचता हूँ हमारे कन्धों पर मुल्क को आज़ाद कराने की जिम्मेवारी ही सबसे बड़ी जिम्मेवारी है । लेकिन मुल्क का प्यार आजकल के नौजवानों में बहुत कम नज़र आता है। कांग्रेस भी दबी-दबी-सी, घिसटती-घिसटती-सी चल रही है ।"

"तो क्या तुम रैवूलूशनरी किस्म के लोगों को पसन्द करते हो ।"

"प्रेमनाथ तो इसी ख़्याल का मालूम होता है । खैर छोड़िए । मैं कहता हूँ हमें अपने मुल्क की आज़ादी के लिए कोई कसर उठा नहीं रखनी चाहिए ।"

"लेकिन अंग्रेज़ ने तो हमारे मुल्क पर ऐसा काबू पा रखा है कि हमारी आजादी में अभी बहुत देर लगेगी ।"

"लारेंस के स्टेच्यू के पास से गुजरते हुए मेरा तो सिर शरम से झुक जाता है। उस वक़्त मैं सोचता हूँ कि माल रोड पर खरामाँ-खरामाँ चले जा रहे इन्सान क्यों इतने बेशरम वाकिया हुए हैं । मैं पूछता हूँ कि क्या किसी और मुल्क के लोग इतनी जिल्लत बरदाश्त कर सकते हैं कि उनके इतने बड़े शहर की इतनी बड़ी सड़क पर एक अंग्रेज़ का स्टेच्यू खड़ा किया गया हो जिसके एक हाथ में तलवार हो और एक हाथ में क़लम और जो बड़े जोश से सिर उठाकर खड़ा दिखाया गया हो । मैं तो सोचता हूँ कि जब तक लाहौर की माल रोड पर लारेंस का यह स्टेच्यू मौजूद है और उसके पैडेस्टल पर ये शब्द खुदे हुए हैं—'तुम तलवार

से हुकूमत कराना चाहते हो या कलम से?' हम डूब क्यों नहीं मरते? माल रोड पर गुजरने वाले लोगों में से कितसे लोग हैं जिन्हें हमारे मुल्क की गुलामी की इस निशानी से नफ़रत है?"

"हमारे मुल्क के सबसे बड़े लीडर महात्मा गांधी ने भी तो लारेंस के स्टेच्यू के खिलाफ़ आवाज़ नहीं उठाई।"

"महात्माजी ज़रूर यह आवाज उठायेंगे एक दिन, इसका मुझे यकीन है। लेकिन सवाल यह है कि क्या हम मुल्क की खातिर जान देने के लिए तैयार हैं।"

"मुल्क के लिए तो कई तरह के काम किये जा सकते हैं। सिर्फ़ जेल जाने वाला या फाँसी के तख़्ते पर चढ़नेवाला रास्ता ही तो नहीं रह गया। प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य कह रहे थे कि मुल्क के लिए डाक्टर टैगोर का काम भी कम नहीं है, शान्ति-निकेतन की स्थापना करके साहित्य, चित्रकला, नृत्य और संगीत के उद्धार के लिए वे देश की बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं।"

"ये सब पीछे की चीज़ें हैं। आगे की चीज़ तो मुल्क की आज़ादी है। इसके लिए तो महात्मा गांधी की कोशिशें मुल्क के इतिहास में सुनहरी हरूफ़ में लिखी जायँगी।"

"मेरा तो ख़्याल है कि सब काम साथ-साथ किये जा सकते हैं। हम सब लोग अपने मुल्क के लिए कुछ-न-कुछ ज़रूर करें। जिस तरह भी हो सके मुल्क को ऊपर उठायें।"

इसके जवाब में दीपचन्द ने कुछ न कहा। उसने होस्टल के एक नौकर को भेजकर चाय मँगवाई, साथ में थोड़ा नमकीन लाने को कहा।

मुझे लगा कि बोलते-बोलते वह कुछ कमज़ोरी-सी महसूस कर रहा है और चाय का कप पीकर ताज़ा-दम हो जायगा।

लेकिन जब चाय की ट्रे आई तो उसमें इतनी हिम्मत भी न थी कि उठकर चाय के कप तैयार करे। मैंने चाय का कप तिपाई पर उसके सामने रखा तो वह आरामकुरसी से टेक लगाये मरियल की तरह बैठा रहा। मेरे दो-तीन बार कहने पर उसने किसी तरह चाय का कप उठाकर मुँह से लगाया। नमकीन को उसने मुँह तक न लगाया।

मुझे लगा कि उस पर ग़म का दौरा पड़ गया और अब वह कई दिन तक ग़म में घुलता रहेगा।

मैं वहाँ से उठने की सोच रहा था कि इतने में किसी ने दरवाज़े पर दस्तक दी।

अगले ही क्षण वजीर खान ने अन्दर आकर कहा, "खो हम तुम्हें छोड़ने वाला नहीं। तुम्हारा वाला कमरा में पहुँचा तो कोई बोला तुम इधरवाला कमरा में बैठा ग़पशप कर रहा है।"

मैंने दीपचन्द से वज़ीर ख़ान का परिचय कराया और नौकर को आवाज़ देकर चाय लाने को कहा।

"ख़ो दीपचन्द से भी मुलाकात हो गया। प्रेमनाथ की तरह हम दीपचन्द को भी अपने कबीले का आदमी बनायगा।"

दीपचन्द उसी तरह ग़मग़ीन-सा बैठा रहा। मैं डर गया कि कहीं वज़ीर खान दीपचन्द को भी अपनी बाँहों में उठाकर चक्कर देना न शुरू कर दे। इसलिए मैंने वज़ीर खान को सम्बोधित करते हुए कहा, "दीपचन्द मेरे लिए छुट्टियों में काँगड़ा और कुल्लू के गीत लिखकर लायेगा।"

"ख़ो दीपचन्द, ठीक बात है?" वज़ीर खान ने कुरसी पर झूमते हुए कहा।

"दीपचन्द की तबीयत आज अच्छी नहीं," मैंने बात का रुख पलटते हुए कहा।

"ख़ो क्या बात है? हम तुम लोगों को सरकस में ले जायगा।"

"दीपचन्द तो शायद सरकस में नहीं जा सकेगा।"

"ख़ो दीपचन्द का तबीयत इतना अलील है? ख़ो हम पठान पेशावर में तो दीपचन्द के लिए दुम्बा भी हलाल कर सकता था, इस साले लाहौर के खर्च ने तो पठान को फ़क़ीर बना डाला। सरकस का टिकट भी मुश्किल से लेगा पठान। लेकिन यह तो तय है कि पठान ही अपने दोस्तों को सरकस दिखायेगा।"

दीपचन्द के चेहरे पर ग़म की तह और भी गहरी हो गई। मैंने कहा, "ख़ो वज़ीर ख़ान, हम चलते हैं सरकस में। दीपचन्द को हम आराम करने के लिए छोड़ देते हैं।"

"लेकिन चलने से पहले दीपचन्द के कमरे में तस्वीरें तो लो।"

वज़ीर ख़ान ने उठकर एक-एक चित्र को ध्यान से देखा। फिर वह हँसकर बोला, "ख़ो ये तसवीरें किसने बनाई? ख़ो मुसव्वरी में हमारा दिलचस्पी नहीं है। ख़ो हम पठान तो लड़ने पठान है।"

"मुल्क की आज़ादी के लिए लड़ो, तो हम भी दाद दें।"

"ख़ो तुम सरकस में नहीं चलोगे, दीपचन्द?"

"मुझे सरकस एकदम नापसन्द है," दीपचन्द ने व्यंग्य-सा कसते हुए कहा, "हमारा मुल्क भी तो एक सरकस है। सरकस वाले के हाथ में जैसे हण्टर रहता है, वैसे ही हमारे हाकिम अंग्रेज़ बहादुर के हाथ में हण्टर रहता है हमें नचाने के लिए।"

"ख़ो ठीक है, ठीक है!" कहते हुए वज़ीर ख़ान ने दीपचन्द से हाथ मिलाया और मुझे धकेलते हुए सड़क पर ले गया और ताँगेवाले को आवाज़ देकर कहा, "ताँगा। ख़ो सरकस में जायगा?"

स्टीफन की चाय

गरमी की छुट्टियाँ सिर पर आ पहुँचीं । तीन महीने के लिए लाहौर से विदा लेने का ख़्याल काँटे की तरह चुभने लगा । लेकिन छुट्टियों में भी लाहौर में रहने का कोई बहाना न हो सकता था । लाहौर को छोड़ने का मतलब था अनारकली को छोड़ना, रावी को छोड़ना, पंजाब पब्लिक लाइब्रेरी को छोड़ना, अजायबघर और चिड़ियाघर को छोड़ना ।

एक दिन मैं स्वदेश और कान्ता के साथ अजायबघर देखने गया । कान्ता एक-एक चीज़ को बड़े ध्यान से देख रही थी ।

"मैं लाहौर म्यूज़ियम पर एक लेख लिखना चाहती हूँ !" उसने ज़ोर देकर कहा, "विलायत में जाकर जर्नलिज़्म सीखना तो शायद नसीब न हो, क्यों न यहीं कुछ किया जाय !"

मैंने कहा, "और बहुत से कामों की तरह जर्नलिज़्म भी करत-विद्या है और सच तो यह है कि कोई काम किये बिना तो हो ही नहीं सकता । हमारे कॉलिज के टैगोर सर्कल में भाषण देते हुए प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य कई बार यह बात ज़ोर देकर कह चुके हैं ।"

"सारी बात तो हालात के रास आने की है ।" स्वदेश ने अपना अनुभव बघारते हुए कहा, "वैसे कहने को तो बहुत-सी बातें कह दी जाती हैं ।"

म्यूज़ियम से निकलकर स्वदेश ने कहा, "हमारे साथ स्टीफन में चलिए !"

"मुझे तो अब गुरुदत्त भवन लौट जाने दीजिए !" मैंने छुट्टी लेने की कोशिश की ।

"आप नहीं चलेंगे तो हम भी स्टीफ़न नहीं जाएँगे ।" स्वदेश ने हँसकर कहा, "चाय का मज़ा तो तब है कि चाय के कप से तूफ़ान उठे और इसके लिए कोई दोस्त तो साथ होना ही चाहिए ।"

स्टीफन में चाय के मेज़ पर जो बातें हुईं उसमें वज़ीर खान के साथ देखे हुए सरकस की बात मैंने ख़ूब नमक-मिर्च लगाकर सुना दी । फिर टैगोर सर्कल की बात उभरकर सामने आ गई । मैंने कहा, "मुझे छुट्टियों की कोई ख़ुशी महसूस नहीं होती । गाँव में टैगोर सर्कल की गोष्ठियों का मज़ा तो न होगा ।"

"इसका मतलब है कि सरकस और टैगोर सर्कल के सिवा तुम्हें लाहौर में कुछ नज़र ही नहीं आता।" कान्ता ने चुटकी ली, "यहाँ अजायबघर और चिड़ियाघर, शालामार, जहाँगीर का मक़बरा, नूरजहाँ का मक़बरा और लारेंस बाग़ भी तो हैं, रावी भी तो है, और हम भी तो हैं।"

"गाँव में जाकर आप लोगों के बिना मेरा तो दिल ही नहीं लगेगा!" मैंने चाय का घूँट भरते हुए कहा।

"अब यह तो आप हमारा मन रखने के लिए कह रहे हैं," कान्ता ने चुटकी ली।

मैंने कहा, "आप लोगों की याद आया करेगी तो ज़ुबान पर शायर का यह शेर आ जायगा करेगा—"तुम मेरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा नहीं होता' !"

"अजी हमारा भी तो यही हाल होगा।" कान्ता ने फिर चुटकी ली।

स्वदेश अमीर बाप का बेटा था और कान्ता अमीर ससुर की कुलवधू। उनकी बातों के पीछे वह कमाई थी जिसमें उनके पसीने का कुछ भी हिस्सा नहीं था। बात-बात में वे सैर-सपाटे की, टी पार्टियों की और फ़ैशनेबुल लिबास की चर्चा ले बैठते। उस समय मुझे अपने परिवार का ध्यान आ जाता जिसकी हालत बहुत अच्छी नहीं थी!" कान्ता ने हँसकर कहा।

"जर्नलिज़म सीखने की लालसा को मैं दबाकर नहीं रख सकती थी।"

"इसका तो यह मतलब है," स्वदेश कह उठा, "कि मैं भी अपना पासपोर्ट बनवा लूँ। ख़्वाह-म-ख़्वाह आठ-दस हजार की चपत लग जाएगी। पिताजी हमें खुशी-खुशी विलायत भेजने को तैयार हो सकते हैं। उनके सामने रुपये का उतना सवाल नहीं है जितना यह सवाल कि हम उनकी आँखों से ओझल हो जाएँगे।"

"कुछ भी हो," कान्ता बोली, "अब एक ट्रिप तो हम लगा ही आयें।"

"तो कब तक लौटेंगे आप लोग?" मैंने पूछ लिया, "क्या हमारी गरमी की छुट्टियाँ खत्म होने तक आप लौट आयेंगे?"

"तुम भी बस चिड़िया के गोले हो!" कान्ता ने कहकहा लगाया। और फिर उसने होटल के बैरे को पुकारकर कहा, "बुआय, इनके लिए फिर से चाय लाओ गरम-गरम। इनका दिमाग़ ज़रा सुस्त पड़ रहा है!"

टैगोर सर्कल

प्रोफ़ेसर भट्टाचार्य ने टैगोर सर्कल की गोष्ठी में भाषण देते हुए बताया : "टैगोर का साहित्य समझने के लिए हमें टैगोर की 'माई रेमनिसेन्सस' पढ़नी चाहिए। यह पुस्तक पहले बंगला में लिखी गई थी, इसका बंगला नाम है 'जीवन स्मृति।' इस पुस्तक में टैगोर ने बताया है, 'कैलास मुखर्जी, मेरे बचपन के दिनों में, बड़ी तेज़ी से एक लम्बी तुकबन्दी सुनाकर मेरा मनोरंजन करने लगता था। मैं स्वयं उस लोककविता का प्रधान नायक होता था; और उस भावी नायिका के संशयहीन समागम की आशा बड़े उज्ज्वल रूप में अंकित होती थी। जो भुवन-मोहिनी बधू भाग्य की गोद को आलोकित करती हुई विराजमान थी, कविता सुनते-सुनते मन उसका चित्र देखने के लिए उत्सुक हो उठता। सिर से पैरों तक उसके जिन कीमती गहनों की फहरिस्त दी गई थी और मिलनोत्सव के समारोह का जैसा वर्णन सुनने में आया था, उससे बड़े-बड़े होशियार और अनुभवी पुरुषों का मन भी चंचल हो सकता था, लेकिन बालक का मन उन्मत्त हो उठता था और उसकी आँखों के सामने जो रंग-रंग के चित्र नज़र आने लगते थे, उसका मूल कारण था जल्दी-जल्दी कहे गये अण्ड-बण्ड शब्दों की शोभा और छन्द का हिंडोला। बचपन के साहित्य-रसोपभोग की ये दो स्मृतियाँ अब भी मेरे मन में जाग रही हैं। और एक स्मृति है—'वृष्टि पड़े टापुर टुपर नदेय एलो बान, शिव ठाकुरेर बिये होलो तीन कन्या दान'[1] की! जैसे यही बचपन का घेघदूत हो? इससे आप लोग समझ गये होंगे कि टैगोर का बचपन पल्ली संगीत[2] सुनने के साथ शुरू हुआ था।"

मैंने उठकर कहा, "प्रोफ़ेसर साहब, माफ़ कीजिए! मेरा बचपन भी हू-ब-हू इसी तरह शुरू हुआ था। हम मेंह के लिए भगवान् से प्रार्थना करते हुए गाया करते थे—'कालीयाँ हट्टाँ काले रोड़, मींह पा रब्बा ज़ोरो ज़ोर।"[3]

---

१. झमझम मेंह बरसता है, नदियों में बाढ़ आ गई। शिव ठाकुर का ब्याह हो गया, तीन कन्याएँ दान में दी गईं।

२. लोक-संगीत।

३. काली ईंटें, काले कंकर; हे भगवान, जोर का मेंह बरसाओ।

प्रेमनाथ ने उठकर कहा, "लेकिन तुम्हारे इस पंजाबी गीत में न शिव ठाकुर के ब्याह की बात है, न उसके लिए विवाह-मण्डप में तीन कन्याएँ दान करने की बात।"

टैगोर सर्कल का वातावरण क़हक़हों से गूँज उठा। लेकिन प्रोफेसर भट्टाचार्य ने फिर से वातावरण में गम्भीरता लाते हुए कहा, "वैसे तो हम सबका बचपन किसी-न-किसी गीत के बोल के साथ आरम्भ हुआ होगा। अब ज़रा ध्यान से टैगोर की जीवन-स्मृति में ये पंक्तियाँ सुनिए—'मेरे पिता का नौकर किशोरी चटर्जी किसी ज़माने में पांचाली[1] दल का गायक था। पहाड़ पर रहते समय वह मुझसे अकसर कहा करता था, जो कहीं तुम उन दिनों मिल जाते, भैया जी, तो मेरा पांचाली दल खूब जमता। सुनते ही मैं इस बात के लिए उत्सुक हो उठता—काश! मैं पांचाली दल में शामिल होकर देश-देशान्तर में गीत गाता फिरूँ। किशोरी से मैंने बहुत से पांचाली गीत सीख लिये थे—ओ रे भाई, जानकी को वन में पहुँचा दो, सुन्दर लगता लाल जवा, लो नाम श्रीकान्त नरकान्तकारी का नितान्त कृतान्त भयान्त होगा भव-भव में! इत्यादि। इन गीतों से हमारी सभा जैसी जम जाती थी वैसी सूर्य के अग्नि-उच्छ्वास या शनि की चन्द्रमयता की आलोचना से नहीं जमती थी।' ये टैगोर के अपने शब्द हैं। जैसे टैगोर ने बंगाल के पांचाली गीतों से बहुत कुछ सीखा, वैसे ही आप लोग भी अपनी भाषा के लोक-संगीत से बहुत कुछ सीख सकते हैं।"

मैंने उठकर कहा, "टैगोर की 'जीवन-स्मृति' से हमें कुछ और भी सुनाइए, प्रोफ़ेसर साहब!"

"तो सुनिए," प्रोफेसर साहब बोले, "टैगोर ने लिखा है—'बचपन से अपने ही परिवार में हम गीत-चर्चा में ही पनपे और बड़े हुए हैं। मेरे लिए यह सुविधा थी कि सहज भाव से ही मेरी प्रकृति में गीत का प्रवेश हो गया था!' फिर एक जगह टैगोर ने लिखा है—'बचपन में एक गीत सुना था—तोमाय विदेशिनी साजिये के दिले?'[2] उस गीत के इस पद ने मन में ऐसा सुन्दर चित्र अंकित कर दिया था कि आज भी वह गीत मेरे मन में गूँजने लगता है। एक दिन उस गीत के इस पद के मोह में आकर मैं भी एक गीत लिखने बैठ गया। स्वर के साथ स्वर की गूँज मिलाकर लिखा था—आमि चिनि गो चिनि तोमारे, ओगो विदे-शिनी![3] इसके साथ अगर स्वर न होता तो मैं नहीं कह सकता कि यह गीत कैसा

१. पांचाली गायकों के दल बंगाल में संगीत के पाँच अंगों के लिए लोकप्रिय हैं—१. गाना, २. वाद्य-यन्त्र बजाना, ३. गीत रचना, ४. गीतों के मुकाबिले में भाग लेना, ५. नाचना।

२. ओ विदेशिनी, तुम्हें किसने सजा दिया?

३. मैं पहचानता हूँ, पहचानता हूँ तुम्हें, ओ विदेशिनी!

बन पड़ता। लेकिन स्वर के उस मंत्र में गुण से विदेशिनी की एक अपूर्व और सुन्दर मूर्ति जाग उठी और मेरा मन कहने लगा कि हमारी इस दुनिया में कोई विदेशिनी आया-जाया करती है, कौन जाने किस रहस्य-सागर के उस पार घाट के किनारे उसका घर है, उसी को शरद के प्रभात में, माधवी रात में, क्षण-क्षण में देखा करता हूँ. हृदय के भीतर भी कभी-कभी उसका रूप देखा है, आकाश में कान लगाकर कभी-कभी उसका कण्ठ-स्वर भी सुन पाया हूँ। मेरे गीत के स्वर ने मुझे उस विश्वमोहिनी विदेशिनी के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया, और मैंने कहा :

भुवन भ्रमिया शेषे,
एसेछि तोमारि देशे,
आमि अतिथि तोमारि द्वारे, ओगो विदेशिनी !"[1]

'इसके बहुत दिन बाद एक दिन बोलपुर की सड़क से कोई गाता हुआ जा रहा था :

खाँचार माझे अचिन पाखि कम्ने आसे जाय
धरते पारले मनोबेड़ि दितेम पाखिर पाय[2]

'देखा कि बाउल[3] का गीत भी वही बात कह रहा है। बीच-बीच में बन्द पिंजड़े में आकर बिन-पहचाना पक्षी अपरिचित की बात सुना जाता है। मन उसे चिरन्तन बनाकर पकड़ लेना चाहता लेकिन पकड़ नहीं सकता। इस बिना पहचाने पक्षी के आने-जाने की खबर गीत के स्वर के सिवा कौन दे सकता है?' टैगोर ने यहाँ स्पष्ट शब्दों में बताया है कि लोक-संगीत किस प्रकार उनकी काव्य-साधना में सहायक हुआ।"

प्रोफेसर भट्टाचार्य 'जीवन-स्मृति' के पन्ने पलट रहे थे ताकि अच्छी-सी पंक्तियाँ निकालकर हमें उनका मतलब समझाएँ। इतने में दीपचन्द ने उठकर कहा, "प्रोफेसर साहब, यह गीत-फीत की बात छोड़िए, कोई और मजेदार बात सुनाइए। आखिर टैगोर ने उपन्यास, कहानियाँ, नाटक और आलोचनात्मक निबन्ध भी तो लिखे हैं। उन सबकी ओर क्या उनकी 'जीवन-स्मृति' में कोई संकेत नहीं मिलता?"

प्रोफेसर साहब बोले, "अच्छा तो वही लीजिए। लेकिन एक क्षण के लिए रुकिए।"

प्रोफेसर साहब देर तक पुस्तक के पन्ने पलटते रहे। फिर एक जगह वे रुक-

---

१. दुनिया में घूम-घूमकर अन्त में मैं तुम्हारे देश में आया हूँ। मैं तुम्हारे द्वार पर अतिथि हूँ, ओ विदेशिनी !

२. पिंजड़े में बिन-पहचाना पक्षी कैसे आता-जाता है। मैं उसे पकड़ सकता तो पक्षी के पैरों में मन की बेड़ी पहना देता।

३. बंगाल में एकतारे पर गाते हुए गाँव-गाँव घूमने वाले वैरागी।

करवे बोले, "लीजिए, ये मजेदार पंक्तियाँ सुनिए। टैगोर ने कलकत्ते के अपने जोड़ा-साँको वाले घर के सामने वाली सड़क के प्रसंग में लिखा है --'मैं बरामदे में खड़ा रहता । रास्ते में कुली-मज़दूर जो भी कोई आता-जाता उसकी चाल-ढाल, गठा हुआ शरीर और चेहरा सभी मुझे बहुत आश्चर्यजनक प्रतीत होता, सभी मानो सागर के ऊपर से लहरों की लीला के समान बहे जा रहे हों। बचपन से ही मैं केवल आँखों से देखने का ही अभ्यस्त हो गया था। आज से मानो अपनी समूची चेतनता के साथ देखना शुरू कर दिया। रास्ते से जब एक युवक दूसरे के कन्धे पर हाथ रखे हँसते-हँसते बड़े ही सहज भाव से चला जा रहा होता तो मैं उसे कोई मामूली घटना न समझता, उसमें मानो मैं यही देखा करता कि सारे विश्व की गहराई को छूने वाली गम्भीरता में कभी समाप्त न होने वाले रस का आनन्द मानो चतुर्दिक् हँसी का झरना प्रवाहित करता चला जा रहा हो।' हाँ तो दीपचन्द, ये पंक्तियाँ तुम्हें कैसी लगीं ?"

दीपचन्द बोला, "ये पंक्तियाँ तो बहुत मज़ेदार हैं, प्रोफेसर साहब !"

"मज़ेदार से तुम्हारा क्या भाव है ?"

मैंने उठकर कहा, "प्रोफेसर साहब, मैं बताऊँ ?"

"अच्छा तुम बताओ ।"

मैंने कहा, "टैगोर ने इन पंक्तियों में बताया है कि हम आँखें खोलकर दुनिया को देखें, जो-कुछ देखें, उससे सबक सीखें । अगर हमारी आँखें बन्द नहीं हैं और दिमाग़ भी काम कर रहा है, तो कुलियों और मज़दूरों के चेहरे-मोहरे पर भी हम उसी ज़िन्दगी की छाप देख सकते हैं जिसे देखने और समझने के लिए यह सारा बखेड़ा चल रहा है। स्कूल और कालिज में भी तो हम यही सब कला सीखने आते हैं ।"

प्रोफेसर साहब मेरी तरफ बढ़े और उन्होंने मेरी पीठ पर थपकी देते हुए कहा, "तुम ठीक समझ गये ।"

चौथी मंज़िल

दयानन्द जन्म-शताब्दी में सम्मिलित हुआ था।

माई बसन्तकौर के बाग़ के साथ-साथ उसी तरह शिरीष के वृक्ष खड़े थे। उनके नीचे से गुजरते हुए मुझे महसूस होता कि ये वृक्ष मुझे पहचानते हैं। नहर के पुल के समीप वट वृक्ष भी तो मुझे पहचानता था। मैं पुल पर बैठा रहता। सूरज डूबने के साथ-साथ पुल पर से किसान उसी तरह गुजरते। गाय-बैल, भेड़-बकरियाँ और छकड़े भी पहले के समान गुजरते। उसी तरह धूल का बादल उमड़ता। इस धूल से बचने का यहाँ कोई उपाय न था।

पुल के कोनों पर छकड़ों की टक्कर लग-लग कर ईंटें कहीं-कहीं से टूट गई थीं। कहीं-कहीं सीमेंट से मरम्मत की गई थी। पुल के समीप खड़ा वट वृक्ष जैसे अपनी शाखाएँ और जटाएँ उठा-उठाकर कह रहा हो--यहाँ सब वैसा ही है, जैसा तुम छोड़ गये थे!

वट वृक्ष के तने का मैंने कई बार स्पर्श किया, कई बार इसके गिर्द अपनी बाँहें फैलाईं। हर बार मुझे महसूस हुआ कि वट वृक्ष कह रहा है—तुम नन्हे मुन्ने-से थे जब से मैं तुम्हें जानता हूँ। जब तुम यहाँ नहीं होते, तब भी मैं खूब जानता हूँ कि तुम जहाँ भी हो मेरे हो!

घर लौटते समय मैं तेज़-तेज़ डग भरता, रास्ते में घना अन्धकार होता। माई बसन्तकौर के बाग़ के साथ-साथ शिरीष के पेड़ों पर पक्षियों का आरकेस्ट्रा बज रहा होता। मेरे पैरों में थकन होती, मेरे मन पर बोझ होता—गाँव का, इसकी परम्पराओं का, इसके आचार-विचार का बोझ!

शाम से कुछ पहले ही अगले दिन मैं फिर नहर के पुल के समीप वट वृक्ष के नीचे आ बैठता। वट वृक्ष पुराना था, फिर भी यह कितना नया नज़र आता था। इसके पुराने पत्ते पतझड़ में झड़ते आये थे और नये मौसम में नये पत्ते निकलते आये थे। जैसे यह वृक्ष हमारे गाँव के नये-पुराने जीवन का प्रतीक हो।

मैं इस वट वृक्ष के मुख से अपने गाँव की कहानी सुनाने के लिए उत्सुक हो उठता। कभी इसकी टहनी तोड़कर देखता कि आज भी इससे वैसा दूध निकलता है जैसे अब तक निकलता आया था। इसके दूध की खुशबू निराली थी। इसके साथ मेरे बचपन की स्मृतियाँ जुड़ी हुई थीं। हर बार मैं वट वृक्ष के दूध को नाक के पास ले जाकर कहता--तुम मुझे कितने प्रिय हो! वट वृक्ष के नीचे बैठकर मुझे हमेशा यह महसूस होता कि मैं सुरक्षित हूँ, मुझ पर कोई मुसीबत का पहाड़ टूटने लगेगा तो यह वट वृक्ष मुझे बचा लेगा, इसकी शाखाएँ, इसकी जटाएँ मुझे अपनी बाँहों में ले लेंगी।

एक घुटन-सी

बाबाजी की वृद्धावस्था पहले से कहीं अधिक बनी हो गई थी। अपने अनुभव और विवेक का मसाला उन्होंने कभी मुझसे छिपाकर नहीं रखा था। सोचने का ढंग उनका अपना था। कोई विषय उनके लिए अछूता नहीं था। बात करते समय उनके चेहरे पर मनीषी-सदृश किसी आलोक की किरणें थिरक उठतीं। कई बार मैं सोचता कि उनके हाथ में कलम क्यों न हुई। वे लिखना जानते होते तो अपने युग की बड़ी सरस गाथा लिख सकते।

उनके समीप बैठा मैं गाँव की पुरानी बातें सुनता रहता। बार-बार सुनी हुई बातें, एकदम पुरानी, फिर भी नई-की-नई।

"इन बातों का तो कहीं अन्त नहीं है, बाबाजी !" मैं हँसकर कहता।

"मेरे मुँह से हमारा गाँव बोल रहा है, बेटा !" बाबाजी खाँसकर कहते और वे फिर से कोई पुराना प्रसंग ले बैठते जिससे बचने का कोई उपाय न था।

एक दिन बाबाजी ने पूरी तरह वह किस्सा सुनाया कि अनेक वर्ष पूर्व हमारे महाराज हमारे गाँव में पधारे थे, जब उन्होंने आज्ञा दी थी कि यहाँ से तपा रेलवे स्टेशन तक पक्की सड़क बनाई जाय। रास्ते के साथ-साथ कंकर भी डलवा दिये गये थे। बाद में महाराज ने हुक्म दिया था कि पहले रास्ते-भर ईंटों का फर्श लगाया जाय फिर उस पर कंकर बिछाया जाय। राजधानी में जाकर महाराज को हमारी गाँव की सड़क का ध्यान ही न रहा। कंकर उसी तरह पड़ा रहा। न ईंटों का फर्श लगाने के लिए इन्तज़ाम हुआ, न सड़क का काम शुरू हो सका।

मैंने कहा, "बाबाजी, हमारे गाँव के लोगों ने मिलकर कोशिश की होती तो यह सड़क कभी की बन गई होती।"

कभी मैं योगराज से कहता, "बचपन के वे दिन कितने भले थे जब हमें आक और धतूरे के फूल सबसे ज़्यादा पसन्द थे।" योगराज क़हक़हा लगाकर कहता, "तो यहाँ आक और धतूरे की अब कौन-सी कमी है ?"

आक और धतूरे के फूलों वाली बात पर तो आसासिंह भी हँस देता। नहर के किनारे चलते-चलते किनारे के वृक्षों की ओर दृष्टि उठ जाती, हम इधर-उधर की बातों में उलझ जाते।

योगराज कहता, "हमारे गाँव के सरदारों की ताकत ख़त्म होते-होते फिर से बढ़ने लगी है।" आसासिंह कहता, "अब हमारे गाँव में सरदारों की ताकत कभी नहीं बढ़ सकती। भले ही वे हमारे महाराज के बिरादरी से हैं। अब तो हमारे महाराज भी ज़ोर लगाकर देखें, एक दिन आएगा कि गाँव का एक भी किसान उन्हें बटाई का एक भी दाना नहीं देगा।" आसासिंह यह बात हमेशा कसी हुई मुट्ठी उठाकर कहता।

"हमारा गाँव तरक्की कर रहा है!" मैं कहता, "यह सोचना तो बहुत बड़ी भूल है कि वह जहाँ था वहीं खड़ा है।"

मुझे याद था कि हम गाँव के स्कूल में हिन्दुस्तान का नक्शा बनाकर उसमें रंग भरा करते थे। रंग भरने के बाद शीशे के मुलायम टुकड़े के साथ उसे घोट-घोट कर रंग को चमकाया करते थे। अब मुझे महसूस होता कि हमारा गाँव मुझसे कह रहा है—मेरे बेटे, तुम चाहो तो मेरा नक्शा भी बना सकते हो और शीशे से घोट-घोटकर मेरे नक्शे के रंग को भी चमका सकते हो!

कई बार मैं अपने घर के चौबारे की छत से देखता कि किस तरह हमारा गाँव दूर-दूर तक फैला हुआ है। छतें ही छतें। यह दृश्य मैं बचपन से देखता आया था। यह गाँव मुझे इतना प्रिय क्यों था? यहाँ मेरा जन्म हुआ। इन घरों में हमारा घर था। इन गलियों में हमारी गली थी। यहाँ स्नेह के बन्धन थे।

माँ के चेहरे पर मुझे सारे गाँव का चेहरा नज़र आने लगता। माँ जी के स्नेह का भी तो पारावार न था—ताई से 'धर्म की माँ' बनकर माँ जी ने मेरे जीवन में वात्सल्य और ममता द्वारा कितनी मधुरिमा ला दी थी।

जब से मैं गरमी की छुट्टियों में घर आया था, गाँव में मेरा मन नहीं लग रहा था। गाँव के वातावरण में मुझे एक घुटन-सी प्रतीत हो रही थी।

कई बार मैं सोचता कि माँ जी से साफ़-साफ़ कह दूँ कि मैं यहाँ से भाग जाना चाहता हूँ। लेकिन मेरे कल्पना-पट पर पिताजी का चित्र उभरने लगता। लाल-लाल आँखें। कसी हुई मुट्ठियाँ। मुँह से क्रोध की पिचकारी छूटती हुई। बचपन के दिन मेरी आँखों में फिर जाते। एक पिटते हुए बच्चे की चीख़ें मेरे दिमाग़ से टकराने लगतीं। घूँसे पर घूँसे। लात पर लात। पिटाई हो रही है। बच्चा रो रहा है। पिताजी उसे पीट रहे हैं। माँ जी बच्चे को पिताजी के हाथों से छुड़ा रही हैं। मौसी परे खड़ी चुपचाप देख रही है; माँ नज़दीक आते डरती है। माँ जी हैं कि बच्चे को छुड़ाने में कामयाब हो जाती हैं। बच्चा बिसूर रहा है। माँ जी उसे पुचकार रही हैं। यह बच्चा मैं स्वयं था। इस अनुभव से माँ जी का चेहरा मेरी कल्पना में और भी उज्ज्वल हो जाता। लेकिन मालूम होता था कि मेरे दिमाग़ में घुटन का अनुभव ज़ोर पकड़ रहा है, और ताई से 'धर्म की माँ' बनने वाली माँ जी मुझे पकड़कर नहीं रख सकेंगी।

जागरण-गान का संकेत

मैं चाहता था कि अपने गाँव के स्नेह का निर्लिप्त होकर रस लूँ। यह स्नेह मुझे अपनी सीमाओं में बाँध ले, यह मुझे हर्गिज़ स्वीकार न था। गाँव की ममता को मैं इतनी छूट नहीं दे सकता था कि वह मुझे अपने घेरे में जकड़ ले। मैं जिधर भी निकल जाता, गाँव का कोना-कोना यही कहता नज़र आता—मैं तुम्हें जानता हूँ।

एक दिन सावन के मेघ रात-भर बरसते रहे। सुबह-सुबह विद्यासागर ने मुझे जगा दिया। घर के दूसरे लोग चौबारे से नीचे चले गये थे। मौसम इतना सुहावना था कि बिस्तर से उठने को जी नहीं चाहता था।

विद्यासागर ने बिस्तर पर लेटे-लेटे कहना शुरू किया, "सुनो तुम्हें एक मज़ेदार कहानी सुनाऊँ। यह कहानी मैं खुद बुद्धराम से सुन चुका हूँ। जब वह मोगा का स्कूल छोड़कर आया तो उसे यह फैसला करने में कई दिन लग गये कि उसे दुकान कर लेनी चाहिए। वह छोटे चौक में अपने एक दोस्त की दुकान के सामने सोया करता था। उन दिनों रला लुहार के यहाँ शादी थी। बाहर से उनके यहाँ 'मेल'[1] आया हुआ था। मेल की स्त्रियाँ एक दिन रात को जुलूस बनाकर 'जागो'[2] का गीत गाती हुई निकलीं :

> सुत्तिया जोरू जगा लैं वे !
> जागो आई ए !
> चुप्प कर बीबी नी,
> मसाँ सुलाई ए !
> थापड़ के सुलाई ए,
> लोरी देके पाई ए,
> जागो आई ए !

१. 'मेल'-रिश्तेदार स्त्रियों का झुरमुट जिसमें लड़के या लड़की के ननिहाल से आई हुई स्त्रियाँ भी रहती हैं। ये स्त्रियाँ गाँव वालों से हर किस्म का मज़ाक कर सकती हैं।

२. 'जागो'-जागरण की देवी।

मधरिया जोरू जगा लै वे,
जागो आई ए !
चुप्प कर बीवी नी,
मसाँ सुलाई ए !
थापड़ के सुलाई ए,
लोरी देके पाई ए,
जागो आई ए !
लम्मिया जोरू जगा लै वे,
जागो आई ए !
चुप्प कर बीबी नी,
मसाँ सुलाई ए !
थापड़ के सुलाई ए !
लोरी दे के पाई ए ![1]

'जागो' गाती हुई ये स्त्रियाँ छोटे चौक से गुजरीं, तो उन्होंने बुद्धाराम की चारपाई उठा ली और गाते-गाते इसे थाने के सामने रख आईं । अगले दिन नौ बजे तक वह गहरी नींद में सोता रहा । थाने के किसी सिपाही ने आकर उसे जगाया तो वह आँखें मलते-मलते उठा और अपनी चारपाई थाने के सामने देखकर बहुत हैरान हुआ । सिपाही से उसे 'जागो' गाने वाली स्त्रियों की शरारत बताई तो उसे यकीन ही नहीं आ रहा था ।"

मैंने कहा, "विद्यासागर, इस समय बुद्धराम के जीवन की इस घटना को छोड़ भी दें तो एक बात तो मेरी समझ में आती है कि 'जागो' गाने वाली स्त्रियों का व्यंग्य और हास्य युग-युग से चला आया है । जैसे वे यह कहती आ रही हों—'ओ सोने वाले, यों घोड़े बेचकर मत सोते रहो !' "

बिस्तर से उठकर हम चौबारे की छत पर चले गये । दक्षिण दिशा में काले मेघ उमड़ रहे थे । यों लगता था कि देखते-ही-देखते काले पहाड़ खड़े हो गये हैं । गुरुकुल काँगड़ी के रजत जयन्ती के अवसर पर देखा हुआ हिमालय का दृश्य मेरी आँखों में घूम गया । गुरुकुल की रजत जयन्ती के अवसर पर गंगा-यात्रा का प्रसंग मैं विद्यासागर को भी सुनाना चाहता था, पर पिताजी के भय से मैं जुबान

१. ओ सोने वाले, अपनी जोरू को जगा ले । 'जागो' आ गई। चुप कर, बीवी ! बड़ी मुश्किल से तो उसे सुलाया है । थपक कर सुलाया है, लोरी देकर लिटाया है । जागो आ गई ! ओ ठिगने, अपनी जोरू को जगा ले । 'जागो' आ गई । चुप कर बीवी ! बड़ी मुश्किल से तो उसे सुलाया है । थपक कर सुलाया है, लोरी देकर लिटाया है । 'जागो' आ गई । ओ लम्बे कद वाले, अपनी जोरू को जगा लें । चुप कर बीबी, बड़ी मुश्किल से तो उसे सुलाया है, थपक कर सुलाया है । लोरी देकर लिटाया है । 'जागो' आ गई ।

न खोल सका।

'कुमारसम्भव' के आरम्भ में हिमालय का चित्रांकन मुझे विशेष रूप से प्रिय था। काले मेघ हमारे गाँव के दक्षिण-क्षितिज पर एक प्रकार से वैसा ही दृश्य प्रस्तुत कर सकते हैं, इसकी तो मुझे कल्पना भी न थी। काले पहाड़ मुझे बुला रहे थे। मुझे महसूस हुआ कि अपना गाँव छोड़कर मुझे उनकी ओर भाग जाना चाहिए··· अपने मन के विचार मैं विद्यासागर को कैसे बता सकता था ? उस समय एकाएक मेरी कल्पना में 'जागो' गाने वाली स्त्रियों का गान गूँज उठा, जैसे उनका जागरण-गान सबसे पहले मेरे लिए हो।

मुझे महसूस हुआ कि मैं नींद से तो जाग उठा, अब तो सिर्फ़ अगला क़दम उठाने की देर थी।

पण्डित घुल्लूराम

कभी-कभी बाबाजी के मुख पर मुझे एक नया तेज नज़र आता। इस तेज के पीछे उन का अनुभव था, पूरी जीवन-साधना थी। पहले की तरह अखबार की मोटी-मोटी सुरखियाँ सुनाकर ही भाग जाने की बजाय मैं जमकर अखबार सुनाने पर तुल गया था जिससे बाबाजी को पता चल सके कि उनका पौत्र अब कॉलिज में पढ़ता है, अगले साल एफ० ए० हो जाएगा, फिर दो सालों में बी० ए० और फिर अगले दो सालों में एम० ए०। मैं अखबार पढ़कर सुनाता रहता।

एक दिन बाबाजी ने खाँसते हुए कहा, "बेटा, हमारे गाँव के घुल्लूरामजी जैसा संस्कृत का विद्वान् तो दूर-दूर तक नहीं होगा। कहो तो उन्हें यहीं बुलवा लें।"

"तो यहीं बुलवा लीजिए, बाबाजी!" मैंने ज़ोर देकर कहा।

बाबाजी ने झट विद्यासागर को आदेश दिया कि वह पण्डित घुल्लूराम को बुला लाये। और वह उसी समय चला गया।

अखबार सुनाते-सुनाते मेरी आँखों में पण्डित घुल्लूराम की मुखाकृति घूम गई। पिछले साल जब मैंने उन्हें मास्टर रौनकरामजी की दुकान पर बैठे देखा था तो उनके चेहरे पर किसी प्रकार का तेज न था, उनकी आँखों में किसी तरह की गहराई न थी जिससे मैं उनकी विद्वत्ता का अनुमान लगा सकता। मैंने सोचा कि हमारे कॉलिज के पण्डित चारुदेव से तो हमारे गाँव के पण्डित घुल्लूराम का क्या मुकाबिला। घुल्लूरामजी किधर के मननशील व्यक्ति हैं। सहसा बाबाजी ने कहना शुरू किया, "सबसे आवश्यक है विद्वानों का सत्संग। इससे लम्बा रास्ता ज़रा छोटा हो जाता है और आदमी इधर-उधर भटकने से बच जाता है।"

"पर अपना रास्ता तो आदमी को खुद ही चलना होता है, बाबाजी!" मैंने हँसकर कहा, "कोई किसी के कन्धों पर बैठकर कहाँ तक रास्ता तय कर सकता है?"

"लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं कि आदमी विद्वानों का सत्संग छोड़ दे। जो अपने काम में सिद्धहस्त हो उससे मिलकर आदमी उस काम को जल्दी समझ जाता है और वह ग़लतियाँ करने से बच जाता है।"

"लेकिन ग़लतियों से बिलकुल बचने की बात भी तो गलत है । कोई विद्वान् कब तक किसी को चमचे से दूध पिला सकता है, बाबाजी !"

बाबाजी का नाक सिकुड़ गया । उन्हें मेरी बात पसन्द नहीं आई, यह मैं समझ गया । उनकी निगाह पहले से कमज़ोर हो गई थी और इन्हीं दिनों और भी मोटे शीशे वाली ऐनक मँगवाई गई थी । मोटे शीशे वाली ऐनक के नीचे उनकी आँखों में मुझे बड़े गहरे अनुभव की छाप नज़र आती थी । मैं सोचता था कि मेरे लिए उन्हें छोड़कर किसी का भी सत्संग करना आवश्यक नहीं है ।

"जो कुएँ का मेंढक है वह कभी दुनिया में नाम नहीं कमा सकता ।" बाबाजी ने ख़ामोशी को चीरते हुए कहा, "पण्डित घुल्लूराम के ये शब्द मुझे बहुत प्रिय हैं कि वही मनुष्य उन्नति कर सकता है जिसे कूपमण्डूक बने रहने से घृणा हो जाय । पण्डितजी यह भी कहते हैं बेटा, कि सत्य प्रतिपल आगे बढ़ने वाली वस्तु है और यह समझना सबसे बड़ी भूल है कि सत्य किसी एक पुस्तक में पिंजड़े के सुग्गे या जेल के कैदी की तरह रहता है ।"

"तब तो हमारे पण्डितजी बहुत योग्य विद्वान् हैं, बाबाजी !" मैंने खुशी से उछलकर कहा ।

"किसी राजसभा में ही हमारे पण्डितजी का उचित आदर हो सकता था, बेटा !" बाबाजी खाँसते हुए बोले, "हमारे गाँव के एक सरदार साहब से पण्डित-जी को अपने गुज़ारे लायक दाना-पानी मिल जाता है, उन्हें इसी पर सन्तोष है ।"

पण्डित घुल्लूराम के दर्शन करने के लिए मेरा मन उत्सुक हो उठा । मैं चाहता था कि बाबाजी मुझे उनके सम्बन्ध में और कुछ बताएँ । लेकिन वे गाव-तकिये से टेक लगाकर खामोश बैठे रहे । जैसे मेरे सम्मुख एक मूर्ति विराजमान हो—अनुभव की मूर्ति, वृद्धावस्था की मूर्ति । मुझे इस मूर्ति का आशीर्वाद प्राप्त था ।

विद्यासागर बैठक में लौटा तो उसके साथ पण्डित घुल्लूरामजी भी थे । मैंने उठकर उनका अभिवादन किया ।

"नमस्ते, लालाजी !" कहकर पण्डितजी बाबाजी की बग़ल में बैठ गये ।

बाबाजी का चेहरा खुशी से खिल गया ।

"संस्कृत तुम्हें कठिन तो प्रतीत नहीं होती !" पण्डितजी ने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा ।

"संस्कृत कठिन तो है, पण्डितजी !" मैंने उभरकर कहा, "लेकिन इसमें रस भी आने लगा है । कालिदास का 'कुमारसम्भव' तो हमारे कोर्स में है ।"

"महाकवि कालिदास की तो जितनी प्रशंसा की जाय कम है," पण्डितजी कहते चले गये, "मुझे तो कई बार स्वप्न में भी कालिदास के दर्शन हो चुके हैं । एक बार तो स्वप्न में कालिदास ने अपने मुख से कहा था— तुम मेरी काव्य-माधुरी

के रसिक हो !"

"हमारे कॉलिज के संस्कृत-अध्यापक पण्डित चारुदेव में तो इतनी क्षमता न होगी, पण्डितजी !" मैंने हँसकर कहा, "कि उन्हें कालिदास के दर्शन हो जायँ और स्वयं महाकवि कालिदास उनकी प्रशंसा करें।"

"बेटा, पण्डितजी के चरण छूकर उनसे गुरु-दीक्षा लो।" बाबाजी ने ऐनक उतारकर आँखें मलते हुए कहा।

"यहाँ आप क्या कह रहे हैं, लालाजी ?" मैं इस योग्य कहाँ हूँ कि कॉलिज में पढ़ने वाले लड़के का गुरु बन सकूँ ?"

मैंने कहा, "पण्डितजी, मुझे तो आपसे बहुत-कुछ सीखना है।"

पण्डितजी के मुख पर एक नई चमक आ गई। बोले, "कालिदास की एक सूक्ति है कि सब स्थानों पर गुण अपना आदर करा लेता है। कालिदास की रचनाओं में पग-पग पर सूक्तियाँ गुँथी हुई हैं। महाकवि कालिदास तो चिर-नवीन रहेंगे। उन्होंने स्वयं कहा है कि पुरानी होने के कारण ही कोई वस्तु ग्राह्य नहीं होती। महाकवि कालिदास की एक और सूक्ति है जिसने मेरे लिए जीवन-दर्शन का काम दिया—'पावन पथ के प्रदर्शक देवतागण स्वयं पाप-मार्ग पर नहीं चलते'।"

पण्डितजी के हाथ में उस समय 'रघुवंश' मौजूद था। पुस्तक खोलकर पण्डितजी ने सोलहवाँ सर्ग निकाला और मधुर कण्ठ से कालिदास की रचना का पाठ करने लगे।

बाबाजी बड़े आनन्द से सुनते रहे। फिर वे बोले, "पण्डितजी, संस्कृत सुनने में तो बड़ी मीठी लगती है। लेकिन हमारे पल्ले भी तो कुछ पड़ना चाहिए। समझाकर बताइए कि कालिदास ने इन श्लोकों में क्या कहा है।"

पण्डितजी ने मुस्करा कर कहा, "कल मैंने यही प्रसंग सरदार गुरुदयालसिंह जी को सुनाया तो वे चकित रह गये। बड़ी ही सुन्दर कल्पना है, लालाजी ! यह श्रीरामचन्द्रजी के पुत्र कुश की राजधानी कुशावती का प्रसंग है। कालिदास ने अति सुन्दर कल्पना प्रस्तुत करते हुए कहा है—एक दिन आधी रात के समय जब शय्या-गृह का प्रदीप टिमटिमा रहा था और हर कोई सो गया था, कुश को एक वनिता दिखाई दी जिसे उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था और जिसके वेश से प्रतीत होता था कि उसका पति प्रवास में है। कालिदास ने लिखा है कि कुश के सामने वह नारी हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। मुख का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार दर्पण में पैठ जाता है उसी प्रकार वह नारी द्वार बन्द रहने पर भी भीतर आ पहुँची, यह देखकर कुश चकित रह गये। शय्या पर आधे उठकर उन्होंने कहा—हमारे इस बन्द गृह में तुमने प्रवेश किया, परन्तु तुम्हारे मुख से यह तो प्रकट नहीं होता कि तुम योगिनी हो, क्योंकि तुम तो पाले की मारी हुई कमलिनी के सदृश

उदास प्रतीत हो रही हो। तुम कौन हो ? तुम्हारे पति का क्या नाम है ? मेरे पास किसलिए आई हो ? यह समझ सोचकर मुँह खोलना कि रघुवंशियों का मन पराई स्त्री पर नहीं रीझता। वह स्त्री बोली---जब भगवान् राम ने वैकुण्ठ की ओर प्रस्थान किया, तब जिस अयोध्या के वासियों को वे अपने साथ ले गये, उसी अनाथ अयोध्यापुरी की मैं नगरदेवी हूँ।"

"यह तो बहुत ही सुन्दर कवि कल्पना है, पण्डितजी !" बाबाजी ने खाँसते हुए गावतकिये से टेक हटाकर कहा।

"कालिदास ने आगे चलकर इस प्रसंग को और भी सरस बनाया है।" पण्डितजी कहते चले गये, "अयोध्यापुरी की नगरदेवी ने महाराज कुश के सामने अपनी पुकार इस प्रकार प्रस्तुत की --स्वामी की अनुपस्थिति में कोठे-अटारियाँ टूट जाने से मेरी निवास-नगरी अयोध्या ऐसी उदास प्रतीत होती है जैसे सूर्यास्त समय की सन्ध्या जब वायु के कारण मेघ इधर-उधर बिखर गये हों। रात को जिन राजपथों पर चमकीले बिछुओं वाली अभिसारिकाएँ चलती थीं उन्हीं पर आजकल सियारिनें घूमा करती हैं, जो चिल्लाती हैं, तो उनके मुख से चिनगारियाँ-सी निकलती हैं। नगर की जिन बावलियों का जल किसी समय जल-क्रीड़ा करती सुन्दरियों के हाथ के थपेड़ों से मृदंग के सदृश गम्भीर शब्द करता था, वही आज-कल जंगली भैंसों के सींगों की चोट खा-खाकर कान फाड़ रहा है। अड्डे टूट जाने के कारण अब वहाँ के मयूर वृक्षों पर बैठते हैं। मृदंग न बजने से उन्होंने नाचना छोड़ दिया है। अब तो वे जंगली मयूरों के समान प्रतीत होते हैं जिनके पंख वन की आग से जल गये हों। जिन सीढ़ियों पर किसी समय सुन्दरियाँ महावर लगे लाल-लाल पग रखकर चलती थीं, उन पर अब मृगों का हनन करने वाले बाघ रक्त से लथपथ लाल पग रखकर चलते हैं।"

"यह तो बहुत ही सुन्दर वर्णन है, पण्डितजी !" मैंने पुलकित होकर कहा।

"अभी और सुनो बेटा !" पण्डितजी ने इस प्रसंग को और आगे बढ़ाया, "कालिदास ने लिखा है जिन चित्रों में यह दिखाया गया था कि हाथी कमल के ताल में प्रवेश कर रहे हैं और हथिनियाँ उन्हें सूँड़ से कमल की डण्ठल तोड़कर दे रही हैं, उन चित्रित हाथियों के मस्तिष्कों को सिंहों ने वास्तविक हाथियों के मस्तक समझकर अपने तीखे नाखूनों से फाड़ डाला है। जिन बहुत से खम्भों में स्त्रियों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं, अब तो उन मूर्तियों का रंग उड़ गया है। जिन भवनों पर कभी मोती की माला के सदृश उज्ज्वल चाँदनी छिटकती थी, उन पर अब चाँदनी नहीं छिटकती। बहुत दिनों से उनकी मरम्मत न होने से चूने का रंग काला पड़ गया, उन पर कहीं-कहीं घास उग आई है। अटारियों के झरोखों से अब न तो रात को दीपकों की किरणें निकलती हैं, न दिन में सुन्दरियों का मुख दिखाई देता है, न कहीं से अगरु का धुआँ निकलता है। अब तो वे झरोखे मकड़ी के जालों से ढक गये हैं।

इस प्रकार चीत्कार करते हुए अयोध्या की नगरदेवी ने महाराज कुश से अनुरोध किया कि वे कुशावती छोड़कर अपनी वंश-परम्परा की राजधानी अयोध्यापुरी में चलकर रहें और महाराज कुश ने उसी समय वचन दिया कि वे अविलम्ब वहाँ जाकर निवास करेंगे।"

"एक बात पूछूँ, पंडितजी ?" बाबाजी गावतकिये से टेक हटाकर बोले, "जैसे अयोध्या की नगरदेवी ने कुश के पास जाकर पुकार की, वैसे हमारे राजा भद्रसेन की राजधानी भद्रपुर की नगरदेवी ने भी किसी के पास जाकर पुकार की होगी ?"

"महाराज भद्रसेन और उनकी राजधानी भद्रपुर की बात तो केवल दन्तकथा ही प्रतीत होती है, लालाजी !" पण्डितजी ने हँसकर कहा।

"यह आप कैसे कहते हैं, पण्डितजी ?" मैंने हँसकर कहा, "महाराज भद्रसेन का खज़ाना तो अभी तक हमारे गाँव के खेतों के नीचे दबा हुआ है। खैर, यह तो बताइए कि क्या महाराज कुश ने कुशावती नगरी को छोड़ दिया था ?"

"अवश्य।" पण्डितजी ने ज़ोर देकर कहा।

मेरे मन में कसूर का चित्र घूम गया जो कुशावती का आधुनिक रूप था। मेरे कल्पना-क्षितिज पर रूपलाल का चित्र भी उभरा जो कसूर का रहने वाला था।

"कालिदास ने अवश्य सारे देश की यात्रा की थी।" पण्डितजी ने कुछ क्षणों की खामोशी के बाद कहना शुरू किया, "नहीं तो वह अपने साहित्य में देश-देश की बात इतने सजीव ढंग से कैसे कह सकते थे ? 'रघुवंश' में महाराज रघु की विजय का चित्र अंकित करते समय उन्होंने उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम प्रत्येक दिशा में महाराज के राज्य-प्रसार का चित्रण यों ही तो नहीं कर दिया था। ये सब प्रदेश महाकवि कालिदास ने देख रखे होंगे। कालिदास को देश के विभिन्न प्रदेशों के उत्सवों, लोक-संस्कारों और परम्परागत जन-श्रुतियों और विश्वासों का व्यक्तिगत ज्ञान और अनुभव था, तभी तो उनकी लेखनी द्वारा देश की संस्कृति का चित्रण इतना सजीव रूप पा सका। आज के कवि तो ठहरे कूपमण्डूक। घर से तो वे निकलेंगे नहीं, बस कल्पना से ही आकाश के तारे तोड़ लाना चाहेंगे। कल्पना भी अनुभव के चित्रपट पर नाच सकती है। कवि को चाहिए कि देश-विदेश की यात्रा करे और प्रत्येक वस्तु को आँख खोलकर देखे और फिर मुक्त मन से उसका चित्रण करे।"

"यह तो आप अपने हृदय की विशालता का परिचय दे रहे हैं, पण्डितजी !" बाबाजी पण्डितजी के समीप होकर बोले, "हमारे बहुत से पण्डित लोग तो समुद्र-यात्रा को पाप मानते हैं।"

"कालिदास की प्रतिभा की सराहना करने वाला प्राणी तो कभी समुद्र-यात्रा को पाप नहीं मान सकता," पण्डितजी बोले, "मेरा तो विश्वास है कि कालिदास ने अनेक बार समुद्र-यात्रा की होगी।"

घर का शासन

प्रेमनाथ को दिया हुआ वचन मुझे याद आ गया। काश्मीर जाने का विचार मेरे मन में उसी प्रकार उठा जैसे सावन का मेघ उठता है।

पिताजी घर पर थे। मैंने उनके पास जाकर कहा, "मैं काश्मीर जाना चाहता हूँ, पिताजी !"

पिताजी बोले, "तुम पागल तो नहीं हो गये ? काश्मीर किसलिए जाना चाहते हो ?"

"काश्मीर देखने का विचार है, पिताजी !"

"यह तो कोई बात न हुई। विचार तो मनुष्य के मन में बहुत-से उठते हैं। इन्सान को चाहिए कि मन के ऊट-पटाँग विचारों पर काबू पाये।"

"श्रीनगर में मेरा एक मित्र है, पिताजी। वह लाहौर में मेरे साथ पढ़ता है। मैं श्रीनगर में उनके घर पर जाकर रह सकता हूँ। इसलिए ज्यादा खर्च तो नहीं आयगा। आज ही उसका पत्र आया है कि वह आज से सात दिन बाद जम्मू पहुँच रहा है और अगर उसी दिन मैं जम्मू पहुँच जाऊँ तो हम इकट्ठे श्रीनगर जा सकते हैं।"

"लेकिन सवाल तो यह है कि प्रेमनाथ यहाँ क्यों नहीं आ जाता ? वह तुम्हें वहाँ क्यों बुला रहा है ?"

"काश्मीर देखकर मेरी आँखें खुल जाएँगी, पिताजी। खाली कल्पना से तो मैं काश्मीर के बारे में कुछ नहीं जान सकता।"

"हम तुम्हें काश्मीर जाने की आज्ञा नहीं दे सकते।"

फिर उन्होंने माँ और माँ जी को बुलाकर कहा, "यह हमारा लड़का तो बिगड़ गया है। पढ़ाई में इसका मन नहीं लगता। अब कहता है कि वह काश्मीर जायगा।"

माँ बोली, "देव तो छुट्टियों में यहीं रहेगा।"

माँ जी ने मुझे पुचकार कर कहा, "काश्मीर में तो माँ जी के हाथ के गरम-गरम पराउँठे मिलने से रहे। पिताजी को नाराज मत करो। उनसे कह दो कि तुम उनकी आज्ञा के बिना कहीं नहीं जाओगे।"

पिताजी ने बिगड़ कर कहा, "मुझे इस नालायक से क्या आशा हो सकती है ? आज नहीं तो कल यह हमारे हाथ से निकलकर रहेगा।"

माँ जी ने मुझे बैठक में जाकर बाबाजी के पास बैठने का आदेश दिया और मैं वहाँ जा बैठा। फिर पिताजी भी वहाँ आ गये और बाबाजी से बोले, "देव को समझाइए, पिताजी ! इसके मन में उलटे-सीधे विचार उठ रहे हैं। वह ठीक होकर, छुट्टियों में यहीं रहकर नहीं पढ़ेगा, तो हम उसे लाहौर का खर्च देना बन्द कर देंगे।"

घर का शासन मुझे बहुत कठोर प्रतीत हुआ। मुझे लगा कि जो दीवारें मेंह-आँधी, गरमी और जाड़े से इन्सान की रक्षा करती हैं, वही दीवारें इन्सान पर सख़्ती से हुकूमत करती हैं। जिस घर में इन्सान रहता है, जिस घर से वह इतना प्रेम करता है, जहाँ उसे पहली बार जीवन की आकांक्षाओं और प्रेरणाओं से साक्षात्कार होता है, वहीं पर बन्दी बना पड़ा रहता है। मैं कहना चाहता था— ऐसे घर पर हज़ार लानत ! घर के ऐसे कठोर शासन पर हज़ार लानत ! भले ही माँ-बाप का प्रेम न मिले, भले ही घर की सुविधाएँ न मिलें, दर-दर की ख़ाक छानने में भी अपना मज़ा है। सड़क की दोस्ती का भी अपना अन्दाज़ है। जहाँ रात पड़ गई, वहाँ सो गये, जहाँ भोर हुई, वहाँ उठ गये ! न कोई बन्धन, न कोई आतंक ! नई आशा, नई साधना !···कल्पना-जगत् में विचरते हुए मुझे लगता कि घर पीछे छूट गया।

लेकिन घर के शासन से छुटकारा पाना बड़ा कठिन प्रतीत हो रहा था। कभी लगता कि मुझे घर ने पूरी तरह अपनी बाँहों में जकड़ लिया है और मैं चाहूँ भी तो घर मुझे छोड़ नहीं सकता।

बिना टिकट

भोर से पहले। तीन बजे का समय। खुली छत पर बिस्तर में पड़े-पड़े मेरी आँख खुल गई। मैंने आसमान पर चमकते हुए चाँद-तारों को देखा। फिर उचक कर आसपास की चारपाइयों पर सोये हुए परिवार को देखा। सभी तो सो रहे थे। मैं उठकर बैठ गया।

धीरे-धीरे पैर टेकता हुआ छत से उतर कर नीचे आँगन में चला आया। आँगन में तिरछी चाँदी छिटकी हुई थी। जैसे चाँदनी की झीनी चादर मुझे बैठक में जाने से रोक रही हो। जैसे चाँद झुककर पूछ रहा हो—आज तुम चोर की तरह दबे पैरों यहाँ क्या करने आये हो?...यह मेरा अपना घर था। ये दीवारें मुझे प्रिय रही थीं। ये दीवारें जैसे मूक भाषा में कह रही हों—तुम्हारे दिल में आज यह चोर कहाँ से घुस आया? जाओ ऊपर जाकर अपनी खटिया पर सो जाओ।

मैं साहस करके बैठक में पहुँचा जहाँ मैंने रात को ही अपनी पुस्तकों का बण्डल बाँधकर तैयार कर रहा था।

बैठक में घना अन्धकार था। मैंने डरते-डरते सीखों वाली खिड़की खोल दी। गली में छिटकी हुई चाँदनी नज़र आने लगी। यह गली मुझे बहुत प्रिय लगी। जी में आया कि पुस्तकों के बण्डल को हाथ न लगाऊँ, खिड़की बन्द कर दूँ और ऊपर जाकर सो जाऊँ। लेकिन मन में जो चोर घुस गया था, वह इतनी आसानी से कब मानने वाला था।

यह बण्डल मैंने उठा लिया। बैठक से बाहर निकलकर किवाड़ यों ही लगा दिये। गली में अँधेरा था। इस समय गली में किसी के चलने की आवाज़ सुनाई नहीं दे रही थी।

बण्डल उठाये मैं चला जा रहा था। अपनी गली से दूसरी गली में पहुँचा, दूसरी से तीसरी गली में। गलियों में होता हुआ मैं गाँव से बाहर जा पहुँचा जहाँ से रास्ता तपा रेलवे स्टेशन की तरफ चला गया था।

जब तक मैं गाँव से ज़रा दूर नहीं निकल गया, हर कदम पर मुझे यही आशंका हो रही थी कि अभी पिताजी पीछे से आकर मेरी गरदन पर हाथ रख

देंगे।

मुँह अँधेरे ही मैं काफी दूर निकल गया। पीछे मेरा गाँव था, आगे तपा रेलवे स्टेशन। बीच की कोई चीज़ मेरा ध्यान नहीं खींच सकती थी। किसी तरह तपा पहुँचकर गाड़ी में बैठ जाऊँ जो मुझे जम्मू ले जाय और वहाँ ठीक समय पर प्रेम-नाथ से जा मिलूँ, यही मेरी अभिलाषा थी।

तपे से जम्मू कैसे पहुँचूँगा, घर से चलते समय मैंने यह भी नहीं सोचा था। मैं चाहता तो पिताजी की जेब से दस-बीस रुपये तो आसानी से निकाल सकता था। मेरे मन में यह विचार आया भी था। फिर घर की गरीबी मेरे सामने आकर खड़ी हो गई थी। मैंने यह सोचकर पिताजी की जेब पर हाथ नहीं डाला था कि जब घर छोड़ना ही तय कर लिया तो फिर घर का ज़रा भी सहारा क्यों लिया जाय। अब यह समस्या सामने थी कि तपा से जम्मू के टिकट का क्या इन्तज़ाम होगा।

कई बार मैं मुड़कर पीछे देखता, जैसे राजा भद्रसेन की पुरानी राजधानी भद्र-पुर की नगरदेवी मेरा पीछा कर रही हो। मैं तो दृढ़प्रतिज्ञ था। मुझे कोई शक्ति अब पीछे नहीं ले जा सकती थी। काश्मीर का सजीव चित्र मेरे कल्पना-क्षितिज पर यों उभर रहा था जैसे आकाश पर एकाएक हंसों की पंक्ति दिखाई दे जाय, जैसे एकाएक सावन के काले मेघ दक्षिणी क्षितिज पर उभरकर काले पहाड़ों का रूप धारण कर लें।

पुस्तकों का बण्डल काफ़ी भारी था। अब इसे रास्ते में तो नहीं फेंका जा सकता था। अपनी मूर्खता पर पछता रहा था कि पैदल चलना था तो बीस-पच्चीस सेर का बण्डल साथ लाने की क्या ज़रूरत थी।

सहसा मथुरा-यात्रा की याद आई, जब राधाराम के साथ मैंने मथुरा से आगरा तक बिना टिकट सफ़र किया था। तपा नज़दीक आ रहा था। रेल के टिकट की चिन्ता बुरी तरह सताने लगी। यों लगा जैसे राजा भद्रसेन की पुरानी राजधानी की नगरदेवी मेरे मन पर थाप लगाकर कह रही हो— बिना टिकट रेल में मत बैठना। अपने वंश और गाँव का नाम मत डुबोना!

तपा पहुँचकर गाड़ी का समय पूछा, फिर पता किया कि जम्मू का तीसरे दर्जे का क्या किराया लगता है। किराया बहुत ज़्यादा तो नहीं लगता था। मैंने सोचा क्यों न स्टेशन मास्टर से-जाकर कहूँ कि वह मुझे अपनी जेब से जम्मू का टिकट ले दे। लेकिन इस फ़ैसले पर पहुँचने में काफी देर लगी। बड़ी मुश्किल से मन को मनाया।

स्टेशन मास्टर के कमरे के सामने मैं देर तक खड़ा रहा। इतना साहस न हुआ कि मैं भीतर जाकर टिकट के लिए कहूँ। आज तक मैंने किसी के आगे हाथ

नहीं फैलाया था। कुल-मर्यादा हाथ रोक रही थी।

गाड़ी आने में अब ज्यादा देर न थी। भूख ने भी ज़ोर मारा। जेब तो बिलकुल खाली है, गरम-गरम पराउँठे कहाँ से आयेंगे ? माँ जी की रसोई तो बहुत पीछे रह गई थी।

समय पर गाड़ी आई। मैं लपककर गाड़ी पर चढ़ गया—बिना टिकट !

मैं हूँ खानाबदोश

भूखा-प्यासा। घर से भागा हुआ। बिना टिकट। मैं रेल के डिब्बे में बैठा था। गाड़ी दनदनाती हुई चली जा रही थी। मेरे कल्पना-पट पर एक चित्र बन रहा था, एक चित्र मिट रहा था। अपने नये क़दम पर नये सिरे से विचार करने का तो सवाल ही नहीं उठ सकता था। अपने नये कदम पर डटा रहने का सवाल था। मिटते हुए चित्र में गाँव का पुराना चेहरा मेरी आँखों को नागवार होने लगा। वही घर, वही गलियाँ, वही लोग। असल में यहाँ हर चीज़ पुरानी थी और यदि कोई नई चीज़ सिर उठाती तो उस पर भी पुरानेपन की छाप लग जाती थी। मैं इस पुरानेपन से भाग आया था।

क्या मैं कालिदास नहीं बन सकता? यह प्रश्न मेरी कल्पना में हलके और गहरे रंग भरने लगा। कालिदास बनने के लिए तो मुझे खूब यात्रा करनी चाहिए—यह विचार मेरे मस्तिष्क के द्वार पर बार-बार दस्तक देने लगता। मैं सोचने लगा कि गाँव में तो मेरे लिए कोई प्रेरणा नहीं रह गई थी। माँ, माँ जी, मौसी—सभी मुझे कितना चाहती थीं, पर उनके प्रेम में बन्धन ही अधिक था; उनका वात्सल्य बन्दीगृह की दीवारों की तरह मेरे गिर्द बाँहें फैलाये रहता था।

इन्सान से तो जंगली कबूतर ही अच्छे हैं, मैंने सोचा, वे तो उड़ने लायक बच्चों को अपने पास बाँधकर नहीं रखते। वे तो बच्चों के पंखों में उड़ने की लालसा जगाते हुए कह उठते हैं—फुर से उड़ जाओ, बच्चो! स्वयं अपना रास्ता बनाओ। इन्सान है कि स्वयं अपना रास्ता बनाने की बात भूलकर अपने वातावरण का गुलाम बना रहता है···मैं तो इस पद्धति पर चलने के लिए तैयार नहीं हो सकता था। मैं तो जंगली कबूतर की तरह उड़कर बाहर चला आया था। मेरे अन्दर छिपा हुआ कोई खानाबदोश जाग उठा। मैं पुकार-पुकार कर कहना चाहता था—मैं एक ही गाँव में बँधकर नहीं रह सकता था, भले ही वह मेरा जन्म-ग्राम ही था! वही पिताजी, वही चाचाजी, वही बाबाजी, वही छोटा भाई—ये जाने-पहचाने चेहरे कितने उकता देने वाले चेहरे थे। वही फूल, वही नीली घोड़ी। वही माई बसन्तकौर की खण्डहर हवेली, वही नहर के पुल के समीप बाँहें फैलाये खड़ा वट वृक्ष! इनमें मेरे लिए कुछ भी तो नया नहीं था। हमारे घर के सामने

ताई गंगी पहले के समान ही अपने लड़के-लड़कियों को गालियाँ देने लगती थी। इन गालियों में भी तो घिसे-पिटे शब्द प्रयोग में लाये जाते थे। हमारे घर की ड्योढ़ी ज़रा भी तो कलात्मक न थी। चौवारा फिर भी देखने में बुरा नहीं था। लेकिन चौवारे की दीवारों में सब-की-सब नंगी ईंटें झाँक रही थीं; न इन पर चूना लगाया गया था, न सीमेंट। चौवारे की दीवारें हमारे घर की ग़रीबी का इश्तिहार देती नजर आतीं। मैं कहीं दूर भाग जाना चाहता था जहाँ हमारे चौवारे की नंगी ईंटें मुझे नज़र न आ सकें।

मैं चाहता था कि मन को पीछे की तरफ़ हटाकर आगे का चित्र देखूँ। लेकिन एकाएक मेरी कल्पना में भाभी धनदेवी और भाभी दयावन्ती के चेहरे उभरे जिनका तीखापन ढलती उमर के साथ-साथ धीमा पड़ता चला गया था। उनके व्यंग्य और मज़ाक भी अब बिलकुल तेज़ नहीं रह गए थे। उनकी बातों में जैसे मेरे लिए कोई मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण रहस्य नहीं रह गया था···फिर मुझे योगराज और आसासिंह का ध्यान आया। काश वे भी मेरी तरह इस परिणाम पर पहुँच सकते कि पुस्तकों से हमें वे बातें नहीं मिल सकतीं जो घूम-घूमकर लोगों से मिलने और उनसे बातचीत करने से हाथ आ सकती हैं। आखिर यह मामूली-सी बात उनकी समझ में क्यों नहीं आ सकती? किस तरह मैंने दिल को तसल्ली दी कि वे भी एक दिन पुस्तकों के घेरे से बाहर निकल आयेंगे।

बार-बार मेरे मन से एक ही आवाज़ आने लगती—अच्छा हुआ कि तुम गाँव की बन्द हवा से जान छुड़ाकर खुली हवाओं की तरफ़ भाग आये!

फिर मेरे कल्पना-पट पर आगे का चित्र उभरा जिसमें मैं स्वयं को दूर-दूर की यात्रा करते देख रहा था, लोगों से उनके गीतों के बारे में पूछताछ करते हुए, ज़िन्दगी को पूरी तरह बिताने और बिताने के पहले इसको पूरी गहराई में जाने का अन्दाज सीखते हुए। चलो, आगे चलो! यह पुकार मेरे रोम-रोम को छू रही थी। जैसे स्वयं महाकवि कालिदास की आत्मा पुकार-पुकार कर कह रही हो—जितनी यात्रा मैंने की थी, तुम उससे एक-चौथाई यात्रा भी कर लो तो देखो तुम्हारी लेखनी किस प्रकार तुम्हारा साथ देती है।

आगे का चित्र सहसा मेरी कल्पना से ओझल हो गया। मुझे ख्याल आया कि बचपन में मैं पिताजी के हाथों किस तरह पिटा करता था। वे तो मुझे आज भी पीट सकते थे। अच्छा हुआ कि मैं उनके क्रोध से बचकर भाग आया।

मैं तो घर से भाग आया था। अपनी आँखों से ज़िन्दगी को देखने के लिए, स्वयं अपना रास्ता बनाने के लिए। मेरा मन पुकार-पुकार कर कह रहा था—ज़िन्दगी में जो भी सत्य है, जो भी सुन्दर है, उसे मैं स्वयं तलाश करूँगा। वहाँ घर की छत्रछाया में जीवन का एक सीमित-सा चित्र ही देख सकता था। मुझे बना-बनाया और घड़घड़ाया-सा सत्य कुछ नहीं दे सकता था। मुझे तो पल-पल बद-

मैं हूँ खानाबदोश

भूखा-प्यासा। घर से भागा हुआ। बिना टिकट। मैं रेल के डिब्बे में बैठा था। गाड़ी दनदनाती हुई चली जा रही थी। मेरे कल्पना-पट पर एक चित्र बन रहा था, एक चित्र मिट रहा था। अपने नये क़दम पर नये सिरे से विचार करने का तो सवाल ही नहीं उठ सकता था। अपने नये कदम पर डटा रहने का सवाल था। मिटते हुए चित्र में गाँव का पुराना चेहरा मेरी आँखों को नागवार होने लगा। वही घर, वही गलियाँ, वही लोग। असल में यहाँ हर चीज़ पुरानी थी और यदि कोई नई चीज़ सिर उठाती तो उस पर भी पुरानेपन की छाप लग जाती थी। मैं इस पुरानेपन से भाग आया था।

क्या मैं कालिदास नहीं बन सकता? यह प्रश्न मेरी कल्पना में हलके और गहरे रंग भरने लगा। कालिदास बनने के लिए तो मुझे खूब यात्रा करनी चाहिए—यह विचार मेरे मस्तिष्क के द्वार पर बार-बार दस्तक देने लगता। मैं सोचने लगा कि गाँव में तो मेरे लिए कोई प्रेरणा नहीं रह गई थी। माँ, माँ जी, मौसी—सभी मुझे कितना चाहती थीं, पर उनके प्रेम में बन्धन ही अधिक था; उनका वात्सल्य बन्दीगृह की दीवारों की तरह मेरे गिर्द बाँहें फैलाये रहता था।

इन्सान से तो जंगली कबूतर ही अच्छे हैं, मैंने सोचा, वे तो उड़ने लायक बच्चों को अपने पास बाँधकर नहीं रखते। वे तो बच्चों के पंखों में उड़ने की लालसा जगाते हुए कह उठते हैं—फुर से उड़ जाओ, बच्चो! स्वयं अपना रास्ता बनाओ। इन्सान है कि स्वयं अपना रास्ता बनाने की बात भूलकर अपने वातावरण का गुलाम बना रहता है···मैं तो इस पद्धति पर चलने के लिए तैयार नहीं हो सकता था। मैं तो जंगली कबूतर की तरह उड़कर बाहर चला आया था। मेरे अन्दर छिपा हुआ कोई खानाबदोश जाग उठा। मैं पुकार-पुकार कर कहना चाहता था—मैं एक ही गाँव में बँधकर नहीं रख सकता था, भले ही वह मेरा जन्म-ग्राम ही था! वही पिताजी, वही चाचाजी, वही बाबाजी, वही छोटा भाई— ये जाने-पहचाने चेहरे कितने उकता देने वाले चेहरे थे। वही फूल, वही नीली घोड़ी। वही माई बसन्तकौर की खण्डहर हवेली, वही नहर के पुल के समीप बाँहें फैलाये खड़ा वट वृक्ष! इनमें मेरे लिए कुछ भी तो नया नहीं था। हमारे घर के सामने

ताई गंगी पहले के समान ही अपने लड़के-लड़कियों को गालियाँ देने लगती थी। इन गालियों में भी तो घिसे-पिटे शब्द प्रयोग में लाये जाते थे। हमारे घर की ड्योढ़ी ज़रा भी तो कलात्मक न थी। चौबारा फिर भी देखने में बुरा नहीं था। लेकिन चौबारे की दीवारों में सब-की-सब नंगी ईंटें झाँक रही थीं; न इन पर चूना लगाया गया था, न सीमेंट। चौबारे की दीवारें हमारे घर की ग़रीबी का इश्तिहार देती नजर आती। मैं कहीं दूर भाग जाना चाहता था जहाँ हमारे चौबारे की नंगी ईंटें मुझे नज़र न आ सकें।

मैं चाहता था कि मन को पीछे की तरफ़ हटाकर आगे का चित्र देखूँ। लेकिन एकाएक मेरी कल्पना में भाभी धनदेवी और भाभी दयावन्ती के चेहरे उभरे जिनका तीखापन ढलती उमर के साथ-साथ धीमा पड़ता चला गया था। उनके व्यंग्य और मज़ाक भी अब बिलकुल तेज़ नहीं रह गए थे। उनकी बातों में जैसे मेरे लिए कोई मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण रहस्य नहीं रह गया था···फिर मुझे योगराज और आसासिंह का ध्यान आया। काश वे भी मेरी तरह इस परिणाम पर पहुँच सकते कि पुस्तकों से हमें वे बातें नहीं मिल सकतीं जो घूम-घूमकर लोगों से मिलने और उनसे बातचीत करने से हाथ आ सकती हैं। आखिर यह मामूली-सी बात उनकी समझ में क्यों नहीं आ सकती? किस तरह मैंने दिल को तसल्ली दी कि वे भी एक दिन पुस्तकों के घेरे से बाहर निकल आयेंगे।

बार-बार मेरे मन से एक ही आवाज़ आने लगती—अच्छा हुआ कि तुम गाँव की बन्द हवा से जान छुड़ाकर खुली हवाओं की तरफ़ भाग आये!

फिर मेरे कल्पना-पट पर आगे का चित्र उभरा जिसमें मैं स्वयं को दूर-दूर की यात्रा करते देख रहा था, लोगों से उनके गीतों के बारे में पूछताछ करते हुए, ज़िन्दगी को पूरी तरह बिताने और बिताने के पहले इसको पूरी गहराई में जाने का अन्दाज़ सीखते हुए। चलो, आगे चलो! यह पुकार मेरे रोम-रोम को छू रही थी। जैसे स्वयं महाकवि कालिदास की आत्मा पुकार-पुकार कर कह रही हो—जितनी यात्रा मैंने की थी, तुम उससे एक-चौथाई यात्रा भी कर लो तो देखो तुम्हारी लेखनी किस प्रकार तुम्हारा साथ देती है।

आगे का चित्र सहसा मेरी कल्पना से ओझल हो गया। मुझे ख्याल आया कि बचपन में मैं पिताजी के हाथों किस तरह पिटा करता था। वे तो मुझे आज भी पीट सकते थे। अच्छा हुआ कि मैं उनके क्रोध से बचकर भाग आया।

मैं तो घर से भाग आया था। अपनी आँखों से ज़िन्दगी को देखने के लिए, स्वयं अपना रास्ता बनाने के लिए। मेरा मन पुकार-पुकार कर कह रहा था—ज़िन्दगी में जो भी सत्य है, जो भी सुन्दर है, उसे मैं स्वयं तलाश करूँगा। वहाँ घर की छत्रछाया में जीवन का एक सीमित-सा चित्र ही देख सकता था। मुझे बना-बनाया और घड़घड़ाया-सा सत्य कुछ नहीं दे सकता था। मुझे तो पल-पल बद-

लता हुआ, पल-पल नये अर्थ और नये सौन्दर्यबोध को प्राप्त करता हुआ सत्य चाहिए। उसी को ढूँढ़ने के लिए तो मैं घर से भाग आया हूँ।

अपने बड़े भाई मित्रसेन की तरह मैं भी अर्ज़ीनवीस बनना चाहता, तो मुझे कॉलिज में जाने की कोई ज़रूरत न होती। चाचा पृथ्वीचन्द्र की तरह मैं वकील भी तो नहीं बनना चाहता था, इसलिए मुझे कॉलिज में पढ़ने की क्या ज़रूरत थी? मेरे भीतर का खानाबदोश सतर्क होकर बोला—कोई चीज़ तुम्हें कैद नहीं कर सकती थी—कॉलिज भी नहीं।

गाड़ी में भीड़ थी। कोई कहीं से आ रहा था। कोई कहीं जा रहा था। मैं भी कहीं जा रहा था। कहीं भी जाने का मुझे हक़ था। मुझे कौन रोक सकता था? मेरा रास्ता मुझे बुला रहा था। यह कैसा रास्ता है? इस सवाल का जवाब मैं दे सकता था। रास्ता तो रास्ता है—मैं कह सकता था—रास्ते पर चलकर ही रास्ते का पता चलता है। मज़ा तो चलकर ही आता है। चलकर ही फल मिलता है। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहें, तो रास्ते का आशीर्वाद मिलने से रहा।

गाड़ी में पुरुष थे, स्त्रियाँ थीं, बच्चे थे, बूढ़े थे, जवान थे। सभी तो कहीं जा रहे थे, ज़िन्दगी का रस लेने जा रहे थे! और मैं भी कब ज़िन्दगी से मुँह मोड़ सकता था। मैं घर से भाग आया था, ज़िन्दगी को ज्यादा गहराई से जीने के लिए, कुछ करने के लिए, कुछ करके दिखाने के लिए।

इतने में एक गाड़ी स्टेशन पर रुकी। कुछ लोग नीचे उतरे, कुछ नये मुसाफिर अन्दर आये। मेरे जी में तो आया कि मैं भी नीचे उतर जाऊँ और पीछे घर की तरफ़ मुड़ जाऊँ। इतने में एक अन्धा फ़कीर हमारे डिब्बे में घुस आया और अजब अन्दाज़ से खंजरी पर यह गीत गाने लगा:

हिन्दू कहण एह मुल्क असाँदा, असीं मन्नीए न कोई धिंगाणा
मुस्लिम कहण एह मुल्क असाँदा, सानूँ मिलिया हुक्म शाहाना
सिक्ख कहण एह मुल्क असाँदा, सानूँ मिलिया हुक्म रब्बाना
बाँका यार फिरंगी पिया मुड़-मुड़ आखे, कोई हत्थ लावे ताँ जाणाँ।[1]

हमारे डिब्बे में इस गीत से जैसे ज़िन्दगी की नई लहर दौड़ गई। दो-तीन बार उस अन्धे फ़कीर से यही गीत गाने की फ़रमाइश की गई। उसकी मुट्ठी खूब गरम होती गई।

मैंने जेब से पाकेट बुक निकालकर झट से यह गीत पेंसिल से लिख लिया और

---

१. हिन्दू कहते हैं—यह हमारा मुल्क है, हम किसी की जबरदस्ती नहीं मान सकते। मुस्लिम कहते हैं—यह हमारा मुल्क है, हमें शाहाना हुक्म मिला है। सिक्ख कहते हैं—यह हमारा मुल्क है, हमें भगवान की तरफ से हुक्म मिला है। बाँका यार फिरंगी बार-बार कहता है—कोई इस मुल्क को हाथ लगाकर देखे तो मैं उससे सुलझ लूं।

देर तक इस गीत के बोल गुनगुनाता रहा। लेकिन पेट की भूख ज़ोर मार रही थी। कल्पना-पट के नये-पुराने चित्र अधिक सिर न उठा सके। मैंने ललचाई निगाहों से साथ वाली सीट पर एक युवक को डिब्बा खोलकर अपने सामने बिछे हुए तौलिए पर पूरियाँ और आलू की भाजी निकालते देखा।

"आप भी लेंगे?" उसने शिष्टाचारपूर्वक पूछा।

मैंने यों सिर हिलाया, जैसे मुझे बिलकुल ज़रूरत न हो—यह शालीनता वह थी जिसे मैं घर से लाया था, जिसे मैं यत्न करने पर भी पीछे गाँव में ही नहीं छोड़ सका था।

"नहीं, नहीं!" वह सूट-बूट धारी युवक बोला, "कुछ तो लीजिए!" अगले ही क्षण उसने चार-पाँच पूरियों पर आलू की भाजी रखकर अपने आतिथ्य का यह प्रतीक मेरी तरफ बढ़ाया।

पहला कौर मुँह में डालते हुए मैंने हँसकर कहा, "देखिए भाई साहब! दाने-दाने पर मोहर है!"

वह बोला, "आपकी तारीफ?"

"मैं हूँ खानाबदोश!" मैंने हँसकर कहा।

"अजी यह क्या कह रहे हैं आप?" वह बोला, "आप तो किसी शरीफ घराने के शरीफ़ लड़के मालूम हो रहे हैं।"

उस सूट-बूटधारी युवक ने पेट-पूजा करने के बाद कहा, "इस अन्धे फ़कीर का गीत तो बुरा नहीं। लेकिन मैं यही सलाह दूँगा कि अपनी पाकेट बुक में इसे मत रखिए। जमाना बहुत बुरा है। किसी सी० आई० डी० वाले की निगाह पड़ गई तो जेल की हवा खानी पड़ेगी!"

परिशिष्ट-१

आशीर्वाद

: १ :

कल्पना का वरदान[1]

आचार्य देवेन्द्र सत्यार्थी के कंठ से कुछ लोक-कविताएँ और लोकगीत सुनकर मुझे आनन्द प्राप्त हुआ। उन्होंने इन गीतों का संग्रह भारत के सभी प्रदेशों में घूम-घूमकर किया है।

यह एक बहुमूल्य कार्य है। साहित्य के अज्ञात क्षेत्र के अन्वेषण के लिए, जिसे जनता के अर्ध-चेतन मन की स्वच्छन्द रचना कहना चाहिए, सूक्ष्म चेतना की आवश्यकता होती है।

यह प्रत्यक्ष है कि आचार्य देवेन्द्र सत्यार्थी संवेदनशील कल्पना की योग्यता रखते हैं, जिसके द्वारा वे अपने कार्य को पूर्ण रूप से कर सके हैं, क्योंकि यह कार्य करते हुए उन्हें सदैव आनन्द का अनुभव हुआ है।

लोक-मानस का रचनात्मक पक्ष रहस्योद्घाटन का इच्छुक रहता है। इसके द्वारा अपरिमेय मनोरंजन सम्भव है। यह बात हमें स्पष्टतया अनुभव कराने में आचार्य सत्यार्थी हमारे सहायक हुए। मैं उनका अगाध आभार मानता हूँ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

उच्च प्रामाणिकता के लिए बधाई

उत्तरायण
शान्तिनिकेतन, बंगाल
५ दिसम्बर, १९३५

प्रिय सत्यार्थी,

'माडर्न रिव्यु' में प्रकाशित करीब-करीब तुम्हारे सभी लेख मैं पढ़ चुका हूँ। उनकी उच्च प्रामाणिकता के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ। वे ग्रामों में बसे हुए भारत की अन्तरात्मा का दिग्दर्शन करते हैं। संसार के अन्य देशों में उनका परिचय नितांत वांछनीय है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'एशिया', जो मेरी प्रिय पत्रिका है, तुम्हारे कुछ लेख प्रकाशित करने जा रही है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

---

१. 'माडर्न रिव्यु' सितम्बर १९३४

२. 'माडर्न रिव्यु' में प्रकाशित एक पत्र का हिन्दी रूपान्तर।

: २ :

लोकयान का अनुसंधान

देवेन्द्र सत्यार्थी की धुन के कारण मुझे उनके अपूर्व लोकगीत संग्रह को देखने का अवसर मिला। इसके लिए वे विभिन्न प्रान्तों की यात्रा करते रहे हैं ये गीत जनता का साहित्य हैं…

लोकयान का सम्बन्ध उन वस्तुओं से है, जो मिटती जा रही हैं, यदि यह अब तक मिट नहीं गई। जनता में जागृति आ रही है। उसने विचार से नहीं, कर्म से श्रीगणेश किया है, जैसा कि मेरे विचार में वह सदैव करती आई है।

— महात्मा गांधी

तुम्हारा बहुत काम कर दिया

भाई देवेन्द्र,

तुम्हारे खत की प्रतीक्षा कर रहा था। ठिकाना मालूम नहीं होने के कारण मैं पहले नहीं लिख सका।

गढ़वालियों के गीत मैं रस से पढ़ गया था। वैसे ही नेपाल के। मैंने इन्दौर में तुम्हारा बहुत काम कर लिया, ऐसा मेरा ख़याल है। इस बारे में एक प्रस्ताव भी था…तुम्हारे नाम की तो दरकार नहीं, काम की है। और वह काम, जहाँ तक सम्मेलन का सम्बन्ध था, हो गया। अभी भी जो कुछ हो सकेगा, वह मैं कर दूँगा। किसी समय यहाँ आ जाओगे तो आनन्द आएगा। तुम्हारे काम को ज्यादा समझ लूँगा।

जो कुछ भी लिखो, मुझे भेजते रहो।

आपका

मो० क० गांधी

मगनवाड़ी, वर्धा

२९-३-१९३५

ईश्वर आपको सफलता प्रदान करे

भाई देवेन्द्र सत्यार्थी,

ग्राम गीतों के बारे में आप जो साहस कर रहे हैं, मुझे प्रिय लगता है। ईश्वर आपको सफलता प्रदान करे।

आपका

मो० क० गांधी

वर्धा

१-७-१९३५

---

१. कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की पुस्तक 'गुजरात एण्ड इट्स लिट्रेचर', १९३५ की प्रस्तावना से।

परिशिष्ट-२

मूल्यांकन

'चाँद-सूरज के बीरन'[1]

गंगाप्रसाद मिश्र

'चाँद-सूरज के बीरन' देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्म-कथा का प्रथम भाग है। चाँद और सूरज नित्य-प्रति पृथ्वी की परिक्रमा करते-करते कभी नहीं थकते। वैसी प्रवृत्ति देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी पाई है।

प्रस्तुत पुस्तक में देवेन्द्र सत्यार्थी के बचपन से लेकर युवावस्था के पदार्पण तक का चित्र है। लेखक ने उन सभी प्रभावों को बड़ी सुन्दरता से सँवारा है, जो उनके व्यक्तित्व को बनाने में सहायक हुए हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी अपनी आत्म-कथा से स्पष्ट ही आदर्शवादी दिखाई देते हैं।

लोक-गीत सत्यार्थी को घुट्टी से ही मिल गए थे, इन्होंने उनके जीवन को बनाया, सँवारा और प्रेरणा दी है।

देवेन्द्र सत्यार्थी की गद्य-शैली बड़ी स्वाभाविक, शब्दाडम्बरहीन, पर सशक्त है। भावों को प्रकट करने की प्रचुर क्षमता उसमें है। दृश्यों का चित्रण करने में और कल्पना की ऊँची उड़ानें भरने में हमें सत्यार्थी में कवि के दर्शन होते हैं, पर उनकी काव्यात्मकता न तो उनकी शैली को बोझिल बनाती है, न गद्य-काव्य के निकट पहुँचती है, जैसा अकसर कवियों के गद्य में होता है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्म-कथा के प्रथम भाग का हिन्दी-जगत् में खूब सम्मान होगा और पाठक आगामी शेष कथा की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे, जो निश्चय ही अधिक रोचक होगी, क्योंकि उसमें सत्यार्थी के पर्यटन की कथा होगी।

१. त्रैमासिक 'आलोचना'।

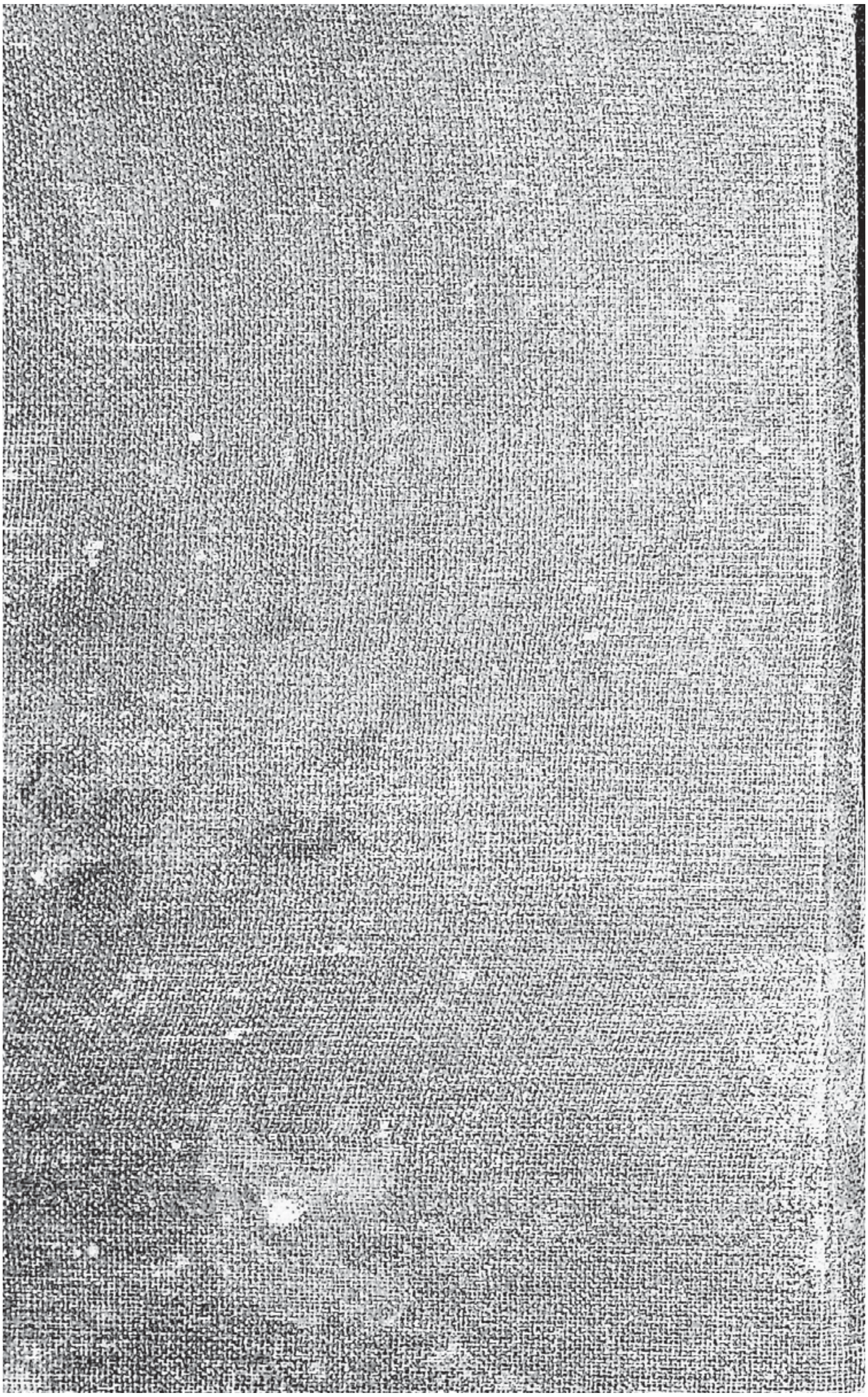

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ उपन्यासों, प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं तो हमारे विशेष टेलीग्राम चैनल से जुड़ें और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

हमारे चैनल में आपको मिलेगा :

- ★ अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)
- ★ प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)
- ★ धार्मिक ग्रंथ और किताबें
- ★ विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य
- ★ बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)
- ★ और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खज़ाने

साहित्य और ज्ञान की इस अनोखी दुनिया का हिस्सा बनने के लिए

नीचे दिए गए Link पर Click करें !

HINDI BOOKS CHANNEL

(धार्मिक, आज़ादी, इतिहास...उपन्यास से संबंधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नयी, पुरानी किताबों के लिए)

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

https://t.me/Google_Ebooks

https://t.me/English_Library_B
ooks

(ALL CHANNEL LINKS)

https://t.me/Hindilibrary